योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग
तथा
तत्त्व-कथा

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज

योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग
तथा
तत्त्व-कथा

लेखक

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशकीय

परमहंस स्वामी विशुद्धानन्दजी उच्चकोटि के योगी थे। उन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्होंने अपनी सिद्धियों के माध्यम से अध्यात्म और विज्ञान का अभूतपूर्व समन्वय स्थापित किया। विशुद्धानन्दजी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के गुरु थे। कविराज जी ही विशुद्धानन्दजी की मनीषा, अध्यात्म और सिद्धियों को समझने में सक्षम थे। प्रश्नों के रूप में कविराजजी ने योगिराज से अध्यात्म जगत के निगूढ़ रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। अनेक खण्डों में प्रश्नोत्तर हुए। इस पुस्तक में कतिपय प्रश्न और उनके उत्तर संकलित किये गए हैं।

विशुद्धानन्दजी अपने उपदेशों के अन्तर्गत जिस प्राकृतिक शक्ति या सत्ता की क्रिया या प्रतिक्रिया का विश्लेषण करते थे, आवश्यकतानुसार उसे प्रत्यक्ष करके दिखा भी देते थे। प्रथम भाग में विशुद्धानन्दजी की संक्षिप्त जीवनी के अन्तर्गत सूर्य विज्ञान तथा अन्य अलौकिक क्रियाओं का विवरण भी दिया गया है।

अध्यात्म जगत के जिज्ञासुओं के लिए यह प्रसंग तत्त्व कथा प्रेरणास्पद है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में कविराजजी के विभिन्न ग्रन्थों से सामग्री का चयन किया गया है, उनके अनुवादकों तथा प्रस्तुतकर्ताओं के प्रति विनम्र आभार निवेदन करते हैं।

—प्रकाशक

अनुक्रम

प्रथम भाग

योगिराज श्री विशुद्धानन्द चरित कथा

द्वितीय भाग

योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तत्त्व-कथा

*

भूमिका

आजकल पाश्चात्य देशों में जीवन-चरित रचना का प्रबल उत्साह देखने में आता है। धनी, ज्ञानी, गुणी, कलाविद, कर्मवीर जिन्होंने अपने जीवन में कुछ न कुछ विशेषता दिखायी है उन सब के जीवन वृत्तान्त की विवेचना होती है और इस प्रकार जीवन चरित का लिखना जातीय उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना जाता है। हमारे देश में भी वर्तमान युग में न्यूनाधिक परिमाण में यह प्रथा चल पड़ी है। और यह भी नहीं कह सकते कि प्राचीन काल में यह प्रथा बिलकुल थी ही नहीं।

किन्तु महापुरुषों का जीवन साधारण मनुष्यों के सदृश नहीं होता। उनका जीवन आदर्श-रूप होते हुए भी जगत के लिए सर्वप्रकार से अनुकरणयोग्य नहीं होता। हाँ, उनके उपदेश अवश्य पालनीय होते हैं किन्तु यदि उनका स्वयं हम अन्धानुकरण करें तो उनकी सी अवस्था कभी प्राप्त नहीं कर सकते। जिन उपायों से वे महिमा प्राप्त करते हैं, उनको जानकर लोगों का उपकार हो सकता है, यह सत्य है, परन्तु उनके गुह्य विषयों का वर्णन कर प्रकाशित करना उचित नहीं। सद्‌गुरु की शक्ति प्राप्त कर उनके आदेशानुसार कार्य करते रहने से दीर्घकाल के अध्यवसाय, निष्ठा तथा श्रद्धा के फलस्वरूप जीवन का उपादान परिवर्तित होकर अवश्य शुद्धि होती है। अस्वाभाविक अनुकरण द्वारा तो कोई फलसिद्धि नहीं हो सकती।

ऐसे महापुरुषों के जीवन-चरित कथा-कहानी की तरह लिखकर प्रकाशित करने के विषय नहीं होते। जिन्होंने ऐसी चेष्टा की है, उन्होंने अपनी धृष्टतामात्र प्रगट की है। रेनान् (Renan) ने ईसा की और बंकिमचन्द्र ने श्रीकृष्ण की जीवनी लिखने की चेष्टा की थी। परन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही असफल रहे। जिसको यथार्थ में जीवनी कहा जाय ऐसी किसी भी महापुरुष की नहीं लिखी गयी। जो लिखते हैं, वे यदि स्वयं उच्च अवस्थापन्न पुरुष नहीं हैं तो आलोच्य जीवन को आप ही ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे और उस जीवन में जो प्रतिक्षण विचित्र रहस्यों का उदय होता है उसको कदापि देख नहीं पायेंगे, तब फिर उसको दूसरों के लिए बोधगम्य बनाने की तो बात ही अलग रही। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि दिव्य चरित्र में लेखक की अपने भावानुरूप क्षुद्रता तथा मानवीयता आरोपित हो जाती है और अपनी भ्रान्तिपूर्ण विवेचना शक्ति के मापदण्ड से वह आलोच्य महाजीवन पर अप्रामाणिक विचार करने जाता है। प्रकारान्तर से वास्तविक सत्य की अवमानना कर बैठता है। मुहम्मद का जीवन चरित्र पढ़कर मुहम्मद का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। बुद्ध, शंकर, चैतन्य इन सबके संबंध

में भी यही बात है। बुद्धचरित या ललित विस्तार, शंकरविजय या शंकर विलास, चैतन्य चरितामृत या चैतन्य मंगल आदि कोई भी यथार्थ जीवन चरित नहीं है।

जीवन चरित लिखना बड़ा कठिन कार्य है। एक प्रकार से उसे असम्भव भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। यह एक संदेह की बात है कि एक मनुष्य की जीवनी दूसरा आदमी ठीक-ठीक समझ भी सके और उसको ठीक-ठीक वैसे ही लिख भी सके। अपना जीवन पूरा अपनी ही समझ में नहीं आता तो दूसरे लोग भला उसे कितना क्या समझ सकेंगे। जो जितना ही ज्ञानी है, उतना ही उसको अपना जीवन अपने आप को रहस्यमय ही मालूम होता है। जो विराट शक्ति जगत् के भीतर और बाहर अणु से लेकर महत् तक में खेल कर रही है, उसके खेल को हम अपने अहंकार और मोह के आवरण से देख नहीं पाते, वही शक्ति प्रत्येक के जीवन में खेल रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

चाहे वह हमारी समझ में न आवे परन्तु हम उसको अस्वीकार नहीं कर सकते। जैसे-जैसे अहंकार निवृत्ति होती जाती है, उस विराट शक्ति की क्रीड़ा का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और जीवन की क्षुद्र घटनाओं में भी उसकी महिमा का आभास दिखायी देने लगता है और महाशक्ति का खेल देखकर मनुष्य अपने को धन्य मानता है।

कवि ने कहा है—

"तुमि जानो क्षुद्रि जाहा—क्षुद्र ताहा नय।
सत्य जेथा किछ आछे—विश्व शेथा रय॥"

☆ ☆ ☆ ☆

"To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears."

तब उसकी दृष्टि में प्रत्येक जीवन दुर्भेद्य रहस्यपूर्ण मालूम होने लगता है और उस कारण का अनुसन्धान करने की चेष्टा एक अनन्त शक्ति की स्वाभाविक स्फूर्ति में विलीन हो जाती है। जीवन का चरम तत्त्व जहाँ रहस्यमय हो जाता है तो जीवन चरित रचना का व्यर्थ प्रयास उपहासास्पद हो जाता है और यदि सर्वव्यापी महाशक्ति का खेल नहीं देख सकते तो उस जीवन की प्रत्येक घटना तथा भाव का मूल केवल अपने अहंकार समझ बैठते हैं। वस्तुतः यह भूल है, यह बात जानने में किसी को भी देर न लगेगी। हमारी प्रत्येक परिच्छिन्न शक्ति के भीतर से एक अदृश्य महाशक्ति प्रति मुहूर्त में काम कर रही है। कभी तो उस महाशक्ति से पुष्ट होकर हमारी क्षुद्र शक्ति कोई बड़ा कार्य सम्पादन कर लेती है और कभी-कभी महाशक्ति के विरोध से क्षुद्र शक्ति अपना छोटा कार्य भी नहीं कर सकती। उस महाशक्ति का स्वरूप समझना भले ही कठिन हो तथापि चिरकाल से विचारशील मनुष्यों ने उसका बराबर अनुभव किया है।

जब साधारण मनुष्यों की प्रकृत जीवनी लिखना इतना कठिन है, तो महापुरुषों के सम्बन्ध में तो उसको असम्भव ही कहना चाहिए। जब तक अहंकार के कारण आँखें नहीं खुलतीं तभी तक जीवन चरित रचना की चेष्टा हो सकती है और होती भी जाती है किन्तु आगे फिर वह हो नहीं सकती। इसी कारण किसी महापुरुष का जीवन चरित नहीं मिलता। जो हैं वे बिल्कुल निर्जीव हैं और उनमें केवल कुछ स्थूल घटनाओं का सन्निवेश है। उनको वृत्तान्त भले ही कहें किन्तु जीवनी नहीं कह सकते।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

भवभूति का यह वर्णन अक्षरशः सत्य है। लोकोत्तर पुरुषों का चित्त वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल होता है। उसमें एक ही समय विरुद्ध गुणों का समावेश देखने में आता है। जितने विरोध हैं, उन सबके एकमात्र आधार भगवान हैं। उनके भक्त भी ऐसे ही हैं। उनके चरित्र का वर्णन करने का कौन साहस करे?

जिन महापुरुष की पुण्य-स्मृति की विवेचना करने को हम आज उद्यत हुए हैं, वे एक आदर्शचरित्र युक्त योगी हैं। उनके जैसा शुद्ध और पवित्र जीवन, कर्म, ज्ञान, भक्ति की पराकाष्ठा, ऐश्वर्य और माधुर्य का अपूर्व सम्मिलन जगत में कहीं देखने में नहीं आता। उनके पुण्य जीवन की पावन पर्यालोचना कर हम धन्य होंगे, इसी आशा से इस प्रसंग को उठाया है।

उनका जीवन-चरित्र लिखने की धृष्टता नहीं की जाती। जिनके लोकातीत जीवन के अंश मात्र को समझने से अपना जीवन सफल कर उनकी असंख्य विभूतियों के एक दो स्फुरण मात्र देखकर हम चकित हो गये हैं, जिनके स्थूल देह की महिमा हम अपने सूक्ष्मतम विचार में भी नहीं ला सकते, ऐसे महापुरुष का जीवन-चरित लिखने के लिए हम प्रवृत्त नहीं हो सकते।

अतएव यह पुस्तक उनका जीवनचरित्र नहीं है। केवल उनके जीवन की कतिपय बातें है और उनके उपदेश मात्र हैं। इसमें कोई निगूढ़ तात्पर्य नहीं है। इसको एक अविच्छिन्न सूत्र में ठीक ठीक नहीं बाँधा गया और उसके आविष्कार की भी कोई चेष्टा नहीं की गयी है। आश्रित भक्तजनों के जीवन में आश्रयदाता की कृपा, अनेक समयों में नाना प्रकार से आत्मप्रकाश कर चुकी है, उनमें से केवल दो चार का उल्लेख हृदय की कृतज्ञता के उच्छ्वास रूप से कर दिया गया है। भक्त के जीवन में भगवान की लीला कितने कितने प्रकारों से होती रहती है इसका सचमुच कौन वर्णन कर सकता है? और वह कितनी बार हुई तथा किस हद तक इसका हिसाब लगाने का किसको गम है। भगवान हैं निरपेक्ष और अकारण करुणामय किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भक्त के आकुल हृदय से उनकी करुणा की विस्मृति हो जाय। इस पुस्तक में भी इसी प्रकार स्मृति चर्चा के अतिरिक्त और

कुछ नहीं है। जिनकी यह स्मृति है उनका परिचय कराने के लिए एक संक्षिप्त चरितकथा का वर्णन आवश्यक है। इसीलिए प्रथम भाग में चरित कथा है। अगले भाग में लीला-प्रसंग और उपदेशावलियाँ दी गई हैं।

अहो भाग्य हमें उक्त अनुपम महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त हुआ, जिन्होंने जीवन में अतिकठोर साधना और अलौकिक दैवानुग्रह द्वारा अन्तर्जगत तथा बहिर्जगत के सम्पूर्ण तत्वों को प्रत्यक्ष प्राप्त करके दिखा दिया, जो तत्वातीत परमपद पर स्थित हैं, जो योग और विज्ञान के उच्च शिखर पर आरूढ़ होकर अपने अचिन्त्य विभूति बल से शास्त्र के समस्त रहस्यों को योग्य अधिकारी के सामने प्रत्यक्ष खोलकर दिखाने एवं समझाने में समर्थ पाये गये, जो आदर्श योगी, आदर्श ज्ञानी, आदर्श भक्त एवं मन्त्रार्थ के ज्ञाता, सत्य संकल्प महात्मा रूप में प्रकाशित हैं, जो परम तत्त्व के प्रदर्शक हैं, जो भगवान के अनुग्रह शक्ति की साक्षात् संचारिणी मूर्ति हैं, जो ज्ञान, इच्छा, क्रिया इस त्रिविध स्फुरणात्मक महात्रिकोण के केन्द्र बिन्दु की सामञ्जस्यमय अवस्था के अधिष्ठाता हैं, जिनके लिए देश और काल की सत्ता अलीक और कल्पित है, सौ बात की एक बात यह है कि वे प्रकृत सद्गुरु हैं श्री भगवान का स्वयं प्रकटरूप। उन्हीं की कृपा से हम उनको कुछ समझ सके हैं और उन्हीं के उद्देश्य से उन्हीं के बताये हुए जीवन के पथ पर हमलोग निरन्तर आगे बढ़ सकेंगे। जो प्राकृतिक विकारों से परिच्छिन्न व संसृष्ट नहीं हैं, जो अखण्ड चैतन्य से नित्य योगयुक्त होकर विश्व जगत के हृदय कमल में विश्वनाथ की नाई अन्तरात्म रूप से विराजमान हैं, वे ही हमारे हृदयों में चिरजाग्रत प्रकाशमान हो, यही हमारी उनके श्रीचरणों में एकमात्र निरन्तर प्रार्थना है।

काल के प्रभाव से सद्धर्म का आदर्श मलिन हो गया है। मनुष्य आज अपने ऋषि योग्य दिव्य भाव से पतित होकर जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूल गया है।

अ-सार को सार समझकर उसी की खोज में अमूल्य शक्ति और समय का व्यय कर रहा है। शास्त्र और ऋषि वाक्य पर से विश्वास उठ गया है। न वैसी सरलता है और न वैसी तपस्या ही। वह सत्य को नहीं पहचानता, इसलिए श्रद्धा और सत्यानुराग भी नहीं है। उसकी देह अशुद्ध है, मन अपवित्र है, हृदय संकीर्ण, दृष्टि क्षीण और बुद्धि जड़ है। आज का यह ऐसा मनुष्य धर्म के यथार्थ रूप को किस प्रकार देख सकता है? केवल इतना कहने से कि वह देख नहीं सकता, उसका संशय दूर नहीं होता और न विचार का मोह छूटता है। सत्य के उदार एवं माधुर्यमय रूप के आकर्षण का उसको अनुभव ही नहीं हो पाता। इसी कारण उसके विक्षिप्त चित्त की चंचलता किसी भी उपाय से दूर नहीं होती। वह अमृत के आस्वादन के लिए अमरधाम के अधीश्वर से लेकर क्षुद्रतम कीट पर्यन्त सतृष्ण भाव से चारों ओर मारा मारा घूमता फिरता है।

जिसका क्षीण आभास मिलने पर भी मुग्ध जीव क्षणभर के लिए तो अपने

को कृतकृत्य समझ लेता है, जिसको न पाने तक उसकी किसी प्रकार भी तृप्ति नहीं होती और न उसे शान्ति मिलती है, वासनाबद्ध बहिर्मुख जीव को उसी अमृतधारा का पान कराने के लिए युग-युग में कल्याणमयी जगन्माता की प्रेरणा से मर्त्य भूमि पर महापुरुष 'सद्गुरु' के रूप में अवतार लेते हैं।

से आनन्द रस-पाने, चिर प्रेम जागे प्राणे।
देह ना संसार-ताप, संसार माझारे रये॥

'सद्गुरु' के अतिरिक्त चौदह भुवनों में और कोई नहीं है जो कि इस आनन्द की प्राप्ति का उपाय जानता हो।

आज वे हमलोगों को उस परमानन्द की प्राप्ति का पता बताएँ और कामादि विषयों के विरोधी आक्रमणों से वे ही हमारा उद्धार करें।

हम जानते हैं कि इस स्मृति चर्चा का भी अधिकार हमको प्राप्त नहीं है। जैसे बिना शुचि और संयत हुए, देवालय में प्रवेश पाने और पूजा आदि करने का अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार मलिन और चंचल अन्तःकरण से पुण्यश्लोक महापुरुषों का स्मरण भी निषिद्ध है। इस बात को जानते हुए और अपनी अयोग्यता का पूरा अनुभव रखते हुए भी इस पुस्तक के लिखने में जो हम प्रवृत्त हुए हैं, उसके भी कुछ कारण हैं।

पहला कारण तो यह है कि यदि इस प्रसंग के द्वारा स्वर्गीय पवित्रता, वैराग्य और विवेक का बिन्दु मात्र भी आभास इस मलिन हृदय में हो तो उसी से हम धन्य होंगे। अग्नि जिस प्रकार अशुद्ध वस्तु की उपेक्षा व अनादर किये बिना अपने संग से उसे आत्मवत् बनाकर पवित्र कर देती है, उसी प्रकार महापुरुष की पुण्य सत्संगति का, कलुषित् चित्त पर अवश्य ही उत्तम प्रभाव पड़ता है। यह हमारा विश्वास है। श्री भगवान की करुणा पर दीन और पतित जनों का भी अपना दावा है। जब शिशु माता की गोद में आने के लिए व्याकुल भाव से हाथ बढ़ाता है एवं पवित्र अथवा अपवित्र होने का भाव उसके मन में नहीं आता तो माता भी बिना संकोच के उसको अपनी गोद में ले लेती है।

माँ के अंक की यही अपूर्व महिमा है कि उसके पवित्र स्पर्श से ही सारी मलिनता आप ही दूर हो जाती है। दूसरे, हम योग्यतर पुरुष को यह महत्कार्य करने के लिए आह्वान करते हैं। जो स्वभाव से सत्य और ज्ञान के पिपासु हैं, वे तो अवश्य ही इस क्षेत्र में अवतीर्ण होंगे। यदि उनको सचेत करने में हमारा यह कर्कश नाद कुछ भी साधक होगा, तब तो हमारा परिश्रम इतने से ही सार्थक होगा।

गोपीनाथ कविराज

योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द
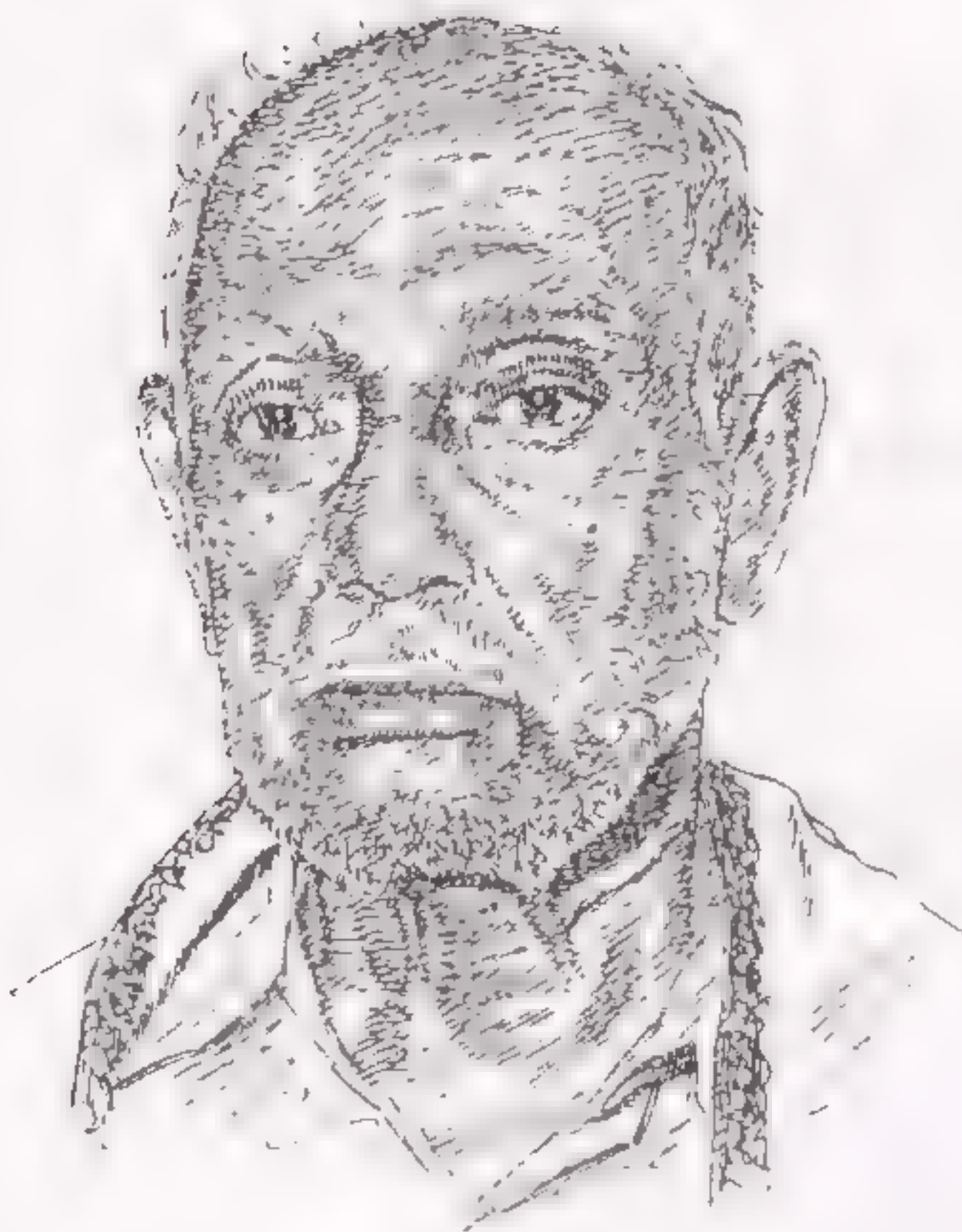
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

प्रथम भाग

योगिराज श्री विशुद्धानन्द चरित कथा

मंगलचरणम्।

श्री श्री विशुद्धानन्द-स्तोत्रम्

१. नीलाम्भोरुह-पंक्ति-सोदार-वपुर्लक्ष्मीः प्रसादोत्तर—
स्नेहाभ्यक्तविशाललोचनरुचा कर्षन् सतां मानसम्॥
आनाभि-प्रसरच्छरत्समुदयत्काशाभ कूर्चोज्ज्वलो।
देवः शंकर एव सद्गुरु-विशुद्धानन्द-नाथोऽवतु॥

२ यस्मिन्नभ्युदिते हृदन्तर महाकाशे प्रकाशाऽधिके।
तामिस्राणि च वामनात्मक वपुःशालीनि यान्ति क्षयम्॥
आनन्दं कमरन्दमन्तरधिकं विभ्रन्मनः पङ्कजम्।
निद्रां मुँचति तं भजे गुरु-विशुद्धानन्द नाथं प्रभुम्॥

३. यस्मिन जाग्रति योगिबृन्द-परमाचार्ये प्रभावोत्तरे।
सूर्यस्यैव तु रस्मिभित्रिजगदारम्भ-प्रतिष्ठोद्यते॥
प्राचीनैः करणैः पुरेव विदधत् सृष्टि विधाता न किम्।
लज्जामञ्चति, हन्त तं गुरु विशुद्धानन्द नाथं भजे॥

४. शिष्यां यस्य पदाम्बुजोद्भव सुधामापीय पीन-श्रियो।
वागीशेन-समं सभासु विजय-स्पर्धा वहन्त्युच्चकैः॥
लक्ष्मीः पद्मसरो विहाय सततं दासीव यं सेवते।
तं वन्दे यमिनां वरं गुरु विशुद्धानन्द-नाथं प्रभुम्॥

५. विश्वात्मा परमेश्वरः प्रिय-तमामाश्रित्य शक्ति निजाम्।
स्वेच्छा मात्र परिग्रहां वितनुते यद्विश्वमत्यद्भुतम्॥
यस्तन्मर्म-रहस्य-वित्तमभिदापन्नो विपन्नाश्रय।
स्तं भक्तौध-सुर-द्रुमं गुरु विशुद्धानन्द-नाथं भजे॥

६. विज्ञानानि बहूनि सन्ति विविधा वैज्ञानिकेन्द्र अपि।
प्रायस्ते बहिरेव बुद्धिमधमां व्यापारन्ते तमाम्॥

सर्वाश्चर्य-करं त्रिकाल-सफलं तत्सौर-विज्ञानकम्।
यस्मादाविरभूत् स रक्षतु विशुद्धानन्द योगीश्वरः॥

७. वन्दे नन्दित भक्त-वृन्दमुदयद् वात्सल्य वारां निधिम्।
वालार्क प्रति-मल्ल दिव्य महसां संघातभुच्चैस्तमम्॥
अज्ञानात्मक-घोर-गर्त पतितोद्धाराध्वरे दीक्षितम्।
विश्वेशं मनुजाकृतिं गुरुविशुद्धानन्द-नाथं परम्॥

८. वन्दे किञ्चिदचिन्त्य-शक्ति भव भीतात्मैक-शान्ति-प्रदम्।
कारुण्यामृत सिन्धु-सिन्धु तनया वाग् देवता-राधितम्॥
आकारेण नरं विनाशितदरं यत्कर्मणा शङ्करम्।
विख्यातं भुवनेषु त गुरु विशुद्धानन्द नाथं महः॥

९. स्वामिन्! सद्गुरु नार्थितवतां सर्वस्व दानोत्सुकः।
कोऽन्योऽस्मिन्नवनी तले सु विपुले जागर्ति सामर्थ्यवान्॥
मन्ये वीक्ष्य वदान्यतामनुपमां श्रीमत्पदाब्जोदिताम्।
काष्ठी-भूय पलायितः सुरतरुर्लीनो वने नन्दने॥

१०. दैवं मानुष पाशवादि सकल सर्गं विधातुं क्षमः।
खेचर्यादि समस्त सिद्धि निवहैरङ्काश्रयैरञ्जितः॥
मूर्द्धान्तःस्थित शङ्करः सुरभिता संख्यात-रत्नाकरः॥
पायान्नः प्रतिभाकरो गुरु-विशुद्धानन्द-योगीश्वरः॥

११. आबाल्यादति मानुषैरवितथैः पुण्यावदानै र्निजै।
-राश्चर्यं कुतुकं भयं च जनता चेतः सुविस्तारयन्
स्वाधीनः स्ववशी कृताखिल महाभूतः प्रभूतः द्युति।
योगीन्द्रो दयतां दयामय विशुद्धानन्दनाथोमयि॥

१२. सर्वांगाञ्चितरोमकूपविसरत्सौरभ्य संभावित—।
भ्राम्यद् भृंग कदम्बडम्वर भवत् संगीत सारस्ततः।
श्रीमातुःस्तुगज धयन्नविरतं वृद्धोऽपि बालोपमः।
क्रीड़ा कौतुकि सद्गुरु र्विजयते यस्तं वयं मन्महे॥

*

प्रथम अध्याय

योगिराज विशुद्धानन्द परमहंस

बालक भोलानाथ

बंगाल के अन्तर्गत वर्धमान जिले में बण्डूल नामक ग्राम है। वहाँ का चट्टोपाध्याय वंश दीर्घकाल से स्व-धर्मपालन, अतिथि-सेवा और देव-द्विज-भक्ति के लिए प्रसिद्ध था।

शुभ बंग-फाल्गुन मास का उन्तीसवाँ दिन था। नवीन वर्ष के समागम पर इस परिवार में एक अति महान गौरव की घटना हुई। वसन्त आगमन का समय था। चारों ओर प्रकृति की लावण्य-छटा विकीर्ण हो रही थी। शस्यश्यामल भूमि की स्निग्धता, वन-भूमि की श्यामलता, आकाश की नीलिमा, नव पल्लवों की शोभा और नव विकसित कुसुमों के सौरभ ने बण्डुल ग्राम को बहुत सुन्दर बना दिया था। मानों यह सब उस महिमा और गौरव का पूर्वाभास था, जो कि इस ग्राम को थोड़े ही समय के पश्चात् प्राप्त होने वाला था। जिसने प्रकृति के गुप्त कक्ष को भेद कर प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों को प्रकृति की ही कृपा से एक दिन अपने पूर्ण अधिकार में कर लिया, उस प्रकृति के बालक का जन्म प्रकृति के पूर्ण उन्मेष बसन्त के दिव्य समय में होना ही स्वाभाविक था। जन्म-जन्मान्तर के पुण्य फल से श्रीअखिलचन्द्र चट्टोपाध्याय और उनकी सहधर्मिणी देवी राज राजेश्वरी को भगवती जगन्माता के शुभ आशीर्वाद-स्वरूप एक अपूर्व पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ।

धन्य बण्डूल, ग्राम और उससे भी अधिक धन्य चट्टोपाध्याय वंश और भी धन्य अखिलचन्द्र और देवी राजराजेश्वरी। जिस वंश में एक तत्त्व-ज्ञानी और भगवद् भक्त महात्मा जन्म ग्रहण करता है, उस वंश के आगे पीछे की सात पीढ़ियों को सद्गति प्राप्त होती है।

नवजात शिशु को देखकर माता-पिता, परिवार के सब लोग और पड़ोसी भी आनन्द सागर में निमग्न हो गये। उत्तर काल में जिनके लोकोत्तर सामर्थ्य से जगत विस्मित हुआ, वह अपने जन्म मात्र से ही अलौकिक रूप के द्वारा सब के मन प्राण आकर्षित कर ले इस में आश्चर्य ही क्या? सब को यही अनुभव हुआ कि—ऐसा असाधारण तेज पुंज-मय शरीर शायद ही कहीं देखने में आया हो।

शिशु की निर्निमेष दृष्टि को देखने से जान पड़ता था कि वह पूर्व संस्कारों का मोहावरण भेद करके मानो किसी दूरस्थ शान्तिमय-राज्य की ओर देख रहा है। मानों वह समझता था कि यह जगत अत्यन्त दुख:मय और वेदनापूर्ण स्थान

है, इसीसे इस जगत के दृश्यमात्र को करुण-दृष्टि से एक क्षण देखकर फिर वह उसी शान्तिपूर्ण सदानन्दमय अन्तर्जगत की ओर ताकने लगता था। जो कोई देखता था, वही समझता था यह बालक असाधारण है।

वैष्णवी माया इस शिशु के स्वच्छ अन्तःकरण को विशेष रूप से अब तक भी छू नहीं सकी है। विलक्षण महापुरुष के लक्षण शिशु के देह में लक्षित हैं। लक्षणवेत्ताओं ने दैहिक अनुभावादि द्वारा जान लिया था कि यह बालक एक दिन 'राज-चक्रवर्ती' होगा अर्थात् अध्यात्म राज्य के सम्राट पद पर आरोहण करेगा।

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बालक धीरे धीरे बढ़ने लगा। माता पिता ने स्नेह पूर्वक 'भोला-नाथ' नाम रखा। नाम सचमुच कितना सार्थक हुआ, इस का प्रमाण शिशु का भविष्य जीवन है। अंग्रेजी में एक कहावत है—Child is the father of man अर्थात् मनुष्य भविष्य-जीवन में जो अवस्था प्राप्त करने वाला है उस का आभास उसके पूर्व जीवन में ही मिल जाता है। बालक भोलानाथ की असाधारणता का परिचय उसके बचपन से ही मिलने लगा था। जिन्हें उनके साथ अन्तरंग भाव से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे सभी उनके असामान्य भावों को देखकर आश्चर्य से दंग रह गये हैं। उनकी जननी, उनके काका, काकी, साथ के खेलने वाले बालक भोलानाथ को प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। बालक का चरित्र बल, दृढ़ प्रतिज्ञा, अक्लान्त अध्यवसाय, निर्भीक प्रकृति इन सबने उसे अलौकिक वैशिष्ट्य से भरपूर कर रक्खा था।

बाल्यकाल में भोलानाथ को भगवान की मूर्तियों से खेलना बहुत पसन्द था। घर में ही शिवजी प्रतिष्ठित थे। चण्डी मण्डप के अन्दर श्यामसुन्दर, सिद्धेश्वरी, जय दुर्गा, मनसादेवी, राज लक्ष्मी, ताल बेताल, लक्ष्मी नारायण, बाल मुकुन्द आदि अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमायें विराजमान थीं. बालक उनकी पूजा का ही खेल खेला करता था। अपने हाथ से वन्यपुष्प तोड़ लाता था सुन्दर माला बनाता था, तुलसी, बिल्व पत्र तोड़ लाता एवं स्वयं चंदन घिस कर पूजा की सामग्री एकत्र करता था। और फिर मन लगाकर पूजा में जुट जाता था। सभी अवलंबनों द्वारा इस प्रकार प्राण-प्रण से पूजा करते हुए बालक अपने नन्हें से हृदय में तृप्ति और आनन्द का अनुभव करता था!

बिना देव पूजा किये बालक स्वयं जल तक नहीं पीता था। भविष्य में अध्यात्म राज्य के गूढ़ तत्त्वों का आविष्कार करके जिन्होंने जगत को चकित कर दिया, उन महापुरुष के लिए बाल्यावस्था में देवशक्ति के साथ इस प्रकार का घनिष्ट संबंध होना स्वाभाविक ही था, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। बालक की पूजा में कोई प्रचलित विधि, कोई मंत्र अथवा नियम नहीं था। तथापि वह सच्चे हृदय से होती थी। प्राण के सहज उच्छ्वास की तरह गम्भीर अन्तःस्थल से पूजा की भावना कार्य करती थी उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। "भाव-

ग्राही जनार्दनः।'' प्राण का सत्यभाव या भक्ति ही पूजा का सूक्ष्म तत्त्व है। भाव रहित पूजा वास्तविक पूजा ही नहीं। मंत्र आदि का आयोजन तो हृदय के सुप्त भावों को जाग्रत करने मात्र के लिए होता है। उनका और कोई उद्देश्य नहीं होता। बालक के हृदय में जन्मान्तर के शुभ संस्कारों के कारण, पूर्व कर्म के फल एवं सौभाग्य से शैशवकाल में ही दिव्य भाव का उदय हुआ था, इसीलिए उनकी पूजा बालक का खेल होते हुए भी, निश्चय ही आदर्श और सत्यपूजा थी।

सुना जाता है कि साथियों के साथ खेलते-खेलते एक दिन बालक गाँव से कुछ दूर निकल गया। वहाँ बालुका का शिवलिंग स्थापन करके बिल्वपत्र से उसकी पूजा करने लगा। इस बीच एक दुष्ट बालक ने आकर पूजा में विघ्न डाला; अतः पूजा पूरी न हो पायी। भोलानाथ बड़े ध्यान से पूजा कर रहा था। पूजा में अचानक इस प्रकार विघ्न देखकर, बालोचित क्रोध करके उस लड़के से जोर से कहा—'तूने हमारे शिव जी के साथ झगड़ा किया है, इसलिए हमारे शिवजी का साँप निश्चय आकर तुझे डसेगा!' यह अभिशाप तो था नहीं, बालक के बाल-सुलभ रोष के सहज उद्‌गार थे। परन्तु आश्चर्य की बात है कि यह वचन जो मुख से निकला था, सत्य हो गया। सचमुच उसी दिन उस लड़के को सर्प ने काट लिया; और भी आश्चर्य का विषय यह हुआ कि जब वह बालक मृतप्राय हो गया तो भोलानाथ के हस्त स्पर्श से तुरंत चंगा हो गया। बण्डुल ग्राम के उत्तर में भाण्डार-डिहि के समीप श्मशान था। उस जगह एक वटवृक्ष था। उसी के नीचे एकान्त निर्जन स्थान में बैठना बालक भोलानाथ को अत्यन्त प्रिय था। यह स्थान भी उनको बहुत पसन्द था। जब कभी अवसर मिलता, तभी बालक इस घोर जनहीन स्थान के लिए व्याकुल हो उठता। सुनते हैं—शुद्धोदन-पुत्र गौतम (बुद्ध) भी बचपन में इसी प्रकार निर्जन में जाते, अकेले ध्यान लगाते और उसी तन्मय अवस्था में बैठे रहना पसंद करते थे। एक समय जो जरा मृत्यु के आक्रमण से दुःखी जीवों का उद्धार करने के लिए व्याकुल हुए थे और ध्यानियों में अग्रगण्य होकर जिन्होंने बोधिलाभ किया तथा जगत के लिए जिन्होंने अष्टांग बोधिमार्ग का प्रदर्शन किया था, उनके लिए भी बाल्यकाल से एकान्त वास और निर्जनता पर प्रीति होना, अवश्य ही स्वाभाविक है। अन्यान्य महापुरुषों के चरित्र में भी यह बात मिलती है। ग्राम के वयोवृद्ध लोगों ने बालक की ऐसी विलक्षण प्रकृति देखकर अनुमान कर लिया था कि एक दिन भोलानाथ विशिष्ट और उन्नत अध्यात्म संपत्ति प्राप्त करेगा।

ग्राम के आस पास किसी साधु-सन्त के आने का समाचार मिलता तो उसको देखने के लिए बालक पागल हो उठता। उसको घर पर रोक रखना असंभव हो जाता।

किसी न किसी प्रकार अवसर निकाल कर सुयोग पाते ही दिन में नहीं तो रात में साधु के पास पहुँचकर बालक अपनी दर्शन लालसा को तृप्त करता था। अवस्था में छोटा होने पर भी बालक साधु के साथ धर्म चर्चा करता था, और प्रसंग पड़ने पर अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क वितर्क करने में भी हिचकता न था।

एक बार वण्डूल से कुछ दूरी पर एक संन्यासी पधारे। समाचार पाते ही बालक वहाँ पर जाने के लिए उत्कंठित हुआ। किन्तु किसी कारण दिन में जाने का अवसर न मिला तो रात हो जाने पर भी वहाँ जाने को उद्यत हो गया! बालक ने चेष्टा की कि यदि एक दो साथी मिल जायँ तो अच्छा है क्योंकि रात अँधेरी थी। परन्तु उस, घनी अँधेरी रात्रि में कोई भी अपने घर से एक पग भी बाहर चलने को राजी न हुआ। अगत्या निर्भीक बालक अकेला ही चल पड़ा और अन्धकारपूर्ण सुनसान जंगल को पार करता हुआ आधी रात के समय संन्यासी के स्थान पर आ पहुँचा साधु ने ऐसा अदम्य साहस और वह तेजस्विता देखकर कहा—"बालक! क्या ही अद्भुत शक्ति मैं तुम में देख रहा हूँ कि जिस शक्ति के प्रभाव से तुम इतनी छोटी अवस्था में भी इस भयानक अँधेरी रात में, निर्जन अरण्य में से घोर श्मशान तथा लम्बे चौड़े मैदान को अकेले ही पार करके मेरे पास आ पहुँचे हो। तुम अभी अपने को भूले हुए हो। तुम स्वयं अपने को अभी पहचानते नहीं हो। समय प्राप्त होने पर तुम क्या हो जाओगे, इसका पता तुम्हें पीछे लगेगा।"

एक बार किसी कारणवश भोलानाथ की भर्त्सना की गयी! वास्तव में बालक का कोई दोष नहीं था। इसलिए उस फटकार के कारण उसके व्यथित चित्त में दारुण स्वाभिमान जाग उठा। तेजस्वी प्रकृति के लिए यह स्वाभाविक ही था! किन्तु वह बालक मनुष्य के ऊपर कभी रूठता नहीं था। क्योंकि उसका विश्वास था कि मनुष्य के हाथ में कोई कर्तृत्व नहीं है, मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है। इसी से वह देवी देवताओं पर रूठता था। बालक को दुःख तो हुआ ही था। वह रूठा हुआ, श्यामसुन्दर की मूर्ति को हृदय से चिपटाये हुए, आत्म हत्या के विचार से घर की पुष्करिणी में कूद पड़ा! किन्तु आश्चर्य की बात यह हुई कि उस पोखरे का जल गहरा होते हुए भी बालक के लिए घुटनों तक ही मालूम पड़ा। उस उथले पानी में उसे डूब मरना संभव न हो सका। बालक जिधर भी जाता उधर ही पानी उथला देखकर विस्मित होता था। यथासमय ठाकुरजी की मूर्ति की तलाश हुई तो घर के लोगों ने खोजते समय यह तमाशा देखा! तब बालक को तथा ठाकुर जी को लेकर लोग घर वापस आये।

वण्डूल में चट्टोपाध्याय के घर के निकट बंकिम कुण्डू नामक एक आदमी रहता था। उसके लड़के के साथ भोलानाथ की अत्यन्त मित्रता थी। वह लड़का जब कभी रोग से अत्यन्त पीड़ित होता था। तब भोलानाथ श्यामसुन्दर

का स्नान-जल उस को पिला देता और उस के माथे पर छिड़क देता था। बस, लड़का रोगमुक्त हो जाता।

एक बार भोलानाथ के काका ने प्रसन्न होकर पहनने के लिए एक धोती खरीदकर ला दी। चंचल बालक ने खेल ही खेल में हाथ से फाड़ कर उस धोती के टुकड़े टुकड़े कर डाले! यह देखकर काका ने बालक को बहुत फटकारा! बालक ने दुःखी और विस्मित होकर उस छिन्न वस्त्र को मुट्ठी में बाँधकर पुनः फेंका तो देखा गया कि वह वस्त्र पूर्ववत् स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया था। यह घटना देखकर लोग चकित हो गये और बालक का देवांश से जन्म बताकर आपस में प्रशंसा करने लगे।

एक बार काका ने भोलानाथ को पहनने को पाँच रुपये का 'कम्पनी जूता' खरीद कर ला दिया। बालक ने जूता तो ले लिया; किन्तु उसे स्वयं अपने काम में नहीं लगाया। पड़ोस में रहने वाले शशी कर्मकार के लड़के को उस के विवाह के उपहार में दे डाला। शशी लोहार का वह पुत्र भोलानाथ का खेल का साथी था। इसलिए अपने उस बन्धु के विवाहोत्सव में वह मूल्यवान जूता भेंट स्वरूप दिये बिना भोलानाथ से रहा नहीं गया। काका इस बात से बहुत क्रुद्ध हुए और भोलानाथ की अत्यन्त भर्त्सना की। उस समय में पाँच रुपये मूल्य का जूता कोई साधारण सुलभ चीज नहीं थी। फिर ऐसी वस्तु स्वयं न पहनकर बाहरी व्यक्ति को दे डालना वृद्ध चंद्रनाथ बाबू की दृष्टि में बड़ा भारी अपराध था।

काका की फटकार से भोलानाथ के चित्त में बहुत दुःख उत्पन्न हुआ। कहते हैं कि बालक ने घर की नौकरानी से कुछ रुपये उधार लिये और एक नौकर के कन्धे पर चढ़कर बालक बर्धमान गया। उन रुपयों से कई एक शीशियाँ कुनैन की मोल लाकर गाँव में फुटकर बिक्री करना आरम्भ किया। उससे बहुत रुपयों का लाभ हुआ। नौकरानी के रुपये दुगुने ब्याज-सहित वापिस दे दिये और बाकी रुपयों के जूते खरीद कर गाँव के सब लोगों को बाँट दिये।

भोलानाथ की अवस्था केवल छः महीने की थी, तभी उनको पितृवियोग हुआ। तभी से काका ने पिता का स्थान लिया और अपने पुत्र की तरह उनका पालन किया। बाल्य-काल में उन्हें अँग्रेजी पढ़ाने के लिए काका ने बड़ी चेष्टा की। किन्तु अनेक ताड़ना सहन कर के भी बालक अँग्रेजी पढ़ने को राजी न हुआ। संस्कृत के ऊपर बालक को बहुत प्रेम था। सुना जाता है कि नवद्वीप के विख्यात पंडित विद्यारत्न महाशय के पास भोलानाथ ने कुछ दिन संस्कृत का अध्ययन किया था।

जब भोलानाथ की अवस्था आठ वर्ष की थी, उन के काका का भी स्वर्गवास हो गया। घर के सभी लोग व्याकुल होकर विलाप करने लगे। किन्तु

भोलानाथ की आँखों में किसी ने आँसू की एक बूँद भी नहीं देखी। इससे सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। बाल्यावस्था होने पर भी मोह माया का प्रभाव उन पर कम था। इस बात से यही मालूम होता है। सुनते हैं कि तेरह वर्ष की अवस्था तक बालक धोती ही नहीं पहनना चाहता था। यदि कोई धोती पहना दे तो वह उसे किसी को दे डालता था। जब काका नाराज होते तो वह कह देता—''धोती न पहन कर नंगे रहने में दोष ही क्या है? वृथा आवरण किस लिए?''

ये सभी बातें बहुत छोटी; परन्तु छोटी होने पर भी उपेक्षणीय नहीं हैं। इन के द्वारा भावी जीवन धारा का पूर्वाभास मिलता है। मनुष्य का महत्त्व और गौरव दीर्घ साधना का फल होता है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जन्म जन्मान्तर के तीव्र अध्यवसाय एवं एकनिष्ठ उद्यम के परिणामस्वरूप मनुष्य उन्नति के उच्च शिखर पर आरोहण करने में समर्थ होता है। बाल्यकाल की विशेषताएँ अतीत साधना का निदर्शन कराती हैं और भविष्य की सिद्धि की सूचना देती हैं। जो लोग भोलानाथ को बचपन में अन्तरंग भाव से जानते थे, वे लोग भविष्य जीवन में इस सत्य को पग पग पर प्रत्यक्ष प्रमाणित होते हुए देखकर विस्मित एवं चमत्कृत हो गये थे।

बालक की मातृ-भक्ति जगत में कहीं देखने में नहीं आती। बाबाजी कहा करते थे कि—उनकी सब प्रकार की उन्नति जननी के आशीर्वाद से ही संपन्न हुई है।

एक बार माता जी को विशूचिका हो गया। ग्राम और आसपास के कई चिकित्सकों ने औषधोपचार किया। इलाज बहुत अच्छी प्रकार से हुआ और सेवा शुश्रूषा में भी कोई कसर नहीं रखी गयी परन्तु दवा से रोग शान्त नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे त्यों त्यों रोग की अवस्था और भी सन्देह जनक होती जाती थी। चिकित्सकों ने बारीकी से नाड़ी परीक्षा कर रोगी की दशा असाध्य बतला दी। रोगी का उस दिन बचना भी उन्हें संदिग्ध मालूम होता था। काका और काकी भोलानाथ को कभी-कभी दुलार से 'पगले चाचा' कहकर पुकारते थे। उनका विश्वास था कि बालक के मुँह से जो बात निकल जाती है, वह कभी झूठी नहीं होती, वह अवश्य ही सत्य होकर रहती है। काकी ने भोलानाथ को बुलाकर पूछा—''ऐ पगले चाचा अच्छा बताओ तो सही, हमारी दीदी बचेंगी कि नहीं'' संकारानभिज्ञ सरल बालक बिना आगा पीछा सोचे तुरन्त बोल उठा—''हाँ, अच्छी हो जायेंगी।'' सीधे-सादे बालहृदय को यह पता नहीं था कि विशूचिका कितना भयंकर रोग होता है तथा उस समय माता की अवस्था कितनी संकटापन्न थी। संसार में आने के थोड़े ही दिनों में, बालक पितृ-स्नेह से वंचित हो गया था। केवल अपनी माँ की गोद में उसका लालन पालन हुआ

था। सोते जागते एकमात्र माँ के सिवा और किसी भी संसार की वस्तु के प्रति भोलानाथ को आकर्षण न था। केवल माँ की धुन थी। वह कभी 'मातृहारा, हो सकता है, माँ से कभी वियोग संभव है यह धारणा ही उस बच्चे में न थी। इसलिए निर्विकार भाव से ऐसा एकाग्र लक्ष्य भरा उत्तर उस मातृभक्त सन्तान के मुख से सहज निकल पड़ा।'

रोगी की अवस्था इधर बराबर गिरती जा रही थी। घर के सब लोग चिन्ता से व्याकुल थे। जीने की जो कुछ आशा बची थी, वह क्रमशः क्षीण हो रही थी। आसन्न मृत्यु की कराल छाया खाली रोगी के मुख पर ही नहीं बल्कि सभी कुटुम्बीजनों के मुख पर मानो छा रही थी, बालक एकबार अपनी जननी के मुख की ओर ताकता और एकबार आत्मीय स्वजनों की गंभीर तथा विशाद भरी गतिविधि को निरखता। होनहार अचूक दुर्घटना के पूर्व लक्षण देखकर बालक का हृदय स्तंभित हो गया। मातृभक्त तथा मातृ-गण प्राण बालक यह सोच ही नहीं पा रहा था कि उसकी माता उसे छोड़कर किसी अनजान देश को चली जाएगी; और वह मातृविहीन हो जायेगा। बस, फिर क्या था, बालक एकदम रूठ गया। जिन ठाकुर जी और देवताओं की उसने अब तक पूजा की थी, उन्हीं के ऊपर रुष्ट हो गया। उसकी आँखों से आँसू छलकने लगे, हृदय में पीड़ा होने लगी; किन्तु किसी को न बोलकर, अपने अंतस् की वेदना किसी से प्रकट किये बिना वह एक निर्जन स्थान में चला गया। घर के पीछे एक गोशाला थी। उसके भीतर प्रवेश कर के जहाँ पर मचान के ऊपर कंडे जमा किये रखे थे, वहाँ अँधेरे गुप्त स्थान में हाथ में लोहे का शब्बल लिये हुए खूब सावधानी से जाकर चुपचाप बैठ गया। बालक मन ही मन सोच रहा था कि आज उसकी परीक्षा का दिन है इतने दिन तक जिन देवी देवताओं की सेवा की है, जिन को सरल अन्तःकरण से पुकारा है, उन सब की आज मैं परीक्षा कर के देखूँ कि इस संकट में उनमें कोई प्रत्युत्तर पाया जाता है नहीं। उसने चित्त में यह भी ठान रखा था कि यदि कोई दुर्घटना घटेगी तो रातो रात उन सब देवी देवताओं को तोड़ फोड़ कर मंदिर में आग लगा दूँगा। बालक इस विचार से गोशाला में बैठा हुआ था और घर के लोग इधर रोगी के पास इतने व्यस्त हो रहे थे कि किसी को भी बालक को खोजने की सूझी ही नहीं। भगवान की कृपा से रोगी की दशा क्रमशः सुधरने लगी। वैद्य लोग भी ढाढ़स बँधाने लगे। संध्या समय बालक की खोज हुई। परन्तु उसका कहीं पता न चला। इधर वह शब्बल भी नहीं। खोजते खोजते काकी को गोशाला में शब्बल तो मिल गया परन्तु भोलानाथ कहीं भी दिखायी न पड़ा। सन्ध्या समय मच्छर भगाने के लिए धूआँ करने को चरवाहे से कहा गया। वह मचान पर से कण्डे लाने गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि—वहाँ पर बालक

बैठा हुआ मिला। माता को आरोग्य लाभ हुआ, यह शुभ समाचार सुनकर उसकी दुश्चिन्ता दूर हो गयी। मरणासन्न दशा में माता ने बता दिया था कि—उसका गुप्त धन पूजा गृह में किसी विशेष ठौर पर गड़ा रक्खा है। परन्तु बालक को उसके लिए रंच मात्र भी लोभ उत्पन्न नहीं हुआ।

नौ वर्ष की अवस्था में बालक का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। उपनयन के पश्चात सावित्री अर्थात् गायत्री देवी के प्रभाव से बालक का स्वाभाविक ब्रह्मचर्य तेज शतगुण होकर बढ़ने लगा। सुना जाता है कि बण्डूल के शिवलिंग में भोलानाथ को हर पार्वती की मूर्ति के दर्शन हुए थे। शिवलिंग अपने आप दो टुकड़े हो गया था। उसके अन्दर युगल मूर्ति तथा अन्याय दिव्य मूर्तियों के प्रत्यक्ष जीवन्त दर्शन पाकर बालक कृतार्थ हुआ था।

*

द्वितीय अध्याय

कुत्ते का काटना और अलौकिक साधु से भेंट

मनुष्य के जीवन में परिवर्तन किसका तथा किस निमित्त को लेकर घटित होता है यह बताना अत्यन्त कठिन है। मकड़ी के जाले की तरह अतिशय सूक्ष्म, अदृष्ट सूत्रों पर जीवन का अति विशाल और जटिल प्रासाद प्रतिष्ठित रहता है। प्रारब्ध-कर्म, ईश्वरेच्छा अथवा स्वभाव की प्रेरणा, ये एक ही अजाना और अज्ञेय महाशक्ति के कल्पित पृथक्-पृथक् नाम मात्र हैं। यह महाशक्ति लौकिक घटनाओं का निमित्त रूप से अवलंबन करके किस जीवन को किस प्रकार नियंत्रित करती है यह जानना बहुत कठिन है। लौकिक कारण यद्यपि बाहरी दृष्टि से विशिष्ट रूप में भासमान होता है तथापि ज्ञानातीत मूल-कारण की तुलना में वह एक प्रकार से उपेक्षणीय ही समझो। बहुधा ऐसा होता है कि जिसको हम बहुत बड़ी दुर्घटना मानते हैं, वही आगे चलकर भविष्य जीवन की उन्नति की पूर्व सूचना प्रमाणित होती हैं। सामयिक दृष्टि से जो अशुभ मालूम होता है, वही महामाया के मंगल विधान से अंत में परम शुभ और महामंगल रूप बन जाता है। इसी प्रकार एक आकस्मिक अशुभ घटना भोलानाथ के जीवन को सदा के लिए एक अभिनव पथपर ले जाने के लिए यंत्र बन गयी। प्रसंगवश उसी घटना का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

भोलानाथ की अवस्था चौदह या पन्द्रह वर्ष की हुई होगी। किशोर अवस्था अब भी समाप्त नहीं हुई थी। एक दिन सीढ़ी से नीचे उतरते समय हठात् एक पागल कुत्ते ने बालक के पैर में काट लिया। बालक कुछ अनमना सा असावधान दशा में नीचे उतर रहा था। कहीं कुत्ता है और वह अचानक काट खायेगा, इसकी कल्पना तक बालक के मन में न थी। काटने का प्रभाव थोड़े ही समय के भीतर मालूम होने लगा। समस्त देह में ऐसी जलन होने लगी कि रहा नहीं जाता था। बालक ने कुत्ते के काटने का हाल तुरन्त घर वालों से बताया। उसके दादा चिकित्सक थे। अन्य डॉक्टरों तथा वैद्यों की सहायता से उन्होंने स्वयं दवा आरंभ की। नियम-पूर्वक इलाज किये जाने पर भी बालक की दशा शीघ्र ही अत्यन्त शोचनीय हो गयी। जब स्थानीय चिकित्सा से कोई लाभ न हुआ, बालक को गोंदलपाड़ा ले गये। वहाँ की प्रसिद्ध औषधि खिलायी। किन्तु उससे भी उपचार न हुआ। इधर विष भयंकर रूप से पूरे शरीर में फैलने लगा। असह्य

वेदना से बालक चीख मार कर रोने चिल्लाने लगा। ऐसी दशा में बालक को गोंदलपाड़ा से तुरन्त हुगली ले गये। वहाँ आटे की एक चक्की का मालिक भोलानाथ के काका का बालपन का साथी था। उसी के घर में ठहरना हुआ। हुगली में भी कुत्ते के विष के बड़े-बड़े इलाज हुए। परन्तु सब व्यर्थ। अब बालक की आशा जाती रही। उसने समझ लिया कि—बस, उसकी जीवन रक्षा का कोई भी उपाय अब नहीं है।

उस समय सन्ध्या आ पहुँची थी। सूर्य देव अस्त होने जा रहे थे। पश्चिम आकाश में लालिमा छा रही थी। और भागीरथी के जल पर उस का रक्त-वर्ण प्रतिबिम्ब पड़कर चारों ओर लालिमा विकीर्ण कर रहा था। सुख स्पर्श वायु हल्के से गंगा जल को हिला रही थी। छोटी-छोटी लहरियाँ गंगा-वक्ष पर खेल कूद करने में लगी थीं। इस दृश्य को बालक एकटक हो कर देख रहा था। मन उसी में तल्लीन था। वायु के झोंको से संचालित गंगा तरंगों की तरह उसके बाल हृदय में भी आशा एवं आकांक्षा की कितनी कितनी लहरें उठतीं और विलीन हो रही थीं, इसका इतिहास कोई क्या जाने। अस्तोन्मुख सूर्यदेव को देखकर बालक के मन में भी यही विचार आया कि मेरा जीवन सूर्य भी इसी प्रकार अब डूबने वाला है। मन में क्या जाने क्या सोचता हुआ बालक वहाँ से उठकर धीरे-धीरे गंगा तट पर आ पहुँचा। शायद मन में यह इच्छा हुई कि स्निग्धसलिला जान्हवी की शीतल गोदी में अपने को अर्पण कर दूँ और हमेशा के लिए संतप्त प्राणों की ज्वाला को शान्त कर दूँ। किन्तु गंगा के निकट पहुँच कर उसने एक ऐसा दृश्य देखा कि उससे वह चकित हो गया। उसे आत्म-विस्मृति हो गयी। वह चित्र लिखे की तरह स्तब्ध खड़ा हुआ, उस अपूर्व दृश्य को एकटक निहारने लगा। उसने देखा कि—गंगा की धारा में एक जटा जूटधारी सौम्यमूर्ति संन्यासी बारबार पानी में डूबता है और बार-बार ऊपर आता है गंगाजल साधुके साथ साथ एक स्तम्भ की तरह ऊपर की ओर उठता है और फिर से नीचे गिर जाता है। संन्यासी का मुख मंडल प्रशान्त था, दोनों चक्षु उज्जवल अथच मधुर थे। देखने से ऐसा लगता था कि अलौकिक ज्ञान तथा करुणा उभय एक साथ मिलकर दुःख भरी धरणी के उद्धार के लिए स्वयं आकर प्रकाशमान हुए हों। संन्यासी त्रिकाल महापुरुष थे। जिनके लिए कोई बात अज्ञात अथवा अज्ञेय नहीं थी। बालक की ओर देखते ही उन्होंने बालक का सारा हाल जान लिया और उसकी मनोवेदना को पूरी तौर से समझ लिया। उन्होंने अत्यंत स्नेह, मधुर एवं गंभीर स्वर से बालक को पुकार कर कहा—"बच्चा! इतना क्यों घबराते हो? दर्द होता है? अच्छा, हम सब अच्छा कर देंगे।" यह कहकर वे तीर पर आ गये। और बालक के सिर पर अपना हाथ रख दिया। इन के स्पर्श मात्र से ही बालक को ऐसा जान पड़ा कि उस के सिर पर न जाने कितनी भारी बरफ की

ठंडक पहुँच रही है। ऐसा मालूम होने लगा मानों उसकी शिराओं में और धमनियों में रक्त की जगह शीतल अमृत की धारा प्रवाहित हो रही है। देखते देखते उस की समस्त ज्वाला यंत्रणा बिलकुल दूर हो गयी। मृत्यु का भय और विपत्ति की आशंका कट गयी और जीवन में नवीन आशा का संचार हो गया। संन्यासी ने वहीं से एक औषधि लाकर खिला दी और उसको घर लौट जाने को कहा। बालक घर वापस आ गया। उस समय उसको रोगजनित यंत्रणा बिलकुल मिट गयी थी। दूसरे दिन फिर से वह गंगा किनारे उसी स्थल पर पहुँचा और महापुरुष को पुनः पुकार नम्र स्वर में उनसे प्रार्थना की—"प्रभो, आप ने मुझे जीवनदान दिया है। मैं आपको अब छोड़ नहीं सकता। आज मुझे दीक्षा दीजिए और धर्म जीवन का पथ प्रदर्शन करिए।" महापुरुष ने बालक को एक आसन सिखा दिया और एक बीज मंत्र दे दिया और कहा—"इस आसन का अभ्यास करो और इस मंत्र का जप करो। इससे ही तुम्हारी देह शुद्धि होगी। हम तुम्हारे गुरु नहीं हैं। जो तुम्हारे गुरु होंगे वे अन्यत्र हैं, यहाँ से दूर हैं। वे ही तुम्हारी मनःकामना पूरी करेंगे। उनकी कृपा से तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे और तुम धर्म जगत में शीर्षस्थान प्राप्त करोगे। इस प्रकार तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। इस समय तुम अपने घर चले जाओ। हम गंगासागर जाते हैं। जब समय आयेगा, तब हम तुमको संग लेकर तुम्हारे गुरुदेव के पास पहुँचा देंगे। बस निश्चित रहो।"

बालक की इच्छा नहीं हो रही थी, तथापि उसे घर लौट आना पड़ा। घर में आने के पश्चात् कई दिन तक पेशाब के साथ साथ कुत्ते के पिल्लों जैसे छोटे-छोटे कतरे से जाने क्या गिरते थे और बालक को पूर्ण आरोग्य लाभ हुआ। माता ने जब पुत्र से सुना कि किस अलौकिक रीति से उसको आरोग्य प्राप्त हुआ, तो वह आनन्द में निमग्न हो गयीं।

महापुरुष के चले जाने पर एक दो वर्ष बीत गये। उस समय भोलानाथ वर्धमान में काञ्चन नगर मेस में रहकर विद्या अध्ययन करते थे। साथ में उन के मौसेरे भाई भी रहते थे। एक दिन विश्वरूप साधु नामक एक दूकानदार के पास वह कुनैन खरीदने गये थे। उस जगह एक मुसलमान के मुँह से सुना कि ढाका में एक असाधारण संन्यासी आते हैं। अधिकांश समय वे जल में रहते हैं, और बारंबार पानी में डूबते और उतराते हैं। जब वे पानी से बाहर आते हैं, उनके साथ साथ जल राशि ऊपर उठ करके एक ऊँचे स्तम्भ का आकार धारण कर लेती है। और जब वे पुनः डूबते हैं तो नीचे गिर जाती है। मुसलमान के द्वारा यह बात सुनते ही तुरन्त भोलानाथ की पूर्व स्मृति जाग उठी। उन संन्यासी के दर्शन के लिए बालक का मन व्याकुल हो गया। उसने अविलंब ढाका की ओर प्रस्थान किया। वर्धमान के एक हरिपद नामक नवयुवक के साथ इधर भोलानाथ का परिचय हो चुका था। संन्यासी के दर्शनार्थ भोलानाथ के साथ वह भी चल

पड़ा। दोनों जन ढाका पहुँचे। उन अलौकिक संन्यासी से मिलने की तीव्र लालसा में चारो ओर उनकी खोज में घूमने लगे। अन्ततोगत्वा रमना के मैदान में एक निर्जन स्थान में उन्हीं महापुरुष के साथ उन दोनों का साक्षात्कार हुआ। देखते ही भोलानाथ ने तुरन्त पहचान लिया कि ये ही मेरे प्राणदाता, उस हुगली घाट के संन्यासी हैं। भक्ति पूर्वक उनके चरणों में मस्तक रख दिया। और हाथ जोड़कर विनय की—"प्रभो! अबकी बार मुझे ग्रहण कीजिए और अब मुझे मना न करिये।" संन्यासी बोल उठे—"अरे अकेले न आकर अपने साथ दूसरे को क्यों ले आये हो? अस्तु।" इतना कहकर उन्होंने दोनों को ही शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया और साथ में ले जाने को राजी हुए।

*

तृतीय अध्याय

भैरवी माता से भेंट

जगत के कल्याण साधन के लिए युग-युग में जितने भी महापुरुष अवतीर्ण हुए हैं, उन सबने समान रूप से त्याग एवं वैराग्य का पथ प्रदर्शित किया है। त्याग और वैराग्य के बिना जीवन गठित नहीं होता, साधन संपत्ति प्राप्त नहीं होती और नित्य धर्म के अनुष्टान का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। विषय-वासना में बँधा हुआ भोग लोलुप जीव त्याग की महिमा कैसे समझ सकता है? अमृतत्व प्राप्त करने के लिए वास्तव में यही एक मात्र सोपान है। एक दिन यह बात मनुष्य के समझ में आ जाती है और समझ में आते ही वह अनित्य की सेवा त्याग देता है तथा नित्य का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य जिस किसी महापुरुष का जीवन चरित्र देखिए तो सब में उपर्युक्त एक ही बात मिलेगी। त्याग के इसी सनातन पथ पर आज एक नवयुवक उसी लक्ष्य के साथ बुद्ध और चैतन्यदेव जैसा अनन्त की ओर 'महाभिनिष्क्रमण' करने को उद्यत हुआ है। आज उसके हृदय में जिस अलौकिक भाव का उदय हुआ है, उसको शायद मोहान्ध संसारी जीव न समझ सकें। जन्म जन्मान्तर की कठोर तपस्या के फल से, कितने कितने सत्संगों के माहात्म्य से, भगवान की कृपा से आज युवक के हृदय में एक अनिर्वचनीय उच्छवास का उदय हुआ है। पागल कुत्ते का काटना तो एक निमित्त मात्र था। विमाता के तिरस्कार को निमित्त बनाकर एक दिन ध्रुव अनन्तपुरुष की खोज में घर से बाहर निकल पड़ा था। युवक भोलानाथ की भी यही दशा थी! स्नेहपूर्ण आत्मीय स्वजन, स्नेहमयी वात्सल्यशालिनी जननी, चिर परिचित गृह परिवार, समस्त संगी-साथी, सांसारिक आशा और आकांक्षा इन सबका त्याग करके आज वह एक अपरिचित अज्ञात पुरुष के साथ और उससे भी अधिक अज्ञात तथा अपरिचित किसी पदार्थ की खोज में किसी अनजान स्थान में जाने के लिए उद्यत हुआ है।

भोलानाथ के मन की परीक्षा लेने के लिए महापुरुष ने पूछा—"क्या तुम मेरे साथ उस दुर्गम स्थान में जाने का साहस करते हो? क्यों कर तुम तो अब भी बालक हो, इसीलिए तुमसे पूछ रहा हूँ! यदि चलने की उत्कट इच्छा है तो संध्या के बाद हमारे पास आ जाना—हम तुम दोनों को अपने साथ ले चलेंगे।"

संन्यासी की ऐसी आश्वासनपूर्ण वाणी सुनकर भोलानाथ के हर्ष का कोई पारावार न रहा। ठीक समय पर वह अपने साथी के समेत निर्दिष्ट स्थान पर

संन्यासी के सामने हाजिर हो गया। संन्यासी ने उन दोनों की आँखों पर पट्टी बाँध दी और उनको अपने पीछे करके साथ लेकर वे आगे बढ़े।

अँधेरे जंगल से होकर संन्यासी धीरे धीरे चलने लगे। दोनों युवक उनका हाथ पकड़े पकड़े उनके पीछे चल रहे थे। किन किन स्थानों को पार करते हुए, किस मार्ग से, किधर जा रहे थे, इसका न तो भोलानाथ को भान था और न हरिपद को ही। ऐसा मालूम पड़ता था मानों किसी कोमल सुख-स्पर्श बिछौने के ऊपर होकर वे आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे लोग साधारण गति से ही चले जा रहे थे तथापि स्पष्ट ऐसा जान पड़ता था, मानों किसी अनैसर्गिक शक्ति के आकर्षण से वे आकाश मार्ग से जा रहे हों। पानी की लहरों को चीरते हुए जैसे जलचर प्राणी अथवा नाव चलती है, वायु मण्डल में कम्पन उत्पन्न करके प्रतिस्तर में वायु की लहरों को भेद कर जैसे वायुयान अथवा व्योमचारी पक्षी स्वच्छन्द विचरण करते हैं इसी प्रकार वे भी चले जा रहे थे यद्यपि प्रतीत होता था कि वे दोनों पैदल ही चले जा रहे हैं तथापि थोड़ी ही देर बाद वे समझ गये थे कि यह चलना मामूली चलना नहीं है। समस्त रात्रि इसी प्रकार पार होने पर जब सबेरा हुआ तब महापुरुष ने दोनों के नेत्रों पर से पट्टी खोल डाली। चारो ओर देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। देखते क्या हैं कि किसी पर्वतश्रेणी के समीप एक देवालय है उस के बगल में लोग खड़े हैं। मंदिर के भीतर अष्टभुजा देवी की मूर्ति विराजमान थी। वहाँ पर एक भी बंगाली को आसपास न देखकर उनका अनुमान हुआ कि वे किसी दूर देश में आ पहुँचे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि उस स्थान का नाम 'विन्ध्याचल' है और मंदिर में विराजमान देवी स्वयं 'विन्ध्यवासिनी' हैं। एक रात्रि में ही नदी और पर्वत मालाओं को लाँघ कर पैदल इतनी दूर कैसे आ गये, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। उन दोनों को अष्टभुजा मन्दिर के पास एक सुरक्षित स्थान में छोड़कर संन्यासीजी अन्तर्ध्यान हो गये। जाते समय कह गये कि "तुम लोग यहाँ कोई भय मत करना। हम कुछ दिन बाद वापस आकर तुमको अपने साथ ठीक यथा स्थान ले चलेंगे।"

संन्यासीजी के अन्तर्ध्यान हो जाने पर भोलानाथ और हरिपद कुछ चिन्तित होने लगे। उन लोगों ने पहले कभी भी किसी दूर देश की यात्रा नहीं की थी। अतः इस प्रकार जंगली जानवरों से भरे हुए भयानक निर्जन प्रदेश में अपने को अकेले उपस्थित देखकर कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बंग भाषा के सिवा और कोई दूसरी भाषा भी वे लोग नहीं जानते थे। फिर ऐसे विजन स्थान में आ पड़े थे जहाँ पर बँगला भाषा बोलने वाले किसी व्यक्ति से भेंट होने की कोई संभावना न थी कदाचित् कभी कोई एक दो जन वहाँ देवी के दर्शनार्थ आये भी तो वे थे हिन्दी भाषाभाषी। उन लोगों की बोली समझना उन उभय बंग साथियों के लिए भारी समस्या लगने लगी।

इस पर अतिसमीप चारों ओर निबिड़ वन—भूमि निहार कर हिंसक जन्तुओं की आशंका से मन में कुछ भय सा लगने लगा। जो कुछ भी हो, इस प्रकार दुश्चिन्ता में पड़े पड़े कट घंटे बीत चुके, तब देखा कि एक श्याम वर्ण ब्राह्मण व्यक्ति उन दोनों के लिए भोजन सामग्री लेकर उनके पास उपस्थित है। वह व्यक्ति कौन है, कहाँ से आया, किसने आज्ञा देकर भेजा, यह कुछ भी वे लोग समझ न सके। खाद्य वस्तुएँ उन दोनों के सामने रख कर ब्राह्मण तुरन्त चला गया। उसके बाद दोनों ने खूब तृप्त होकर भोजन किया और वहीं पर विश्राम करने लगे। सन्ध्या समय वही ब्राह्मण फिर से आया और उन्हें खाने की चीजें देकर चला गया।

संन्यासी के अन्तर्ध्यान होने पर भोलानाथ को लगा था कि उनके वे संगी महात्मा सन्ध्या समय जरूर पुनः लौट आयेंगे एवं पहिले की नाईं फिर से दोनों जन को साथ लिवा जायेंगे। परन्तु सायंकाल बीत गया तब भी वे नहीं पधारे। जब ऐसा देखा, स्वभावतः उनका मन कुछ उद्विग्न हो उठा। अपरिचित देश निर्जन पर्वतशिखर, खुला आकाश और हिंसक जन्तुओं से भरा भीषण अरण्य ऐसे निबिड़ अंधकारमय स्थान में किस भाँति समय व्यतीत करेंगे, इस सोच में वे व्याकुल हो गये। और एक शाखा के साथ अपने शरीर को कस कर के बाँध लिया। उनके साथी ने भी देखादेखी ऐसा ही कर लिया।

इस प्रकार बड़ी दुश्चिन्ता में, बहुत कष्ट के साथ दोनों ने ज्यों त्यों रात बितायी, जब प्रभात हुआ तो वृक्ष से नीचे उतर कर पूर्ववत् अष्टभुजा देवी के मन्दिर में गये। दिन को वहीं पर निवास किया। उस दिन भी वही साँवले रंग का ब्राह्मण पहले दिन जैसा ठीक समय पर हाजिर हुआ एवं भोजन देकर चला गया। दोनों ने खाया। परन्तु उस दिन जब सन्ध्याकाल में बाघ की गर्जना सुनाई पड़ी तो वे अत्यंत भयभीत होकर विह्वल हो उठे। भोलानाथ तो अपनी माँ की गोद से कभी अलग हुए ही नहीं थे। आज इस प्रकार पराये देश में विजातीय भूमि में अपने को नितान्त निराश्रय पाकर वे अत्यंत कातर हो गये। आँसुओं की धारा बहने लगी। वक्षस्थल प्लावित हो गया। रह रह कर घर की सुखस्मृति मन में जागने लगी। युवक को चित्त में निश्चय ही ऐसा लगा मानों मृत्यु आसपास घूम रही है। उसके पंजे से छूटने का कोई उपाय नहीं दीख रहा था। भय से ग्रस्त, चिन्ता से त्रस्त किसी तरह कुछ समय और बीता अपने बचावनहार की आतुर प्रतीक्षा में। पश्चिम आकाश में सुदूर नजर पहुँची। तो क्या दृश्य देख रहे हैं मानों एक ज्योतिर्मय गोलक आकाश मार्ग से उनकी ही ओर धीरे धीरे निकट चला आ रहा है।

नवोदित सूर्य किंवा पूर्णचन्द्र जैसे अखण्ड मण्डलाकार प्रकट होकर लोगों को आकाश में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ज्योतिर्मय मण्डल उनकी दृष्टि

के सामने आ गया। जैसे-जैसे वह समीप पहुँचने लगा, वैसे-वैसे उसके आकार की विशेषता स्पष्ट दिखाई देने लगी। दोनों नवयुवकों ने जब यह अपूर्व दृश्य देखा तो वे एकबारगी विस्मित और स्तंभित हो गये। जब वह और निकट आ गया तो देखने से और भी स्पष्ट मालूम हो गया कि दूर से जो ज्योतिर्मण्डल भासता था, वह वस्तुत: ज्योतिर्मण्डल नहीं है, बल्कि वह तो मनुष्य की मूर्ति है तथा जो प्रकाश उसे घेरे हुए है उसी का प्रभामण्डल है। मूर्ति आकाश मार्ग से नीचे उतरी। उसने दोनों युवकों को आशीर्वाद दिया। मूर्ति के मस्तक पर जटाजूट था, हाथ में त्रिशूल, ललाट में रक्त चन्दन की बिन्दी, गले में रुद्राक्ष की माला थी। मुख पर स्निग्ध और करुणापूर्ण हास्यरेखा शोभायमान थी। वह एक सिद्ध भैरवी की मूर्ति थी। भैरवी माता ने दयार्द्र स्वर से भोलानाथ को पुकारा तथा बँगला भाषा में कहा—"वत्स! तुम इतना रोते क्यों हो? तुम्हारा रोना देखकर मैं स्थिर नहीं रह सकी, अत: तुम्हारे पास मुझे दौड़ आना पड़ा।" इस प्रकार कहकर उसे अपनी गोद में उठा लिया और माता की नाईं वात्सल्य—प्यार से उसके समस्त शरीर पर अपना सुखस्पर्श हाथ फेरने लगी।

भोलानाथ ने सहज भाव से पूछा—"माँ! आप कौन हैं और आपका निवास स्थान कहाँ है? यहाँ मेरे रोने का पता आपको वहाँ पर कैसे चल गया और आप तुरन्त कैसे यहाँ आ पहुँचीं? यह सब देखकर मुझे इतना आश्चर्य लग रहा है कि मैं अवाक् हो गया हूँ!" भैरवी माता ने उत्तर दिया—"बेटा भोलानाथ! तुम अभी प्रकृति के रहस्य का भेद नहीं जानते! मैं कौन हूँ इसका परिचय अभी तुम्हें न दूँगी आगे समय होने पर तुम मुझे जान पाओगे। तब भी इतना जान रखो, मैं तुम्हारी जननी के तुल्य हूँ, तुम मेरी सन्तान के सदृश हो। मैं चाहे कहीं भी रहूँ, तुम मेरे पास में ही रहोगे। तुम तो नित्य निरन्तर मेरी नजर के सामने दीखते हो तब तुम किसी बात का भय क्यों करोगे? जो तुमको अपने साथ यहाँ पर लिवा आये हैं, वे और हम उभय एक ही सम्प्रदाय के हैं। वे हैं महापुरुष! समय होने पर वे तुमको स्वयं दर्शन देंगे। आज से तुमको किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। फिर भी यदि तुम कभी व्याकुल होवोगे तो मैं तुरन्त आ जाऊँगी। मेरे पास तुम्हें कोई संवाद भेजना न पड़ेगा। मेरा स्मरण करते ही तुम मेरा दर्शन पाओगे! बस, अब मैं जाती हूँ।" यों कहकर भैरवी माता क्षणमात्र में अन्तर्ध्यान हो गयीं।

बाद में पता चला कि इन भैरवी माता का नाम है—'उमा भैरवी'।

विन्ध्याचल में पाँच छः दिन व्यतीत होने पर दोनों युवकों के सामने ये ही महापुरुष फिर से आकर उपस्थित हो गये। इस बार जानने में आया कि उनका नाम है—'परमहंस नीमानन्द स्वामी।' उन्होंने इस बार भी दोनों आँखों पर

पहले जैसी पट्टी बाँध दी और उन्हें आगे ले गये। विन्ध्याचल से प्राय: सोलह मील दूरी पर एक आश्रम था। वहाँ पर कई एक साधु महात्मा इकट्ठे हुए थे। महापुरुष उसी स्थान में जाकर हाजिर हुए और भोलानाथ तथा हरिपद को उसी जगह छोड़कर महापुरुष चले गये। उस समय वहाँ पर एक गुहा के अन्दर 'श्यामा भैरवी माता' निवास कर रही थीं। दोनों युवक एक दिन मात्र वहाँ ठहरे थे। भैरवी माता ने दोनों की खूब खातिर की एवं भोजन का प्रबन्ध कर दिया। कुछ समय पश्चात् महापुरुष पुन: आ गये और उन्हें लेकर आगे बढ़े। वे लोग वहाँ से सन्ध्या समय बाद रवाना हुए। सबेरे जब आँखों से पट्टी खोली तो देखा कि वे एक अपूर्व स्थान में आ पहुँचे है पूछने पर बतलाया गया कि उत्तरापथ के मध्य में यह एक प्रसिद्ध तथा अतिदुर्गम योगाश्रम है।

*

चतुर्थ अध्याय

ज्ञानगंज की साधना

नील मेघों के समान चारों ओर उत्तुंग पर्वतमाला शोभा दे रही है। बीच-बीच में झरने तथा पहाड़ी नदियाँ कल कल निनाद करते हुए बह रही हैं।

मध्यस्थल में प्रायः सात आठ मील के घेरे में एक विराट आश्रम बसा हुआ है। आश्रम के चारों ओर परकोट का वेष्टन है। उसके चारों तरफ जलपूर्ण खाई खुदी हुई है। बाहर आने-जाने के लिए उस खाई पर एक सुन्दर धनुषाकार पुल बना हुआ है। आश्रम का एक एक स्तर सुसज्जित है। शिक्षाक्रम के हिसाब से प्रत्येक भाग सुन्दर सजाया हुआ है। आश्रम में योग और विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था अतिशय चमत्कारपूर्ण है। दीक्षा होने के बाद शिक्षा पाने के लिए आवश्यक ब्रह्मचर्य अवस्था का अधिकांश समय इसी जगह सबको बिताना पड़ता है, विज्ञान विभाग स्वतन्त्र है। वह सम्पूर्ण रूप से एक पृथक आचार्य के अधीन है। उन आचार्य का नाम है 'श्री श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस'। आश्रम के प्रमुख अधिष्ठाता हैं 'श्री श्रीमद्ज्ञानानन्द परमहंस'। यह स्थान अत्यन्त पुरातन है। कहा जाता है इसका प्राचीन नाम है 'इन्द्र भवन'।

लगभग पाँच सौ या छः सौ वर्ष हुए, इस प्राचीन स्थान का पुनरुद्धार करके पूजनीय श्रीयुत् ज्ञानानन्द स्वामी ने इसकी व्यवस्था तथा संरक्षण का भार ग्रहण किया। इस समय भी वही स्वयं इसके मुख्य अधिष्ठाता हैं। इस स्थान में बहुसंख्यक लोग निवास करते हैं। उनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ उल्लेख करने योग्य हैं—

१. ब्रह्मचारी युवक।

२. कुमारी। वे भी ब्रह्मचारिणी हैं।

३. विज्ञान के शिक्षार्थी। इनमें से अधिकतर प्रथम श्रेणी तथा द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

४. सिद्ध परमहंस। इस श्रेणी के जो महात्मा इस स्थान में हैं, उनकी संख्या भी बहुत ज्यादा है। इन सबकी उम्र इतनी लम्बी है कि साधारण लोगों के विश्वास में भी नहीं आ सकती। दो सौ तीन सौ वर्ष से लेकर हजार वर्ष से अधिक अवस्था वाले लोग भी यहाँ अभी वर्तमान हैं। सिद्धावस्था प्राप्त

महापुरुषों में से कितने ही महात्मा निराहार रहते हैं। किन्तु जिन्होंने उतना उत्कर्ष लाभ नहीं किया, वे थोड़ा सा कुछ भोजन ग्रहण कर लेते हैं।

उक्त ज्ञानगंज में भोलानाथ और हरिपद प्रायः नौ दस दिन तक ठहरे थे। फिर उनको पूज्यपाद नीमानन्द स्वामी अपने गुरुदेव श्री श्रीमत् महातपा के पास ले गये और उनका परिचय करा दिया। ऐसा सुना है कि महातपा की अवस्था बारह सौ वर्ष से भी और ऊपर हो चुकी है। वे एक अत्यन्त शक्ति सम्पन्न महायोगी पुरुष हैं। वे साधारणतः उपर्युक्त योगाश्रम में नहीं रहते। उनका कोई आश्रम नहीं है। तिब्बत में जिस स्थान में वे रहते हैं, वहाँ पर एक गुहा है उसके अन्दर श्री राजराजेश्वरी देवी की पाषाण मूर्ति स्थापित है, इसलिए वह स्थान 'राजेश्वरी मठ' कहलाता है। वस्तुतः उस ठौर में घर-द्वार कुछ भी नहीं है। वहाँ पर जिनका निवास है, उनको घर बार की कोई आवश्यकता ही नहीं है। महर्षि महातपा अधिकतर इसी स्थान में ठहरते हैं। कभी-कभी योगाश्रम में आते हैं। कभी-कभी अपनी गुरु माता क्षेपा माई के पास मनोहर तीर्थ में भी हो आते हैं। इस हिमवत् प्रदेश में उक्त योगाश्रम जैसे और भी कई मठ हैं। वे सभी मठ राजराजेश्वरी के शासनाधीन हैं। महर्षि बहुत बातचीत नहीं करते। हमेशा ही अपने भाव में विलीन रहते हैं।

बाह्य जगत के समाचार से उनको कुछ मतलब नहीं। उनके प्रधान शिष्य श्री श्रीमद् भृगुराम परमहंसदेव ही सब मठों के प्रधान अधिष्ठाता और कार्यकर्ता हैं। वे ही परिदर्शक, नियामक और परीक्षक अर्थात् सब कुछ हैं।

ऊपर हमने परमहंस नीमानन्द, श्यामानन्द और ज्ञानानन्द की चर्चा की है। वे सब इन्हीं भृगुराज स्वामी के गुरु-भाई हैं। इनमें भृगुराज स्वामी योगैश्वर्य में एकमेवाद्वितीय हैं।

महर्षि महातपा ने शिरः स्पर्श पूर्वक शक्ति संचार करके भोलानाथ को बीजमंत्र प्रदान किया। अर्थात् दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया आज भोलानाथ का जीवन सार्थक हो गया। पागल कुत्ते के काटने से एक दिन जिनके जीवन का अन्त हो जाने का समय आ गया था, आज उन्हीं के लिए भारत के एक अतिशय महान् सिद्ध महापुरुष के अनुग्रह से चिदानन्दमय अनन्त जीवन का द्वार खुल गया। अमरत्व का पथ प्रकाशमान हुआ, शाप वरदान में परिणत हो गया।

आज से भोलानाथ के नवजीवन का सूत्रपात हुआ। देह वेध की क्रिया आरम्भ हो गयी। प्राकृत जीवन ने अप्राकृत स्पर्शमणि के स्पर्श से काञ्चन आभा धारण की। इतने दिन तक जो युवक असाधारण होने पर भी साधारण श्रेणी में ही गिना जाता था, वही आज गुरुकृपा से वास्तव में असाधारणता को प्राप्त हुआ।

आज अभिनव जीवन के सन्धि क्षण में हम इन दिव्यधाम के यात्री को भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

दीक्षा हो चुकने के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुछ दिन योगाश्रम में रहना पड़ता है। वहाँ की शिक्षा प्रणाली अति विचित्र है। परमहंस श्यामानन्द के पास भोलानाथ सूर्य विज्ञान की शिक्षा पाते थे और परमहंस भृगुराज स्वामी उनको योग की शिक्षा देते थे। दोनों शिक्षाएँ बहुत दीर्घकाल तक लेनी पड़ती हैं। अनेक वर्ष पर्यन्त घोर परिश्रम, असीम धैर्य और अथक कर्तव्यपालन द्वारा भोलानाथ विज्ञान तथा योग उभय विद्याओं में पारंगत हो गये.

विज्ञान का नाम सुनकर कोई यह न समझ ले कि पाश्चात्य विज्ञान की भाँति यह विद्या भी जड़ विज्ञान की है। वस्तुत: जड़ कहने योग्य तो कोई पृथक् वस्तु है ही नहीं। जिसको हम लोग साधारणतया जड़ कहते हैं वह बिल्कुल जड़ नहीं है।

विज्ञान शब्द का अर्थ है 'विशिष्ट ज्ञान' और इसी विज्ञान के विषय जड़ तथा चेतन दोनों ही हैं। सूर्य उक्त विज्ञान का केन्द्रस्वरूप और प्रधान आश्रय है। अत: इस विज्ञान को 'सूर्य विज्ञान' भी कहा जाता है। शास्त्र में लिखा है कि एक ऐसा पदार्थ है, जिसका ज्ञान होने से सब विषयों का विज्ञान स्वत: अपने आप ही उपलब्ध हो जाता है। श्रुति का यह अनुशासन ब्रह्मविज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है। किन्तु उस विज्ञान का क्या स्वरूप है, उसको किस प्रकार से कार्य रूप में प्राप्त किया जाता है इस बात का जिन्होंने विशेष रूप से अनुसन्धान किया है, वे जानते हैं कि सूर्य ही एक मात्र सब विज्ञानों का मूलाधार है। सृष्टि, स्थिति, संहार अर्थात् जगत के समस्त व्यवहार सूर्य के अधीन हैं। इच्छा-शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रसार सूर्य से ही होता है। इतना ही नहीं, देवयान पथ का लक्ष्य-स्वरूप सूर्य ही है। उसको यदि मुक्ति का द्वार कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। विशुद्ध आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूप उपलब्धि के लिए सौर तत्त्व का आश्रय ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है अतएव योग का जो चरम उद्देश्य है, वही विज्ञान का भी है। सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर जाना जाता है कि विज्ञान भी एक प्रकार का महायोग है, एवं जिसको हम लोग योग कहते हैं वह भी मूलत: विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दोनों में केवल प्रणाली का भेद है। अतएव साधन के पक्ष में दोनों ही समानरूप से आवश्यक हैं। योगपथ में विज्ञान और विज्ञान पथ में योग परम सहायक है।

सूर्य विज्ञान आयत्त होने पर अन्यान्य विज्ञान, जो कि उसी के अंग हैं, सहज में ही आयत्त हो जाते हैं। जिस प्रकार योग शास्त्र में सर्व-ज्ञातृत्व एवं सर्व भावाधिष्ठातृत्व नामक विशिष्ट सिद्धि को खण्ड-सिद्धि का चरम उत्कर्ष माना

जाता है, उसी प्रकार विज्ञान राज्य में सूर्यविज्ञान को प्रमुख माना गया है। चन्द्र विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, वायु विज्ञान स्वर-विज्ञान, देव विज्ञान प्रभृति सौर विज्ञान के अन्तर्गत खण्ड विज्ञान विशेष मात्र हैं।

भोलानाथ ने अपने अनन्य साधारण प्रतिभा-बल से योग और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में बराबर प्रवीणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार का मणि कांचन योग कहीं देखने में नहीं आता। प्राचीन ऋषियों में शिक्षा का जो समुत्कर्ष था, उसे इन्होंने गुरु की कृपा तथा अपने अध्यवसाय के जोर से ठीक उपार्जन कर लिया। उसी के द्वारा वे जगत, जगदीश्वर एवं अनादि महाशक्ति का रहस्य प्रत्यक्ष करने में समर्थ हुए हैं। प्राकृतिक शक्तिमाला को अपनी इच्छा के वशवर्ती करने का अधिकार उन्होंने प्राप्त किया है।

लक्ष्य और अपने बीच में किसी प्रकार का आवरण रहने नहीं दिया। केवल शास्त्र वाक्य के श्रवण मात्र से धर्मजीवन प्राप्त नहीं होता। शास्त्र वाक्य आर्ष है और एक प्रकार से भ्रांति रहित है फिर भी वह पूर्ण ज्ञान प्रसव करने में समर्थ नहीं है। खाली वाक्य द्वारा वस्तु विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और बिना प्रत्यक्ष हुए आवरण भी नहीं हटता। गुरु उपदेश का अवलम्बन करके धैर्य, श्रद्धा, संयम और अध्यवसाय के साथ अक्लान्त भाव से कठोर तपस्या कर भोलानाथ ने जिस गम्भीर सत्य को हृदय के अन्तर्देश में उपलब्ध किया है एव जिस संशयरहित परिपूर्ण विज्ञान तत्व को आयत्त किया है, वह केवल पोथी पढ़ने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

उन्होंने बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन कर बड़े कठिन परिश्रम से साधना की थी। शिक्षा प्राप्ति के लिए बहुत काल तक हिमालय में रहकर अभ्यास के लिए अनेक स्थानों में पर्यटन किया। एक एक स्थान में दीर्घ समय तक टिके रहकर तपस्या की थी। किसी जगह कोई संगी साथी होता; तो कहीं कहीं कोई भी नहीं रहता था। कभी कभी उन्हें फल-मूल खाकर रहना पड़ता था। और कभी-कभी वे भी नहीं जुटते थे; ऐसी दशा में कई दिन बिना आहार के ही बीतते थे। निविड़ वन में, गिरि गुहा में, सर्दी गर्मी सहते हुए, हिंसक पशुओं के विचरने के स्थानों में निज प्राण हथेली में लेकर निवास करना पड़ता था। कहीं यदि मनुष्यों के गाँव घर पास में पड़ते तो वहाँ से भिक्षा संग्रह कर लाने का आदेश था किन्तु भिक्षा के लिए याचना करते फिरने का नियम कदापि नहीं था। गृहस्थ के द्वार पर पहुँचकर खड़े होने पर भिक्षा-पात्र देखकर यदि कोई स्वयं कुछ देता तो बहुत ठीक। फिर अन्यत्र जाने का कोई प्रयोजन नहीं था। भिक्षा चाहे अल्प, चाहे अधिक जो कुछ भी मिल जाती, उतने में ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था। परन्तु जब बिल्कुल कुछ भी नहीं मिलता था, तब आगे दूसरे घर पर जा सकते थे

यदि उस द्वार पर भी कुछ न मिलता तो तीसरे घर के दरवाजे तक पहुँचने की अनुमति थी। परन्तु वहाँ यदि कुछ न पाया जाता, तो आगे के लिए पुनः चेष्टा करना मना था। फिर उस दिन निराहार ही रहना होता था।

यह सबकुछ था केवल भगवान पर निर्भर रह सकने की शिक्षा के उद्देश्य से। अहंकारवश हम लोग मान लेते हैं कि हम ही हैं कर्ता धर्ता। मानों हमारी व्यक्तिगत चेष्टा से ही सब कुछ हो जाता है। परन्तु यह है भ्रान्त धारणा।

जो विराट शक्ति जगत के अन्तर में रहकर अनन्य भाव से समग्र जगत का संचालन करती है, जिसके नियन्त्रण से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु वरुण प्रभृति यावतीय पदार्थ अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म यथानियम करते रहते हैं और तिल मात्र भी कर्तव्यच्युत नहीं हो सकते, जिसके मंगलमय विधान से सन्तानप्रसव के पूर्व ही उसके आहार के लिए माता के स्तनों में अमृतधारा की व्यवस्था हो जाती है, उसी विश्वजननी आनन्दमयी महाशक्ति पर यदि निर्भर रह सके तो जीव को फिर चिन्ता ही किस बात की। जिस समय सुख-दुःख में, उत्थान पतन में, बाहर भीतर, सोते जागते सभी अवस्थाओं में एकमात्र उनकी ही मंगलमय सत्ता का साक्षात्कार होने लगता है, उस समय क्षुद्र अहंकार न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार नक्षत्र पंक्ति, अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार फिर अहंकार का पता ही नहीं रह जाता। ब्रह्मचर्य अवस्था में जीवन इस प्रकार नियमित करना होता है, जिससे कि साधक के अहंकार का दमन होकर प्रकृत निर्भर-शीलता की उपलब्धि हो सके। जो साधक निर्भरशील हो जाता है, उसे कोई भय या उद्वेग नहीं हो पाता। उसका योग क्षेम फिर स्वयं भगवान ही वहन करते रहते हैं, ब्रह्मचारी भोलानाथ के जीवन में ऐसी घटना कितनी बार घटित हुई जिसकी कोई गिनती नहीं।

हमने स्वयं उनके श्रीमुख से सुना है कि जब वे गिरनार में निवास करते थे, उनको तीन दिन निराहार रहना पड़ा था। निकट में कहीं कोई बस्ती न होने से भिक्षा संग्रह करने का भी कोई उपाय नहीं था। ब्रह्मचारी के लिए देह की रक्षा के हेतु बहुत उत्कट पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने का निषेध है। अतएव दूर से भिक्षा माँग लाकर आहार प्राप्ति की चेष्टा न कर वे अपने इष्ट मंत्र का स्मरण करते करते एक गुहा के अन्दर जाकर लेट गये। मन में लगने लगा कि अब इस बार के निराहार से देहपात अवश्यम्भावी है। क्यों कि किसी पथिक के उधर अकस्मात् आ निकलने की कोई सम्भावना नहीं थी। पथ हीन भयावह निर्जन भूमि थी और वहाँ पर चारों ओर हिंसक जन्तु निरन्तर चलते फिरते रहते थे। यदि कोई भूला भटका मनुष्य कभी कारणवश उधर आ भी गया तो उससे भिक्षा मिलने की आशा व्यर्थ। भोलानाथ आँखें मूँदकर गुरु-दत्त इष्ट नाम का ध्यान

करने लगे। इसी तरह ध्यान में कुछ समय बीतने पर उनके समस्त शरीर में तन्द्रा व्यापने लगी। जब थोड़ी देर बाद तन्द्रा से जागकर उठे तो चारों ओर जो दृश्य देखा, उससे आश्चर्य की सीमा न रही। देखते क्या हैं कि उनके सम्मुख दस पन्द्रह मिट्टी के पात्र नाना प्रकार की खाने पीने की स्वादिष्ट सामग्री से भरे, सजाये रखे हैं। औटाया दूध, लावे के लड्डू, चिवड़ा नानाविध मिष्टान्न और फल, सुपेय शरबत ये सब देखकर जगदम्बा की असीम कृपा का स्मरण करते-करते उनकी आँखों से आँसू बरसने लगे। तीन दिन निराहार पड़े रहे, इस बात का पता इस जगत के किसी भी व्यक्ति को नहीं था और न इसकी कोई सम्भावना ही थी। इस भयानक अरण्य के बीच में, एकान्त गुहा के भीतरी भाग में ठीक उन्हीं के सामने ये सब खाने-पीने के पदार्थ कौन रख गया? खाद्य वस्तुओं में से अधिकतर बंग देश की सुपरिचित भोज्य चीजें थी। वे सब इधर इतनी दूर पश्चिम प्रदेश में किसने पहुँचायीं? यह तो स्नेहमयी विश्वजननी के स्नेह का ही निदर्शन है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव करके भोलानाथ प्रेम एवं आनन्द से गद्‌गद् हो गये। इस प्रकार की घटनाएँ उनके जीवन में अनेक बार हो चुकी हैं।

*

पञ्चम अध्याय

संन्यासी भोलानाथ और योग विभूति के चमत्कार

ब्रह्मचर्य अवस्था से उत्तीर्ण होकर मठ के नियमानुसार भोलानाथ ने दण्ड ग्रहण किया और 'दण्डी' हुए।

चार वर्ष तक विधिपूर्वक दण्ड धारण कर उसका परित्याग किया और संन्यास ग्रहण किया। संन्यास अवस्था में वे लगभग चार वर्ष तक रहे। इन आठ वर्षों में उन्होंने भारतवर्ष के बहुत से तीर्थस्थानों में भ्रमण किया और नाना प्रकार का लौकिक ज्ञान प्राप्त किया। तपस्या की तो बात ही क्या कही जाय उनका सम्पूर्ण जीवन ही उत्कट तपस्या का उज्जवल निदर्शन है। जिन समस्त लोकोत्तर विभूतियों से उन्होंने आजकल सब लोगों को चकित एवं स्तम्भित कर दिया है और उनके सामने स्थूल तत्त्व से अतीत एक विराट शक्ति सत्ता का प्रतिपादन किया है, उन सब सिद्धियों का स्फुरण उनमें तभी से होना आरंभ हो चुका था, जबकि वे ब्रह्मचर्य अवस्था से उत्तीर्ण हो चुके थे। दण्डी और संन्यासी अवस्था में उन सिद्धियों का विशेष रूप से विकास हुआ।

योग विभूति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ है इस विषय का विशेष विवेचन यथास्थान विस्तारपूर्वक किया जायेगा। यहाँ प्रसंग वश एक-दो बातें ही कहनी हैं।

आत्मज्ञान का उन्मेष न हो तो योगविभूति प्रकाशित नहीं हो पाती। भगवान शंकराचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में 'सर्वात्म भाव' को महा विभूति कहकर वर्णन किया है। सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है कि पुरुष धावमान होने पर जैसे उसकी छाया उसके पीछे-पीछे भागती है, उसी प्रकार आत्मा वा ईश्वर का स्वरूप उपलब्ध होने पर ऐश्वर्य का प्रकाश अपने आप प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा से भिन्न ऐश्वर्य की सत्ता नहीं है। ब्रह्मचर्य अवस्था में बिन्दु का शोधन होता है और स्थिरता का सम्पादन होता है। वही है जीव-देह का सत्व। उसके शुद्ध और स्थिर होने पर अर्थात् साधन-बल से देह शुद्ध होने पर भूत-शुद्धि तथा चित्त शुद्धि पर अधिकार हो जाता है। उस समय फिर सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आप ही उपस्थित हो जाती हैं। उनके लिए अलग से चेष्टा नहीं करनी पड़ती।

इसी विशुद्ध अवस्था में भोलानाथ ने योगी जन-वांछित अत्यन्त दुर्लभ एवं दुष्कर 'नाभि-धौति क्रिया' प्राप्त कर ली थी । अति दीर्घकाल तक तपस्या

करके और कठोर नियम पालन करके बहुत प्रकार से क्षमता सम्पन्न हो चुकने पर भी बहुतों को यह अति दुर्लभ 'नाभि धौति क्रिया' सिद्ध नहीं होती। इसी से जाना जा सकता है कि प्रकृत योग मार्ग में इस क्रिया का कितना बड़ा ऊँचा स्थान है। कहा जा सकता है कि एक प्रकार से योग की यह अन्तिम क्रिया है। ऐसा सुना है कि एक दिन उन्होंने नाभि-धौति और किरात-धौति सीखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु वह तो गुरु से सीखी जाती है, केवल अपनी चेष्टा से अथवा बहुत थोड़े ही समय में कोई उसे नहीं सीख सकता। उन्होंने नाभि धौति-क्रिया सीखने की इच्छा प्रदर्शित की है ऐसा जब सुना, तो योगाश्रम में रहने वाले एक योगी ने उनसे कहा—"भोलानाथ! तुम वामन होकर चन्द्रमा पकड़ना चाहते हो।" हम बहुत दीर्घकाल से सौ वर्ष से अधिक हुए, कठोर परिश्रम कर रहे हैं। तो भी इस क्रिया रत्न को नहीं पा सके और तुम बालक होते हुए भी उसको प्राप्त करने की इच्छा दिखाते हो? तुम्हारी धृष्टता कुछ कम नहीं है। भोलानाथ ने उत्तर दिया—"आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सच है। किन्तु जगत में क्या ऐसे शक्तिशाली पुरुष नहीं है कि जो अपने क्षमता बल से मुझे मेरी इस छोटी अवस्था में ही शिक्षा देकर तदनुरूप योग्यता उत्पन्न करा दे सकते हैं।" यह सुनकर योगिवर उनका नाना भाँति उपहास करने लगे। तब भोलानाथ बोले "आपकी धारणा सत्य नहीं है। मेरे हृदय में दृढ़ विश्वास है कि दादा गुरुदेव (अर्थात् भृगुराम परमहंस महाशय) जब इच्छा करेंगे अवश्य ही मुझे 'नाभि-धौति' स्वायत्त करा देंगे।" उक्त योगिवर एक अत्यन्त दीर्घ जीवी, प्रतिष्ठा सम्पन्न और क्षमतावान पुरुष थे; और फिर एक बड़े मठ के अध्यक्ष भी थे। इसलिए एक अल्पवयस्क युवक का उनकी बात को काटने की हिम्मत करना उन्हें सहन नहीं हुआ। उन्होंने भोलानाथ को चिढ़ा कर दण्ड देने का भय दिखाया। भोलानाथ के हृदय को कड़ी चोट लगी और वे रोने लगे। ठीक उसी समय स्वयं श्रीयुत भृगुराम स्वामी[1] आकाश मार्ग से आकर उपस्थित हो गये। भोलानाथ को वे प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। भोलानाथ को मर्म पीड़ित देखकर उन्होंने उन्हें सान्त्वना दी; और उक्त योगिवर के प्रति कुछ उग्र-भाव धारण करके उनके अन्याय पूर्ण व्यवहार के लिए तीव्र दण्ड की व्यवस्था की और उसी मुहूर्त में भोलानाथ को स्वयं 'नाभि-धौति-क्रिया' की शिक्षा दी।

---

१. पूज्यपाद श्रीयुत भृगुराम परमहंस देव आकाश मार्ग से ही हमेशा आते जाते हैं। वे कभी भी भूमि का स्पर्श नहीं करते। स्थूल देह समेत सूर्य लोक में गमन करने की क्षमता वर्तमान युग में एकमात्र उन्हीं में है, ऐसा सुना जाता है। कहना न होगा कि उनकी स्थूल देह हम लोगों के शरीर जैसी पञ्चभौतिक तथा षट् कोशात्मक देह नहीं है, वह है सिद्ध देह।

शत शत वर्ष दुष्कर तपस्या और कठिन नियम पालन करने पर भी जिस क्रिया का अधिकार प्राप्त नहीं होता आज उसी क्रिया को एक निमेष में अपनी इच्छा शक्ति के प्रभाव से एक नवयुवक को उन्होंने दे दिया। शक्तिशाली योगी की क्षमता की सीमा नहीं है। तब से कुछ दिन तक नियमित रूप से अभ्यास करते हुए भोलानाथ ने नाभि धौति की क्रिया में पूर्णता प्राप्त कर ली।

'किरात धौति' नाभि धौति की ही उन्नत अवस्था विशेष है। एक मलमल का या कोई अन्य शुद्ध वस्त्र का पच्चीस तीस हाथ लम्बा टुकड़ा नाभि से मुखपर्यन्त यथाविधि अनुलोम तथा विलोम प्रणाली से शरीर के भीतर बार बार चलाया जाता है। इस धौति कार्य का जबतक भली-भाँति अभ्यास नहीं हो जाता, तब तक 'खेचर'[१] वा आकाश गमन की पूरी शक्ति प्राप्त नहीं होती। दीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर प्रचलित 'कुम्भक' के द्वारा भी शून्य में ऊपर उठा जा सकता है, किन्तु उत्थित अवस्था में बातचीत नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि कोई-कोई भूमि से ऊपर उठने पर बाह्यज्ञान शून्य हो जाते हैं। इसके अलावा ऊपर हवा में चलते समय कभी कभी प्रतिकूल वायु प्रवाह के धक्के से नीचे गिर पड़ने का भी डर रहता है।

'नाभि-धौति' क्रिया में परिपक्वता प्राप्त कर चुकने पर देह शून्य' मय हो जाती है। समस्त देह को संकुचित या प्रसारित कर सकने की शक्ति का विकास हो जाता है। तब एक लोम कूप के द्वार से किसी अति बृहत् पदार्थ को भी शरीर के अन्दर प्रवेश करा सकते हैं। शरीर के किसी भी अंग या भाग को स्वेच्छानुसार[२] छोटा या बड़ा बनाया जा सकता है।

---

१. इसीलिए 'अमनस्क' 'योग बीज' प्रभृति योग शास्त्र के ग्रंथों में 'योग देह' को 'आकाश देह' कहकर वर्णन किया गया है।

२. स्वेच्छानुसार देह को संकुचित और प्रसारित करते बनने पर अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ सहज सुलभ हो जाती हैं। पूज्यपाद बाबा की देह में प्रायः तीन चार सौ स्फटिक गोलक (Crystal balls) छिपे हुए हैं मस्तक के अन्दर बाणलिंग, शालिग्राम, स्फटिक माला आदि यथा स्थान सजाये हुए रखे हैं, प्रयोजन होने पर उनको बाहर निकाल लेते हैं और फिर से भीतर रख लेते हैं, उन्हें यह करते हुए बहुत लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है जप की माला शिर के अन्दर रखने की बात शास्त्रों द्वारा बहुत से लोगों ने सुन रखी है परन्तु प्रत्यक्ष देखने का प्रसंग बहुत कम लोगों को पड़ा है बड़े बड़े स्फटिक-गोलक रोम छिद्रों में से देह के भीतर प्रविष्ट कराते हुए और बाहर निकालते हुए उन्हें हमने अनेक बार स्वयं देखा है। शरीर के एक भाग में प्रविष्ट कर भीतर ही भीतर देह के दूसरे भाग में ले जाते देखा है। कभी-कभी संकोच प्रसार से एक दो स्फटिक अपने आप ही देह से बाहर छिटक पड़ते थे। देह से निकले हुए स्फटिक आदिकों में अति उग्र तथा विशुद्ध पद्म गन्ध बहुत देर तक पायी जाती थी। तीव्र रूप से योग क्रिया करने पर देह के भीतर भयानक ताप और अति उग्र तड़ित शक्ति का विकास होता है,

'किरात-धौति' के द्वारा देह शुद्ध करके फिर चाहे जिस किसी अंग में वायु पूर्ण भर रख सकने की क्रिया का नाम 'किरात कुम्भक' है। इस कुम्भक के बल से शून्य में ऊपर उठने पर बातचीत करने में कोई भी बाधा नहीं पड़ती। यहाँ तक कि भाषण करते करते ही साथ साथ ऊपर उठ सकते हैं। बाह्यज्ञान बना रहता है तथापि बाह्य विषयों से निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है। नासिकादि द्वारा वायु ग्रहण करने की क्रिया में यह सब कुछ साधारणतया नहीं होता। 'परकाया प्रवेश' के लिए भी साधारण कुम्भक की अपेक्षा 'किरात-कुम्भक' अधिक उपयोगी है। 'किरात कुम्भक' के द्वारा शरीर के भीतर जब विशुद्ध वायु भर ली जाती है तब किसी भी बाहरी आक्रमण से वह कदापि अभिभूत नहीं हो सकता। अत्यन्त बलवान और शक्तिशाली तेजो राशि के दर्शन और संस्पर्श से भी 'किरात कुम्भक' की अवस्था में बाह्य चेतना कदापि लुप्त नहीं होती।

जब भोलानाथ देश देशान्तर में भ्रमण करते थे, तब कभी कभी बर्धमान में आकर अपनी जननी के साथ भेंट करके पुनः चले जाते थे। इस प्रकार का मातृ भक्त और एकनिष्ठ मातृसेवक देखने में नहीं आया। जिस बात से माता के मन को दुःख होने की तनिक सी भी सम्भावना हो ऐसा काम वे कभी करते ही नहीं थे।

भोलानाथ के बड़े भाई भूतनाथ चट्टोपाध्याय वर्धमान में रहकर डॉक्टरी का व्यवसाय किया करते थे। वे भोलानाथ को बहुत ही प्यार करते थे।

यद्यपि भोलानाथ अवस्था में उनसे छोटे थे तथापि भोलानाथ की अलौकिक तपःशक्ति से प्रभावित होने के कारण वे भोलानाथ के प्रति विशेष भक्ति-भाव रखते थे। भोलानाथ भी अपने उन ज्येष्ठ भ्राता का यथेष्ट सम्मान करने में कभी चूकते नहीं थे। एकबार भूतनाथ बाबू अपने छोटे भाई से बड़े आग्रह से कहने लगे—"भोलानाथ! मैंने सुना है कि तुमने साधना बल से असाधारण शक्ति प्राप्त कर ली है। मेरी बहुत दिनों की एक इच्छा अपूर्ण रह गयी है। यदि तुम अपनी तपस्या के बल से मेरी वह आकांक्षा पूरी कर सको तो मैं अपना जीवन धन्य समझूँगा। मेरा और कोई दूसरा अनुरोध नहीं है; मेरी एकमात्र इच्छा यह है कि मैं स्वर्गीय पितृदेव का फिर से दर्शन करूँ। सुनता हूँ जीव नित्य है, आत्मा अविनाशी है, परिवर्तन जो कुछ भी घटित होता है, वह केवल रूप का।

इसे शांत रखकर शरीर का साम्य सन्तुलित रखने के लिए देह के स्तर स्तर में स्फटिक के शीत स्पर्श गोलक सजाकर रखे जाते हैं। किरात योग का अभ्यास किये बिना यह सब कुछ बन नहीं सकता। इस विषय में हमने जो कुछ स्वयं समझा तथा पूज्य बाबा के पास प्रत्यक्ष देखा, उन सबका वर्णन अगले भाग में विस्तार से करेंगे। यहाँ पर इन बातों की आलोचना अनावश्यक है।

किन्तु योगी योगबल से भूतकाल के तथा भविष्यत के रूप को भी सामने प्रकट करके दिखा सकते हैं। मुझे विश्वास है कि तुम इच्छा करोगे तो मेरी यह साध पूरी कर सकोगे।" भोलानाथ बोले—"दादा! आप जो कह रहे हैं, वह सत्य है। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो योगबल से अथवा विज्ञानबल से सम्भव न हो। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् शोकातुर गान्धारी को व्यासदेव ने परलोकगत आत्मीय स्वजनों के दर्शन कराये थे। प्रत्येक योगी केवल इच्छामात्र करने से यह सब कुछ दिखा सकता है। उसी प्रकार जो कोई विज्ञानवेत्ता है जो कि प्रकृति के रहस्य भेद करने में समर्थ है, वह विज्ञानबल से यह कार्य कर सकता है। किन्तु दादा! देखने मात्र से क्या लाभ होगा? समझ लीजिए कि अमर तो सभी हैं, मृत्यु तो केवल वेश-परिर्वतन मात्र है। जिस रूप को एकबार इस जगत में देख चुके हैं, उसके मरने के पश्चात् यदि आप वही रूप पुनरपि क्षण भर के लिए भी देख पायेंगे, तो उस समय आप धैर्य नहीं रख सकेंगे। इससे अच्छा तो यह है कि जो कुछ मंगलमय के मंगल विधान से एकबार घट चुका है, उसे नतमस्तक होकर स्वीकार कर लें। बहुत अस्थिर न हों।" परन्तु भूतनाथ बाबू ने इस बात को नहीं माना। उन्होंने बारम्बार आग्रह किया। भोलानाथ को मालूम था कि परलोकगत अपने किसी प्रिय जन को यदि कोई देख ले तो आत्मसंयम के अभाव में तत्क्षण उन्मत्त सा हो उठेगा। इसीलिए उन्होंने नम्रता के साथ प्रतिवाद करने की चेष्टा की। किन्तु जब देखा कि दादा किसी प्रकार अपना आग्रह छोड़ने को राजी नहीं हैं, तब अन्त में भोलानाथ को उनकी बात माननी पड़ी। तब उनके आदेशानुसार एक घर सुसज्जित किया गया। वहाँ पर एक शय्या बिछायी गयी। ठीक समय पर स्वर्गीय पितृदेव की मूर्ति उसी रूप में जैसे कि पहले से परिचित थी, उस शय्या पर आ गयी। और जो प्रश्न किये गये, उनके उचित उत्तर भी दिये।

लगभग पन्द्रह मिनट तक मूर्ति ठहरी थी। फिर वह अदृश्य हो गयी। भूतनाथ बाबू ने जब अकस्मात् इस प्रकार पितृदेव का दर्शन किया, तब वे अतिशय आश्चर्यचकित हुए, साथ साथ उनके मन पर विशेष रूप से धक्का लगा था।

ऐसे ही एक बार और भी वे घूमते-घूमते वर्धमान पहुँचे। देखा कि भूतनाथ बाबू सांघातिक रोग से पीड़ित हैं। नाना प्रकार के औषधोपचार से भी कोई लाभ नहीं हो रहा। भोलानाथ ने अपने असाधारण तपोबल से बड़े भाई साहब को तुरन्त रोगमुक्त कर दिया और जब वे जाने लगे तो उन्हें एक कवच दे गये थे। तदर्थ भूतनाथ बाबू को प्याज और अण्डे खाने का निषेध कर गये थे। इस सम्बन्ध में अपनी भाभी को भी विशेष रूप से सावधान कर गये थे। किन्तु भूतनाथ बाबू ऐसे व्यक्ति थे कि किसी नियम का लगातार पालन करना

उनके लिए कठिन था। जब नियम भंग कर डाला, दुर्दैव योग से उनपर फिर से भाँति-भाँति के रोगों का आक्रमण होने लगा। इस बार उनकी दशा इतनी शोचनीय हो गयी कि पुत्र का घोर कष्ट देखकर के उनकी माता को स्वयं प्राणान्तिक वेदना का अनुभव होने लगा। भोलानाथ उस संकटकाल में किसी अति दूर देश की यात्रा में थे। किन्तु वे चाहे कितनी ही दूर क्यों न हों, दैशिक व्यवधान से क्या जबकि भीतर प्राण के साथ प्राण का अतिनिकट घनिष्ट योग-सूत्र काम कर रहा है। अपनी माता की हृदय वेदना को अन्तर्दर्शी महापुरुष ने अतिशय दूरी होते हुए भी प्राण के सम्बन्ध से तुरन्त ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया। विद्युतवेग से वे बण्डूल ग्राम में आ उपस्थित हुए एवं अपनी माँ से स्पष्ट शब्दों में बोले—"माँ! दादा अबकी बार बच नहीं सकेंगे। उनका इस जीवन का अन्तिम समय समीप आ गया है।" ऐसा कह कर उन्होंने उनकी मृत्यु का दिन, तारीख और समय ठीक ठीक बतला दिया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो मुहूर्त वे बतला गये थे, भूतनाथ बाबू की इस जन्म की मानवलीला उसी अचूक समय पर समाप्त हुई। जननी पुत्र-शोक से व्याकुल हो गयी। जो माँ को प्राण से भी अधिक चाहते थे, उन भोलानाथ ने माता का अंग छूकर उनका शोक दूर किया और नाना प्रकार के अलौकिक, दिव्य दर्शन उनको प्रत्यक्ष दिखाये। इस प्रकार माता को धैर्य प्रदान करके दो-तीन दिन बाद वे पुनः चले गये।

जब भूतनाथ बाबू की कन्या का विवाह हुआ, भोलानाथ ने तत्संबंधी अपना कोई भी मत प्रकाशित नहीं किया था।

आत्मीय स्वजनों ने सब प्रकार से व्यवस्था करा कर विवाह कार्य सम्पन्न करा दिया। तब आगे चलकर यथा प्रसंग भोलानाथ ने अपनी माता के पास भविष्य में होने वाली घटना का चित्र स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया। उन्होंने कह दिया—"विवाह के कुछ दिन पश्चात् ही वैधव्य अवश्यम्भावी है।" ठीक वही घटित हुआ।

*

षष्ठ अध्याय

योग-ज्योतिष द्वारा चिकित्सा

संन्यास आश्रम की अवस्था पार कर चुकने पर परमाराध्य गुरुदेव के आदेश से भोलानाथ चिकित्सा व्यवसाय करने के लिए उद्यत हुए। वे अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न नवयुवक थे। बँगला भाषा में प्रकाशित जितने भी चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थ थे, अल्प समय के भीतर ही उन्होंने अच्छी तरह पढ़ डाले और चिकित्सा का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। कठोर साधना करके जिन्होंने समस्त दुर्लभ सिद्धियाँ हस्तगत कर ली थीं, मनोवृत्तियों के उदय, अस्त तथा हेतु जिन्होंने सम्पूर्ण रूप से जानकर उन्हें अपने वश में कर लिया था, उनके लिए नये शास्त्र का अध्ययन कर उसके मर्म को शीघ्र से शीघ्र ग्रहण कर लेने में कोई आश्चर्य की बात न थी। गुरुदेव के अनुग्रह से, अपनी प्रतिभा के विकास से, यथोचित पुरुषार्थ के प्रभाव से चिकित्सा विज्ञान उन्होंने सहज में ही भली-भाँति सीख लिया।

वर्धमान जिले के अन्दर गुष्करा नाम का एक ग्राम है। ग्राम कोई बहुत बड़ा नहीं। ईस्ट इण्डिया रेलवे की लूप लाइन इस गाँव से होकर जाती है। लाइन के ठीक ऊपर गुष्करा नाम का स्टेशन भी है।

इस ग्राम में चोंगदार वंश के एक समृद्धशाली एवं प्रसिद्ध जमींदार रहते थे। इस परिवार के हरिश्चन्द्र चोंगदार महाशय कितने प्रतापशाली पुरुष थे, इस बात को उस समय आसपास के सभी लोग जानते थे। भोलानाथ चिकित्सा व्यवसाय के लिए गुष्करा गाँव में पहुँचे और उक्त चोंगदार महाशय के जमींदारी वाले दफ्तर में अपने रहने की व्यवस्था की। चोंगदार परिवार और बंडुल के चट्टोपाध्याय वंश में परस्पर बहुत पहले से ही घना परिचय था। भोलानाथ दीर्घकाल तक इस ग्राम में ठहरे थे। वहाँ पर लोगों के समक्ष रहते हुए भी अत्यंत प्रच्छन्न भाव से निष्ठा, नियम, सदाचार, संयम का पालन करते रहे एवम् ब्राह्मण भाव की पूरी रक्षा करते हुए तपस्वी का जीवन बिताते रहे। उनको कोई सहज में ही समझ नहीं पाता था, सहसा जिस किसी के पकड़ में नहीं आते थे। उनको हमेशा अपने आपको छिपाये रखना पसन्द था। तथापि जिस प्रकार कमल में मधु संचय होने पर मधुकर को बुलाना नहीं पड़ता वह अपने आप ही आ पहुँचता है और गुञ्जन ध्वनि से मानों कमल का गुणगान करता हुआ उसके चारों ओर भ्रमण करने लगता है, इसी प्रकार सहस्र प्रकार से अपने को छिपाने की चेष्टा करने पर भी भोलानाथ की कीर्ति मधुगन्ध चारों ओर फैलने लगी और

जनता उनकी ओर आकर्षित होकर दौड़ने लगी। दूर-दूर से असंख्य लोग उनके दर्शन करने तथा उनकी कृपा पान के लिए उनके पास आकर उनको घेरने लगे। उनकी अलौकिक सिद्धियों की चमत्कार वार्ता देश विदेशों में प्रशंसा वेग से फैलने लगी।

वे चिकित्सा कार्य करते थे, इसलिए उन्हें गुष्करा में लोग 'डॉक्टर बाबू' के नाम से विख्यात किये हुए थे। यद्यपि वे पाश्चात्य प्रणाली से ही औषधोपचार करते थे, तथापि उनकी अपनी कुछ विशेषता थी। सर्वप्रथम वे योग ज्योतिष के द्वारा रोग का आदि से अन्त तक का सारा हाल जान लेते थे। यदि वे जान जाते कि रोगी असाध्य है अर्थात् मृत्यु अवश्यंभावी है, तब तो वे उस रोगी की चिकित्सा का भार स्वयं ग्रहण ही नहीं करते थे, वह रोगी निश्चय ही समझ जाता था कि उसका रोग अब दूर नहीं हो सकता। यही कारण है कि उनके हाथ में पड़े हुए किसी भी रोगी की मृत्यु नहीं होती थी।

कुछ दिन तक इस प्रकार चिकित्सा करने में उनकी कीर्ति इतनी दूर तक फैल गयी कि बहुत दूर देशों के नाना प्रकार के रोगी उनके पास निरन्तर आकर इकट्ठे होने लगे। इससे उनकी आर्थिक आय भी कोई कम नहीं होती थी। वे दीन दरिद्र के लिए सच्चे दयामय बन्धु थे। निर्धन रोगियों को वे स्वयं उनके घर जाकर देख आते थे, उनसे कोई भेंट नहीं लेते थे। आवश्यकता के अनुसार कहीं-कहीं वे स्वयं अपने हाथ से रोगी की शुश्रूषा करते थे, और खुशी के साथ अपनी तरफ से निज खर्च से रोगी के औषधोपचार एवं पथ्य का प्रबन्ध कर दिया करते थे।

योग-ज्योतिष और देव ज्योतिष में उन्हें असाधारण योग्यता प्राप्त थी। योग ज्योतिष के द्वारा जन्म कुण्डली बनाना तथा भविष्य बताना इस कार्य में उन्हें प्रतिमास बहुत कुछ अर्थोपार्जन हो जाता था।

प्रचलित ज्योतिष की अपेक्षा योग ज्योतिष बहुत विलक्षण विद्या है। प्रचलित ज्योतिष गणना अनेक कारणों से भ्रान्तिरहित नहीं हो पाती। सूक्ष्म गणना भी अब नहीं सी हो गयी है। किन्तु योग-ज्योतिष का स्वरूप ऐसा नहीं है। उसमें भूल होने की सम्भावना नहीं है। योगज्योतिष में यथेष्ट रूप से इतना सूक्ष्म से सूक्ष्म गणित किया जा सकता है कि जिसकी साधारणतया कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। योगक्रिया में विशिष्ट लाभ उत्कर्ष होने पर साधक को अनेकानेक तत्त्वों का सहज स्वाभाविक साक्षात्कार होने लगता है। मन की विक्षिप्तता निवृत्त हो जाती है और कल्पनाओं का कोलाहल कतई शान्त हो जाता है, ऐसी दशा में ज्ञेय वस्तु का स्वरूप प्रज्ञा-दृष्टि के सामने बिल्कुल स्पष्ट प्रकट हो जाता है, कोई आवरण नहीं रहता। इस अवस्था में मनुष्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है, कोई आवरण

नहीं रहता। इस अवस्था में मनुष्य के देहादि के भीतर ग्रहों का पृथक्-पृथक् रूप तथा उनकी क्रिया स्पष्ट भाव से जानी जा सकती है। यह तो मोटी सी बात है कि योग राज्य में जिसे उन्नति प्राप्त होगी उसे योग के अंगरूप विज्ञान में उत्कर्ष लाभ करना सुगम होगा। फिर विज्ञान के समुत्कर्ष द्वारा ज्योतिष तत्त्व में अलौकिक व्युत्पत्ति की सहज प्राप्ति हो सकने में तो सन्देह की कोई बात ही नहीं।

योग ज्योतिष की क्षमता बहुत ही विलक्षण होती है। किसी मनुष्य को देखने मात्र, यहाँ तक कि बिना देखे भी उसका जन्म मुहूर्त तुरन्त जान जाना, जन्म-समय के समस्त ग्रहों की स्थिति का ठीक ठीक सन्धान पा जाना एवं उस व्यक्ति के भूत और भविष्य का सूक्ष्म ब्यौरे के साथ निरूपण कर सकना योग-ज्योतिष का अद्‌भुत कार्य है। योगीगण भूमिष्ठ होने के समय को जन्म मुहूर्त नहीं मानते बल्कि गर्भाधान के समय को जन्मबेला स्वीकार करके चलते हैं। कारण, जिस क्षण में पितृवीर्य और मातृरज का परस्पर संयोग होकर प्राकृतिक विज्ञान के संन्निकर्षघटित नियमानुसार 'बिन्दु' की उत्पत्ति होती है, वही बिन्दु माता के गर्भ के अन्दर क्रमशः परिपुष्टि मात्र लाभ करता है। यथेष्ट परिपुष्ट तथा घनीभूत होने पर वह गर्भ से निकल कर बाह्य जगत में आता है। इस यौगिक बिन्दु को ही शास्त्रों में 'बीज' कहा गया है। वृक्ष आदि का बीज जिस पद्धति से भूमि में या क्षेत्र में उपजता है और किसी तरह का प्रतिबन्धक न होने पर क्रमशः अंकुरित होकर यथा समय भूमि का आवरण भेद कर बाहर प्रकाश की दिशा में ऊपर उठता है, ठीक उसी प्रणाली से माता के गर्भ में भी देह-बीज का क्रमविकास सम्पादित होता है और समय होने पर बाहर प्रकाशित होता है। योगीगण किसी देह को देखते मात्र ही उसके बीज का स्वरूप प्रत्यक्ष भाव से जान लेते हैं। बीज को पहचान लेने पर तथा उसके पारिपार्श्विक शक्तिसमूह का परिज्ञान हो जाने पर उसके भविष्य में होनहार आकार प्रसार के संबंध में पहले से ही ठीक निरूपण कर सकने में फिर कोई कठिनाई नहीं होती। प्राणिशास्त्र के जानने वाले जैसे वंशपरम्परा और परिस्थिति (heredity and environments) के द्वारा प्राणि-देह का तथा चित्त का विकास समझाने की चेष्टा करते हैं, निदानवेत्ता चिकित्सकगण जिस प्रकार सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट कारणों के द्वारा (अर्थात् Predisposing और Exciting Cause की आलोचना द्वारा) रोग के स्वरूप का निर्णय करने की चेष्टा करते हैं, नैयायिकगण जिस प्रकार उपादान-कारण तथा निमित्तकारण आदि का विचार करके कार्योत्पत्ति की दार्शनिक उपपत्ति का सन्धान लगाते हैं, उसी प्रकार योगीगण भी देह बीज पर अभिव्यक्त जगत की यावतीय क्रियाशील शक्तियों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उस बीज का क्रम विकास जान पाते हैं।[१]

---

१. इस संबंध में विस्तारित आलोचना "श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसंग" में रहेगी।

पूज्यपाद श्रीबाबा के साथ जिन लोगों का दीर्घकाल से परिचय है, उन सबने योग-ज्योतिष के नाना प्रकार के अद्भुत व्यापार प्रत्यक्ष देखे हैं। उनके पुराने शिष्य श्रीयुत् उपेन्द्रनाथ चौधरी महाशय जब प्रथम बार पूज्यपाद बाबा के दर्शन करने गये थे, उस समय की एक घटना का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रासंगिक न होगा। उपेन्द्र बाबू ने स्वयं इसका वर्णन जिस प्रकार लिखा है, हम उसी को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है—"एक दिन वर्धमान से लौटते समय मैं तथा मेरा एक कर्मचारी (श्रीयुत वामापद विश्वास) बाबा के श्रीचरणों के दर्शन करने के उद्देश्य से गुष्करा के उस जमींदारी दफ्तर वाले मकान में आकर हाजिर हुए। देखा कि बाबा एक साधारण काठ के आसन पर बैठे हैं। महापुरुष ने मुस्कराकर मुझसे कहा—"कहो वत्स! कैसे हो?" यह कह कर पास में बुलाया। मैं समीप गया। बात ही बात में मैंने कहा—"आप तो खूब भली भाँति ज्योतिष जानते हैं। मैं अपनी जन्म कुण्डली ले आऊँ। आप देखियेगा?" वे बोले—"वत्स, कुण्डली लाने की क्या आवश्यकता। तुम्हारी जन्मकुण्डली तो मेरे पास है। तुम तो मेरे बहुत दिनों के परिचित हो।" मैंने कहा—"देखूँ कहा है?" उन्होंने मेरी नोटबुक लेकर उसमें मेरे जन्मदिन, तिथि, नक्षत्र, सन्, तारीख समेत ग्रहों के स्थान ठीक-ठीक अंकित करके हाथोहाथ कुण्डली तैयार कर दी। देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। यह क्या अद्भुत व्यापार? मेरी जन्म कुण्डली इन्होंने कहाँ पायी? इस जीवन में तो इसके पहले इनसे मुझसे कभी भेंट हुई नहीं। तब मेरे संबंध में ये सब बातें इन्हें कैसे मालूम हैं?" मैंने उनसे पूछा तब वे हँसकर बोले—"अजी! इसके लिए चिन्ता क्या करते हो। सभी कुछ हो सकता है। लो, तुम जलपान करो।" यों कह कर नाना प्रकार की मिठाइयाँ, आम और लिचू आदि फल देकर अपने हाथ से हमें खिलाया।

श्रीयुत् रोहिणीकुमार चेल महाशय का जब पूज्यपाद बाबा के साथ सर्वप्रथम परिचय हुआ था, उसके संबंध में जो कुछ वर्णन उन्होंने लिखा है, उसका इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—"मैं उस समय कलकत्ते में थियेटर-रोड पर रहता था। बहुत दिनों से मेरे प्राणों की उत्कट आकांक्षा थी कि मैं एक प्रकृत ब्राह्मण के चरणों में आश्रय ग्रहण करूँ, साधु-संन्यासियों के प्रति मेरे मन में वैसा आकर्षण नहीं था। मेरी धारणा थी, जो कोई ठीक समय पर संध्या-आह्निक करता हो, जो संयमी हो, आचारवान हो, ऐसा ब्राह्मण यदि भाग्यबल से कहीं प्राप्त हो जाय, वही मेरा आदर्श होगा।"

उस समय श्रीयुत मणीन्द्र भट्टाचार्य नामक एक भद्रपुरुष के मुख से पूज्यपाद बाबा की अद्भुत क्षमता की बातें सुनने में आयीं। मणीन्द्र बाबू ने बाबा के सम्बन्ध में बताया था कि भोलानाथ बाबू ऐसे चमत्कारिक पुरुष हैं कि वे एक ही समय में उनके साथ बैठकर ताश खेलते हैं और उधर चंडी-मंडप में

पुजारीगण के साथ बातचीत भी करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार की और भी अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ बाबा के सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे बतलायी थीं। जब मैंने सुना, साथ ही साथ मेरे मन में कुछ ऐसा भाव उत्पन्न हुआ कि मैंने मणीन्द्र बाबू से बाबा का पता ठिकाना पूछकर गुष्करा के लिए एक जवाबी तार तुरन्त भेज दिया। तार में मैंने लिखा था कि "मेरी इच्छा है मैं आकर श्री चरणों का दर्शन करूँ क्या मैं अभी आ सकता हूँ? कृपया मुझे सूचित करिये"। यथासमय जवाब आ गया कि "Not now (अभी नहीं)"। इसप्रकार का निराशाजनक उत्तर पाने पर भी मैं हतोत्साह नहीं हुआ। मेरे प्राण उधर ही को खिंचने लगे। मैं तत्क्षण गुष्करा के लिए चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर मैं बाहर बैठा रहा क्योंकि बाबा उस समय घर के भीतर क्रिया में लगे हुए थे। वे थोड़ी देर में बाहर आ गए। उनके शरीर से चारों ओर पद्मगंध फैल रही थी।

घर के भीतर से भी विचित्र सुन्दर सुगन्ध निकल रही थी। दोनों आँखें रक्तवर्ण शोभा दे रही थीं। अपूर्व ज्योतिर्मयी मूर्ति थी। दर्शन करते हुए मैं एक ओर बैठ गया था। देखकर बाबा ने मुझसे कहा—"कहो कब आये?" मैं बोला—"अभी ही आया हूँ। आप ने अभी आने को मना किया था, किन्तु मुझसे बिना आये रहा नहीं गया।" यह कहकर मैंने हैण्डबैग के भीतर हाथ डाला और चाहा कि मेरी अपनी जन्मकुण्डली तथा मेरी स्त्री की जन्मकुण्डली बाहर निकालूँ। बाबा ने तुरन्त पूछा— यह क्या? मैंने बता दिया। बाबा उसी समय घर के भीतर चले गये और हाथ में एक बही लिये हुए बाहर आये। मैंने देखा कि उस बही के अन्दर एक पृथक् कागज पर मेरा तथा मेरी स्त्री प्रभावती दासी का नाम, जन्म काल एवम् फलाफल आदि सब कुछ लिखा हुआ है। मैं आश्चर्य चकित हो गया। मैंने कहा—"आपने मेरा नाम किस प्रकार जान लिया तथा मेरी स्त्री का नाम भी कैसे आपको मालूम हुआ? "मैं यहाँ पर आऊँगा" यह आपने कैसे जाना? आने के सम्बन्ध में तो मेरा भी कोई निश्चय नहीं था। यहाँ तक कि तार करने के समय भी यह पक्का नहीं था कि मैं यहाँ पहुँच ही जाऊँगा। आपने जन्म शक प्रभृति किस भाँति निकाले"? तब बाबा बोले—"तुम्हें इस समय यहाँ आने को मना किया था किन्तु जब देखा कि मना करने पर भी तुम यहाँ के लिए चल पड़े हो तब मैंने बैठे-बैठे तुम दोनों की जनम कुंडली बना डाली। यह लो, इसे अपनी जन्मकुण्डली के साथ मिला कर देख लो।" मैंने दोनों को मिलाया। सब कुछ मिला केवल जन्ममुहूर्त में तनिक सा व्यतिक्रम देखा गया। तब वे बोले कि उनकी नूतन गणना ही ठीक है, मेरी पुरानी कुण्डली में प्रदर्शित लग्न ठीक होती तो मैं एक अवतार कल्प महापुरुष होता। बाबा बोले – "देखो, यदि तुम्हारी पूर्वलिखित कुण्डली में प्रदर्शित समय पर तुम्हारा सचमुच जन्म हुआ होता, तो मैं ही तुम्हारे पास गया होता, तुम इस प्रकार मेरे पास न आये होते। इस समय पर मनुष्य का जन्म संभव नहीं हुआ करता, वह तो एक

असाधारण क्षण है।''

ज्योतिष और चिकित्सा के अतिरिक्त स्वरोदय आदि अन्य विज्ञानों की भी उन्हें अद्भुत जानकारी थी। गुरुदेव के आदेशानुसार समय समय पर उस विद्या का प्रयोग भी वे करके दिखाते थे।

हमलोग साधारणतया स्वरोदय के जितने भी प्रचलित ग्रन्थ जानते हैं, उस सबसे विलक्षण, अचूक, अथाह थी बाबा की स्वरोदय विद्या। स्वरोदय शास्त्र की जो अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्यमय तत्वों की चर्चा बीच बीच में उनके मुख से हमने सुनी है, साथ ही साथ तत्संबंधी बहुत कुछ प्रत्यक्ष अपनी आँखों से हमने उनके निकट जो समय समय पर देखा है, उससे भली-भाँति जाना जा सकता है कि प्रत्यक्षदर्शी गुरु की सहायता के बिना केवल ग्रंथ पढ़ लेने मात्र से किसी भी शास्त्र का रहस्य अनुभव में आना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विविध उपायों से प्रतिमास नियमित रूप से वे विपुल धनोपार्जन करने लगे। किन्तु जो आजन्म त्यागी, जो गृहस्थी में रहते हुए भी अंतः संन्यासी, दुर्लभ ब्रह्मपद जिनकी उज्ज्वल दृष्टि के सामने तृण से भी अधिक तुच्छ प्रतीत होता था, उनके लिए यों धनसंचय कर रखना कैसे संभव था? एक तरफ वे अर्थ जुटाते थे तो दूसरी तरफ यथेष्ट खर्च भी होता जाता था? अतिथि-सत्कार, साधु सन्यासियों का आमंत्रण, दान और विपद्ग्रस्त परिवारों को सहायता दान इत्यादि नाना प्रकार से पानी के प्रवाह जैसे निरंतर पैसा खर्च होता था। आय और व्यय दोनों को वे एक समान दृष्टि से देखते थे इस प्रकार निःस्पृह अकिंचन संन्यासी के सदृश वे घर में रहते हुए भी गृहत्यागी के समान एवं काषायवस्त्र परिधान न करते हुए स्थिर-वीर्य संन्यासी की नाईं जीवन यापन करते थे।

गुफा में निवास करते थे तभी वे विवाह कर लेने को बाध्य हुए थे। उनकी स्वर्गीया माता ने वंशरक्षा के निमित्त उनको विवाह करने के लिए जिद्द पकड़ी थी। पहले जिन्होंने वन-पर्वतों में तपस्या की, जो आरण्यक जीवन बिता चुके थे, अब उन्हें पुनः गृह संसार में पड़ने की इच्छा नहीं थी। यद्यपि देशभ्रमण के पश्चात् लौटकर अब वे एक स्थान में निवास करने लगे थे फिर भी अंतर में संन्यासी ही रहे। किन्तु मातृ आज्ञा को सर्वदा नतमस्तक होकर मानते चले आये थे, अतः माता की आज्ञा होते ही वे गुरुदेव के पास पहुँचे और समस्त वृतांत तथा अपना अभिप्राय नम्रतापूर्वक उनके चरणों में निवेदन कर दिया। श्रीगुरुदेव ने भी उनको विवाह करने का आदेश दे दिया। उनके सतीर्थ एवं संगी हरिपद बाबू को भी इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए आज्ञा हुई थी किन्तु वे विवाह करने को राजी नहीं हुए। उसका फल यह हुआ कि गुरुआज्ञा लंघन के कारण उनकी तपस्या का प्रभाव नष्ट हो गया। वे अनेक बार गुरुदेव के श्रीचरणों में पड़कर रोये किन्तु गुरुदेव ने अपने आदेश को नहीं

बदला। उनके बहुत दिन तक रोने पर उन्होंने कहा "हरिपद, तुम्हारा यह जन्म तो निष्फल हो गया तथापि तुम्हारा आगामी जन्म सार्थक होगा।"

यह बात नहीं है कि भोलानाथ को भी इस सम्बन्ध में बिल्कुल ही आशंका न हुई हो। परन्तु वे थे असाधारण गुरुभक्त। वे जानते थे कि गुरु हैं सदा मंगलमय। गुरु के वाक्य, कर्म, चिन्ता, जो कुछ सभी शिष्य के कल्याण के लिए ही होते हैं इस बात को शिष्य प्रथम भले ही न समझ सके किन्तु आगे चल कर वह इसे अवश्य जान जाता है। एक बार निज सन्देह निवारणार्थ भोलानाथ ने श्री गुरुदेव से विनम्र प्रश्न किया था कि विवाह कर लेने पर उनकी तपस्या भंग तो नहीं हो जायेगी ? तब उत्तर मिला—"नहीं, तुम्हारा तपः प्रभाव कभी भी कम न होगा बल्कि तपस्या का तेज दिन प्रतिदिन और भी बढ़ता जायगा।" गुरुदेव के इस प्रकार के स्नेहमय आश्वासन वचनों को सुनकर भोलानाथ निर्भय होकर विवाह करने के लिए अग्रसर हुए थे। कुछ समय पश्चात् वर्धमान जिले में ही ठीक शुभ मुहूर्त पर उनका पाणिग्रहण कार्य सम्पन्न हुआ। गुरुदेव के आदेश से संन्यासी को आज गृहस्थ बनना पड़ा। उनकी माताजी की चिरपोषित हृदयाकांक्षा आज उनके द्वारा पूरी हुई। बाहर से गृहस्थ होते हुए भी वे उसी प्रकार संन्यासी रहे जैसे कि पहले थे। जो कोई अपने अन्तःकरण के भीतर सचमुच संन्यासी एवं सर्वत्यागी है उसके लिए गृहस्थ धर्म का पालन तो केवल रंगमंच का अभिनय मात्र है। देवगणों के कार्य संपादन के हेतु उन सबके अनुरोध से शिव भगवान ने जिस प्रकार विवाह स्वीकार किया था; आज स्वर्गादपि गरीयसी गर्भधारिणी निजपूज्या जननी के आदेश के कारण एवं श्रीगुरुदेव के किसी अचिन्त्य महान् उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए उन बालब्रह्मचारी त्यागी नवयुवक ने पुनः संसाराश्रम के भीतर अपने को डाला। गृहस्थाश्रम का श्रेष्ठत्व, आदर्श गृहीजीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाने के उद्देश्य से, दुःख के दलदल में रौंदे हुए जीवों के उद्धार का महान संकल्प-कार्य परिणत करने के लिए करुणा भरे हृदय से आज युवक ने गुरुप्रदत्त 'विशुद्धानन्द' नाम तथा 'तीर्थ स्वामी' उपाधि ग्रहण करते हुए संसार क्षेत्र में प्रवेश किया। मंगलमय के प्रत्येक विधान में मंगल ही भरा होता है। गुरु के इस विधान में भी त्रितापों से पीड़ित जीवों का परम कल्याण छिपा हुआ था। इस सत्य का अनुभव प्रत्येक जानकार व्यक्ति को उसके मर्म- मर्म में आज प्रत्यक्ष हो रहा है।

*

सप्तम अध्याय

बाबा की दिनचर्या

पूज्यपाद श्री बाबा का जीवन निर्दिष्ट नियमों के अनुसार चलता था। प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यक्रिया समाप्त करके वे कुछ समय के लिए बाहर टहलने चले जाया करते थे। वहाँ से लौटने के पश्चात् ठीक दस बजे भोजन करते थे। तब फिर आये हुए भक्त-गणों के साथ तथा अन्य सज्जनों के साथ बैठकर शास्त्र सम्बन्धी बातचीत एवं आध्यात्मिक चर्चा करते थे। प्रयोजन होने पर रोगियों को देखने चले जाते थे, अथवा कभी-कभी फिर दोपहर के पश्चात् बाहर भ्रमण करने को निकल पड़ते थे। किन्तु सूर्यास्त होने पर और अन्यत्र कहीं भी नहीं ठहरते थे। अपने पूजागृह का द्वार बन्द करके परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो रहते। फिर दूसरे किसी भी लौकिक कार्य के पीछे अपने इस मूल्यवान मुहूर्त को बीतने नहीं देते थे। रोज की सन्ध्या-पूजा समाप्त करके कुछ समय के लिए एक बार बाहर आ बैठते थे। उसके कुछ ही बाद फिर से पूजा-गृह में प्रवेश करके दरवाजा बन्द कर लेते और प्रातः सूर्योदय हो चुकने के पश्चात् गम्भीर समाधि में मग्न होकर जगन्माता कल्याणमयी आद्याशक्ति के स्नेहशीतल अंक में विश्राम करते थे। इसके पश्चात् पुनः घर से बाहर निकलकर यथासमय प्रातः भ्रमण करने चले जाते थे। उस समय उनके देह से पद्मगन्ध निकलती थी। जिस घर में बैठकर वे साधना करते थे, उस घर में भी दिव्य कमल-गन्ध नित्य विराजमान रहती थी। उनके पास का सारा वायुमंडल मानो ताजे खिले हुए कमल की लौकिक सुगन्ध से भरा हुआ होता था। उनके एक भक्त ने उनकी उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

"मैं जब कभी जाता था देखता था बालक और बालिकायें पूज्यपाद बाबा को घेरे हुए हैं और वे नाना प्रकार के फल एवं मिठाइयाँ देकर उन बच्चों को सन्तुष्ट कर रहे हैं। वहाँ सदा ही आनन्द रहता था। गुष्करा तो मुझे आनन्द का हाट दिखाई पड़ता था। घाट में, मठ में, बाजार में, दुकान में जहाँ-तहाँ मानो आनन्द ही आनन्द बिखर रहा है। बाबा के निवास-गृह में निरन्तर पद्म-गन्ध विराजमान रहती थी। मानो तैंतीस कोटि देवी देवता तथा अपने-अपने पुष्प-सम्भार समेत षड्ऋतु वहाँ सदा विराजमान रहती थी। बाबा का शरीर साधना

द्वारा लोगों को शिक्षा देने के लिए ही मानों विधाता ने अडिग भाव से गढ़ कर बनाया हो।"

"मैं देखा करता था कि वे किसी किसी दिन रात को दो-तीन बार एवं दिन में दो-तीन बार स्नान किया करते थे। भयानक शीतकाल में गम्भीर रात्रि में हाथ में लालटेन लेकर मैं उनके साथ जाया करता था। पुष्करिणी के जल में प्राय: आधा घण्टा तक वे डुबकी लगाये घुसे रहते थे। मैं किनारे पर घोर ठंढक से काँपता हुआ काष्टवत् खड़ा हुआ यह सारा दृश्य देखा करता था। फिर वे स्तोत्र-पाठ करते हुये तीर पर पहुँचते एवं घर वापस आ जाते। पुन: साधना गृह का द्वार बंद कर लेते। तब सम्पूर्ण घर भीनी सुगन्ध से महमहा उठता था। मैं दरवाजे के समीप एक चौकी पर बैठा रहता। प्रात:काल सात या साढ़े-सात बजे तक फिर उनके दर्शन नहीं मिलते थे। इस बीच एकान्त में न जाने वे किस अलौकिक जगत में, किस अजान प्रदेश में रसमग्न हो रहते एवं प्राणों के भी प्राण अपने हृदय सम्राट् के परम प्रेम में विभोर होकर उनके साथ ज्ञान गहन क्रीड़ा में लगे रहते। प्रात:काल जब पूजाघर के कपाट खोलकर वे बाहर निकलते तब ऐसा लगता था मानों हृदय के कपाट भी खुल गये, हृदय में बालक-भाव फूट उठा, झूमती आँखें, सारा शरीर सुगंध से भरा, मानों अन्त:प्रवेश की वह गंभीर तन्द्रा पूरी अब भी नहीं कटी, अब भी प्राणप्यारे ने प्राणों से बिदाई नहीं ली, चरण अब भी चलने को राजी नहीं, मुख अब भी मुखरित होने को तैयार नहीं, मानों उस समय प्रियतम के प्राण में प्राण, मन में मन, हाथ में हाथ, पाँवों में पाँव और रूप-सागर में दृष्टि डूबकर सब एकाकार हो गये हों, इस बाहरी जगत के साथ समस्त अंगों ने संबंध विच्छेद कर लिया और वे सबके प्राणपति विश्वनाथ की सेवा में संलग्न रहे। वे शिक्षा दे रहे थे कि इस प्रकार से दृढ़ता और एकाग्रता पूर्वक यदि साधना नहीं की जायेगी तो भगवत्प्रेम के प्रेमी बन सकना संभव न होगा। अर्थात् पुरुष के साथ प्रकृति का, परमात्मा के साथ जीवात्मा का, भगवान के साथ भक्त का मिलन होना संभव न होगा एवं जीव-भाव की शिव-भाव में परिणति नहीं हो सकेगी।"

"फिर बाहर आकर बैठ जाते, कोई पंखा लेकर हवा करता, तो कोई पैर दबाता फिर भी गम्भीर ध्यान का नशा अभी कटा नहीं, मानों उसपार के अजान राज्य की सीमा छोड़कर मन अब भी इस पार लौटा नहीं। मैं प्राय: देखा करता था कि उन्हें बाह्य चेतना में आने में एवं पुन: बातचीत शुरु करने में बहुत विलम्ब होता था।"

"उस समय बैठक के बरामदे में रोगी, साधु, गृही, बालक, वृद्ध, भोगी

और योगी सभी आकर इकट्ठे हो जाते थे। सबके मन तथा नेत्र उन्हीं एकमात्र महापुरुष की ओर लगे रहते थे। तब वे सबके ऊपर स्नेहमयी दृष्टि डालकर मधुर शब्दों में पूछते थे—"कहो, अच्छे तो हो?"

"मानों वे साक्षात् कल्पतरु ही थे। संसार ताप से संत्रस्त हुए बद्ध विषयासक्त जीव कल्पतरु की सुखद छाया में बैठकर अपने अपने तापित प्राणों को शीतल करने के उद्देश्य से उनके पास पहुँचते थे। कोई कहता औषध दीजिए, कोई पूछता—"बाबा मेरी गति क्या होगी? कोई पुत्र शोक से कातर होकर बाबा से शांति का उपाय पूछता हुआ उन्हें घेर लेता था। कोई वस्त्र चाहता, तो कोई बाबा के साथ अलग एकान्त में साधन तत्व संबंध में कुछ बात करने के लिए व्याकुल भाव से प्रार्थना करता। कोई-कोई व्यक्ति हाथों में फल फूल लिये हुए खड़े खड़े प्रतीक्षा करता रहता, बालक बालिकायें प्रसाद पाने की लालच में बैठे रहते। जो कोई जैसी इच्छा लेकर बाबा के पास आता था उसी को लेकर वे उसको शांति प्रदान करते थे।"

"जब सब कोई विदा हो जाते थे, स्वयं एक आधी बाँह की बंडी पहन कर परिभ्रमण के लिए घर से बाहर निकल पड़ते थे। एक घंटे बाद वापस आते और पूरब की ओर के कमरे में एक कोने में अपनी चौकी पर बैठकर विविध प्रकार के विषयों पर उपदेश दान करते। दोपहर को भोजन कर चुकने पर पुनः बैठते एवम् नाना भाँति शास्त्र चर्चा करते। शास्त्रों के गूढ़ और जटिल रहस्यों को सरल भाव से समझा देते। एक बजे से चार बजे पर्यन्त गुष्करा ग्राम के बहुत से ब्राह्मण पंडित तथा अन्य पड़ोसी वहाँ पधारते। जिस जिसको जो कुछ जानने की इच्छा होती, बहुत अच्छे ढंग से उसे स्पष्ट करके समझा देते थे। इस प्रकार से समय बिताते और सूर्य भगवान के अस्ताचल पर पहुँचते ही स्वयं सायं सन्ध्या का अपना नित्य कर्म पूरा करने के लिए पूजागृह में प्रवेश करके दरवाजा बंद कर लेते थे।"

इस प्रकार से दिन पर दिन, मास पर मास बीतते चले जाते किन्तु उनका नियम भंग कभी नहीं होता था। वे कठोर अध्यवसायी थे। कदापि कर्तव्यपालन में चूकते न थे।

गुष्करा में पूज्यपाद बाबा के गृह में एक विषधर सर्प रहता था। जब क्रिया करते करते उनका शरीर भीषण भाव से उत्तप्त हो उठता था, तब वे साँप को शरीर से लपेट लेते थे। सर्प के देह के अत्यन्त शीतल स्पर्श से उनके शरीर को अच्छा ठंडा मालूम होता था। बाबा ने उस सर्प का नाम रखा था 'शिवदास'। प्रेमपूर्वक वे उसी नाम से पुकार कर उसे बुला लेते थे।

वह सर्प कभी किसी का अनिष्ट नहीं करता था। हाँ, कदाचित कोई व्यक्ति जब उस घर में घुसता था, तब वह जरूर फुफकार उठता था, किन्तु किसी को काटता नहीं था। बाबा की अनुपस्थिति में एक बार एक नूतन सेवक उस घर में झाड़ू देने गया। उसे मालूम न था कि इस घर में सर्प रहता है। उस अपरिचित व्यक्ति का उस घर में घुसना हुआ कि तुरन्त सर्प जोर से फुफकारता हुआ दौड़ा। वह नया नौकर उसे देखते मात्र तुरन्त मूर्छित होकर गिर पड़ा। कुछ देर पश्चात् बाबा जब वापस आये, तब उसको पुनः होश में लाये। ऐसी घटना भी कभी-कभी घट जाती थी।

*

अष्टम अध्याय

गुष्करा निवास

एक बार विश्वनाथ दर्शन करने के लिए उनके मन में प्रबल इच्छा हुई। सबको बुलाकर उन्होंने कहा—"विशेक्षेपा को देखने के लिए मन छटपटा रहा है। चलो, चलें एक बार काशी हो आएँ।"

श्रीयुत् यज्ञेश्वर चोंगदार महाशय जिन्हे भोलानाथ 'श्वशुर' कहकर पुकारते थे, एवं वे भोलानाथ को 'जमाई' नाम से सम्बोधित करते थे, साथ में जाने की इच्छा प्रकट करने लगे। बाबा उन्हें साथ में ले जाने को राजी न थे। तथापि उनके पिताजी की अनुमति के कारण फिर उनको साथ में ले लिया। श्रीयुत केदारनाथ मोदक प्रभृति भी संग में थे। वे सभी लोग यथासमय काशी धाम में आकर उपस्थित हुए। उसी समय प्रयाग में कोई विशेष पर्व था। वहाँ पहुँचने के संबंध में बाबा ने सबके सामने प्रस्ताव रखा। किन्तु उसी समय इधर अचानक चोंगदार महाशय अत्यन्त अस्वस्थ हो गये। उनके ज्वर का तापमान १०६° तक पहुँच गया। यह देखकर प्रयाग पर्व में जाने की आशा सब लोगों को छोड़ देनी पड़ी। उधर बाबा पूजा के आसन से अब भी उठे न थे। उन्हें ज्वर के संबंध में कोई खबर नहीं थी। उनके बाहर आते ही सभी लोग निराश भाव से कहने लगे, "मालूम होता है इस बार प्रयाग जाना स्थगित हो गया।" तब बाबा बोले— "क्यों? ऐसा कदापि नहीं होगा। मैंने जो संकल्प किया है, वह पूरा ही होगा। इसमें सन्देह नहीं।" यह कह कर उन्होंने अपने दोनों चरण आगे बढ़ा दिये और कहा—"लो, मैंने ये दोनों चरण आगे फैला दिये, यज्ञेश्वर को लाओ। मेरे दोनों चरणों के मध्यस्थल में उनका माथा छुलाये हुए पकड़े रहो।" ठीक वैसे ही किया गया। लगभग पन्द्रह मिनट तक वैसा रखे रहने पर बुखार एक बारगी छूट गया। ताप हट कर शरीर शीतल हो गया। कुछ समय के भीतर ही यज्ञेश्वर बाबू बहुत कुछ अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था को प्राप्त हो गये। बस, फिर तुरन्त पूरी मण्डली प्रयाग धाम पहुँची। सबने त्रिवेणी स्नान किया और वहाँ पर सब प्रकार के धर्मकृत्य एवं आनन्दोत्सव मनाये।

पूज्यपाद बाबा जिस समय गुष्करा में रहते थे, एक दिन संध्या समय श्रीयुत् उपेन्द्र बाबू उनकी चरण सेवा में लगे थे। तब उसी बीच उन्होंने श्रीगुरुदेव से विनम्र प्रश्न किया—"प्रभो! 'जगत् मिथ्या है' ऐसी बात किसी-किसी के मुख

से सुनने में आती है। क्या वह ठीक है?'' उत्तर में बाबा बोले—''कोई-कोई जगत को मिथ्या देखते हैं, किन्तु जिनको ज्ञान हुआ है, प्रज्ञा नेत्र खुल गये हैं, वे देख पाते हैं कि सब कुछ एक मात्र ईश्वर ही है।''

उपेन्द्र—हमको तो ज्ञान हुआ नहीं। तब जो कुछ हम लोग यह देखते हैं उसका क्या अस्तित्व ही नहीं है? तब फिर कैसे किस कारण जगत के वे सब पदार्थ हमारी दृष्टि में चारों ओर स्पष्ट भासमान हो रहे हैं? कुछ भी न होने से क्या कुछ की उत्पत्ति सम्भव है?

बाबा०—''भ्रमवशतः असत्य, सत्य प्रतीत होता है। ज्ञान में जो नहीं है, अज्ञान में वह है ऐसा दिखाई पड़ता है। देखो, तुम यह जो जवा-पुष्प देख रहे हो वह तुम्हारी दृष्टि में जवा है किन्तु वास्तव में क्या वह जवा है?''

उपेन्द्र—क्यों बाबा? मैं अभी तोड़कर लाता हूँ और उसे आपको दिखाता हूँ। देखिए, वह जवा-पुष्प है कि नहीं? बाबा किंचित् मुस्कराये। हँसते हुए बोले—''अच्छा, तो उपेन्द्र, ले आवो तुम अपना वह जवा फूल।'' तुरन्त उपेन्द्र बाबू उठकर जवा-वृक्ष के पास पहुँचे। फूल तोड़कर के देखा वह जवा नहीं है, वह तो गुलाब का फूल दिखाई पड़ रहा है। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़े-खड़े आश्चर्य से सोचने लगे—था तो निश्चित यह जवा, तब फिर गुलाब कैसे हुआ? पेड़ तो जवा का ही है। देखूँ, बात क्या है? फिर से उस जवा-पेड़ के पास गये। देखते हैं कि वह तो गुलाब का वृक्ष है वे स्तंभित रह गये। निरुत्तर हो गये। उस समय से वह वृक्ष गुलाब का वृक्ष बन गया। बाबा ने समझाया—''तुम्हारी आँख के सम्मुख जो रंग भासते हैं उन्हीं को तुम देख पाते हो। यह दृश्य तो है गुण-वैषम्य का फल। सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओं के समूह तथा गुणों के सम्मिश्रण द्वारा इस जगत की रचना हुई है। मानसिक वृत्तियों के समूह के समूह चित्त-सागर में उद्भासित होते हुए मायिक जीव के नेत्रपटल पर कर्मरूप से बाहर प्रकाशित होते रहते हैं। किसी को वे आनन्ददायक लगते हैं, तो किसी को वे उलटे अतृप्तिकर मालूम होते हैं। यही है गुण वैषम्य का खेल।''

उपेन्द्र बाबू ने पुनः प्रश्न किया -''बाबा यह जो आप हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं, यह भी क्या मिथ्या है?'' बाबा बोले ''हमारा अस्तित्व कहाँ है?'' यह कहते कहते बाबा एकदम अदृश्य हो गये। उपेन्द्र बाबू चकित हो काष्ठवत् खड़े ही ताकते रह गये। कुछ क्षणों के पश्चात् प्रमुख द्वार से बाबा भीतर आकर पुनः आसन पर बैठे हुए दिखाई पड़े। उपेन्द्रबाबू को तमाखू का एक कार्य देते हुए बाबा ने कहा—''देखो वत्स! केवल एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। तुम अपना कर्तव्य-कर्म ठीक-ठीक करते जाओ। बस, फिर सब कुछ क्रमशः जान पाओगे।''

कुछ समय पश्चात् पूर्व की ओर के द्वार के कपाट खोलकर बाबा ने भीतर प्रवेश किया, साथ ही साथ उपेन्द्र बाबू को अन्दर बुलाया। भीतर आने पर इनको बैठ जाने को कहा। कुछ क्षण बीते, एक से एक बढ़ कर आश्चर्यजनक घटनाएँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखायीं। पृथ्वी की गति और जिस शक्ति से जगत् के समस्त द्रव्य निरन्तर घूम रहे हैं, एक स्थान में स्थिर भाव से एक क्षण भी ठहर नहीं पाते, वह प्रत्यक्ष दिखा दिया। इस अस्थिर जगत में स्थिर वस्तु किस प्रकार उपलब्ध करना यह भी समझा दिया और स्थिर के भीतर चंचला प्रकृति किस गतिविधि से कर्म के समस्त सृष्टि स्थिति और प्रलय-व्यापारों को चलाती है, जड़ तथा चेतन दोनों के मेलमिलाप से किस भाँति कार्य-संपादन करती है यह सब आँखों के सामने बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट दृश्य दिखा दिखाकर उनको बोधगम्य कराया। यह सब देखकर उपेन्द्र बाबू अवाक् रह गये। उन्होंने ये सब घटनायें प्रत्यक्ष देखीं सही और मस्तिष्क के भीतर सबको दृढ़ता से पकड़ रखने की भरसक चेष्टा भी की। परन्तु नदी के तीव्र वेग भरे प्रवाह की नाईं शत-शत विघ्न बाधायें उन भावों को रुला मिटा देने के लिए दौड़-दौड़ कर आने लगीं। बाबा ने उनकी आन्तरिक दुर्दशा देखी और उनसे कहा—"वत्स, बिना साधना के क्या तुम इन सबको अटका पाओगे? कठोर तपस्या के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुएँ क्या यों ऐसे सहज ही में पकड़ रखी जा सकती हैं? अपना चित्त निर्मल बनाओ फिर वे अपने आप ही तुम्हारे पास आयेंगी। इस समय अभी असद्वृत्तियाँ तुम्हारे मलिन चित्त से हटना नहीं चाहतीं, किन्तु चित्त निर्मल होने पर फिर सद्वृत्तियाँ भी उसी प्रकार कभी तुमको छोड़ना नहीं चाहेंगी। विकारी चित्त नीचे की ओर ले जाता है, निर्मल चित्त ऊर्ध्व की ओर उठाता है। अत: जिस किसी उपाय से अपने चित्त को तुम नित्य निर्मल बनाये रख सको, उसी के लिए सतत प्रयत्न करते रहो।"

गुप्करा से उत्तर-पश्चिम की ओर कुन्नूर नदी के तट पर एक वटवृक्ष के नीचे एकबार एक संन्यासी पधारे। वे अपना आसन छोड़कर अन्यत्र कभी भी जाते न थे। वहीं पर आकर लोग उन्हें नाना प्रकार के फलमूल एवम् खाद्य पदार्थ दे जाते थे। किन्तु वे कुछ भी खाते नहीं थे। वे मौनी थे। साधारणत: किसी के साथ बात नहीं करते थे। पूज्यपाद बाबा बीच-बीच में उनके पास जाया करते थे। सुना है कि वे थे बाबा के सतीर्थ और सूर्य विज्ञानाचार्य परमहंस श्रीयुक्त श्यामानन्द स्वामी महाशय के शिष्य—श्री धवलानन्द स्वामी। एकदिन रात्रि के समय गुप्करा निवासी श्रीयुत् केदारनाथ मोदक और कालिदास जी घटक दोनों जन बाबा के साथ पपीता, दूध आदि लेकर संन्यासी जी के दर्शनार्थ चल पड़े। गुप्करा के उस वट के नीचे पहुँचने में एक पुल को पार करके जाना होता था। पुल के पास से वह वटवृक्ष लगभग पाँच सौ हाथ दूरी पर था। पुल पर से उस

वटमूल की ओर दृष्टि डालने से ऐसा दिखाई पड़ता था मानों वहाँ पर एक ज्योति एक बार जल उठती है, एक बार बुझ जाती है। उसके बीच में अंग-अवयवादि कुछ भी नहीं दीख पड़ते थे। उनके साथ में एक लालटेन थी। अचानक वायु का झटका आ जाने से लालटेन बुझ गयी। बिना प्रकाश के घोर अन्धकार के भीतर से जाने में भयभीत होकर केदारबाबू बाबा से अपने डर लगने की बात सुनाने लगे।

बाबा ने किंचित् हँसकर लालटेन की ओर एक फूँक मारी। तुरन्त लालटेन अपने आप जल उठी। कहना न होगा कि यह उनकी इच्छा शक्ति से ही हुआ था। फिर जैसे-जैसे उस संन्यासीजी के निकट पहुँचते गये, तो क्या देखते हैं कि वृक्ष की जड़ में जो ज्योति दिखाई पड़ती थी, वह संन्यासी जी के अंग का तेज था। जब पास आ गये तो देखा कि संन्यासी जी उनकी ओर देखते हुए एक अद्भुत भाव से हँस रहे हैं। केदार बाबू ने साथ में लाये हुए फल आदि उनके सम्मुख रखकर उनमें से कुछ खाने का आग्रह किया। किन्तु संन्यासी-प्रवर पुनः हँसे एवं सिर हिलाते हुए बोल उठे "जब तक चन्द्र सूर्य हैं तब तक नहीं।"

एक बार वर्षा-ऋतु अन्त में सत्रह अठारह जन संग में लेकर बाबा गुप्करा से कामाक्षा-धाम के लिए चल पड़े। यथासमय कामाक्षा धाम में पहुँच कर ठहरने का ठौर-ठिकाना ठीक किया और वहाँ के पण्डों से कुमारी भोजनार्थ कुमारी बुला देने के लिए कहा। किन्तु पण्डों ने असमर्थता प्रकट करते हुए इन्कार कर दिया। वे लोग बोले—"कामाक्षा-धाम में साधारणतः घर के भीतर बुलाकर कुमारियों को भोजन नहीं कराया जाता। जिसे कुमारी भोजन कराने की इच्छा होती है, वह देवी मन्दिर में अथवा अन्य देवस्थानों में उसकी व्यवस्था करता है।"

पण्डों की ये बातें सुनकर बाबा का तनिक भी उत्साह भंग नहीं हुआ। वे अपने संकल्प पर दृढ़ बने रहे। उन्होंने उस घर में ही कुमारी भोजन की व्यवस्था ठानी। उनके आदेश से लूची आदि विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये गये। फिर आसन, पूजा की वस्तुएँ, एवं भोजन सामग्री सब कुछ सुंदर ढंग से सजाकर कुमारी की बाट जोहने लगे। समय बीत रहा था किन्तु एक भी कुमारी के दर्शन नहीं हो रहे थे। उधर कालीदास घटक, विमलानन्द प्रभृति सयाने वयोवृद्ध भक्तगण मुँह बना कर मानों कुछ परिहास का भाव भी व्यक्त करने लगे। तथापि बाबा रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए और स्थिर धीर-गम्भीर भाव से स्वकर्तव्य की चिन्ता में डटे ही रहे। ठीक समय के अन्दर ही देखा गया कि वहाँ पर एक कुमारी मूर्ति अकस्मात् आकर उपस्थित। सामने देखते ही भक्तगणों ने उसे श्रद्धा-सम्मान पूर्वक आमंत्रित करके सविधि भोजन करवाया। भोजनोत्तर कुमारी स्वस्थान में चली गयी। बार-बार आग्रह करने पर भी दक्षिणा लेना स्वीकार नहीं किया।

इसके पश्चात् बाबा ने स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण किया और शुद्ध संयत वेश में जगदम्बा के मन्दिर में जाकर वे अभीष्ट क्रिया में निमग्न हो गये। दो घण्टे तक मंदिर के अंदर माँ की आराधना में लगे रहे, फिर बाहर आये। उस समय उनके कपाल पर रक्तचंदन का टीका, शरीर पसीने से भींगा हुआ, मुख पर मृदु मधुर प्रशांत हास्य, उन्हें देखते मात्र ही से उत्कंठित भक्तजनों को अत्यंत आनंद हुआ, वे लोग उत्साह से भर गये। यात्रा से वापस आने पर बाबा का घर पहुँचना हुआ नहीं कि तुरंत चारो ओर से निरंतर वेग से कुमारी-मूर्तियों का आना आरंभ हो गया। दीर्घकाल तक इस प्रकार आनेवाली कुमारी-मूर्तियों का स्वागत-सत्कार, पूजन भोजन कराने में भक्तगण अपने जीवन को धन्य समझने लगे।

एक समय की बात है, बाबा गुष्करा से वर्धमान आये। वहाँ श्रीयुत् उपेन्द्रनाथ चौधरी के घर में ठहरे। उस समय उपेन्द्र बाबू पुलिस विभाग में सब-इन्सपेक्टर थे। वहाँ के पुलिस आफिसर थे आर.एफ. गाइज्। वे बहुत ही उग्र प्रकृति के थे। उपेन्द्र बाबू के साथ भी उनका बड़ा कठोर व्यवहार होता था। पूज्यपाद बाबा एक-दो दिन के लिए मात्र वहाँ पधारे थे। उपेन्द्र बाबू उनके उद्यमशीलकर्मी भक्तों में से थे। उन्होंने इस अवसर पर बाबा की अतुलनीय सेवा की। एक दिन रात्रि के समय सेवा में कुछ त्रुटि हो गयी। रात को वे बाबा के पूजागृह में नैवेद्य आदि के निकट फूल रखने को भूल गये। बाबा जब द्वार बंद करके क्रिया करने बैठ गये, तब पूजा घर के चारों ओर अपूर्व मनोहर पद्मगंध फैल गयी। इसी गंध को पाकर उपेन्द्र बाबू को फूल रखने की बात का स्मरण हो आया। अवश्य उन्होंने फूल लाकर रख लिये थे, परन्तु देने को भूल गये थे। फूल की भूल उनके चित्त में चढ़ गयी। रात भर उन्हें नींद नहीं आयी। आत्मग्लानि से हृदय भर गया था। सबेरे आठ बजे के लगभग बाबा ने घर का दरवाजा खोला। किन्तु लज्जावश आज उपेन्द्र बाबू दरवाजे के बाहर ही खड़े रहे। घर के भीतर प्रवेश करने का उनको आज साहस न हुआ। फिर जब बाबा ने उन्हें स्नेह-भरे स्वर में घर के भीतर बुलाया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि अपराधमार्जन हो गया। वे तुरन्त भीतर गये। जाकर देखते क्या हैं कि शत-शत कमल पुष्पों से पूरा घर भरा हुआ है। ऐसा मालूम हो रहा था मानों वे स्वयं दिव्य पद्मगन्ध के उन चतुर्दिक् बिखरी तरंगों पर आनन्द से उतरा रहे हों। बाबा के शरीर से वह स्निग्ध मधुर पद्मगन्ध झर-झर करती हुई चारों ओर फैल रही थी। उपेन्द्र बाबू उसका अद्भुत स्पर्श पा रहे थे।

बाबा बोल उठे—"अच्छा, लाओ, स्नान का प्रसादी जल लेकर सब को बाँट दो।" उपेन्द्र बाबू ने प्रसाद तथा स्नान-जल सबको वितरित किया। स्वयं

भी ग्रहण किया और वे थोड़े एक तरफ हटकर खड़े हो गये। बाबा ने बात उठायी "क्यों उपेन्द्र! फूल देने को भूल गये थे?"

उपेन्द्र—"हाँ बाबा, मुझसे अपराध हुआ। क्षमा माँगता हूँ। बाबा—"अरे वाह। सन्तान का भला अपने पिता के निकट अपराध क्या हो सकता है वत्स! उपेन्द्र तुम आज तो फूल ले आये थे, उन फूलों से आज पूजा नहीं होनी थी। नहीं तो मैं तुमसे स्वयं ही माँग लेता। मैं पूजा करने बैठ गया, तब मुझे दिखायी पड़ा कि एक पुष्करिणी के भीतर बड़े-बड़े सुन्दर कमल-पुष्प खिले हैं। अतः मेरे मन में आया कि आज मैं इन्हीं पुष्पों से माँ की पूजा करूँ। तुम्हारी वैसी कोई भूल नहीं।"

बाद में बाबा ने कहा—"आज मैं तुमको एक आश्चर्यजनक घटना दिखाऊँगा। अच्छा सुनो, मुझे मालूम हुआ है कि मानों तुम्हारे साहब तुम्हारे ऊपर बहुत ही नाराज हैं। वे तुम्हारा अनिष्ट करने की सोच रहे हैं। फिर भी तुम अपने प्रमोशन के लिए एक प्रार्थना पत्र लिखकर उनके हाथ में दे आओ तो देखें। उपेन्द्र बाबू बोले—"बाबा, यह कार्य मैं किस प्रकार कर पाऊँगा? अर्जी देते ही साहब मारने दौड़ेंगे। जब कि मैं और कागज पत्र लेकर उनके पास जाया करता हूँ, तब वे मेरे मुँह की ओर सिर उठाकर ताकने तक नहीं। कागज पत्र मैं उनके सामने सरका देता हूँ और कार्य होते ही वहाँ से चला आता हूँ।"

बाबा बोले—"अच्छा, यदि ऐसा है तो मानो आज के दिन मेरे लिए ही तुम मार खाकर आवो। देखो तो, सचमुच क्या होता है।"

उपेन्द्र बाबू ने यथासमय अर्जी लिख ली, कार्यालय में जाकर आवश्यक कागज पत्र ठीक से सजा कर रख लिये। वह दरखास्त भी साथ में रख दी। जब साहब ने पुकारा उपेन्द्र बाबू हाजिर हो गये और पास में खड़े होकर एक एक करके आफिस के सब कागज पेश किये। फिर अन्त में "जय गुरू" कहकर अपना प्रार्थना-पत्र साहब के सम्मुख रख दिया। अन्य कागज पत्र देते समय साहब नीचे की ओर मुँह किये हुए ही प्रत्येक कागज पर हुक्म देते थे। किन्तु जब यह प्रार्थना-पत्र पेश हुआ, तब कागज की ओर न देखकर पहले उपेन्द्र बाबू की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देखा, फिर प्रार्थना पत्र पढ़ना प्रारम्भ किया उसे दो बार पढ़ा। पढ़ चुकने पर उस पर अपना अभिमत लिखने लगे। पूरा एक पृष्ठ लिख डाला। वह उपेन्द्र बाबू को पढ़कर सुनाया और कहा—"तुम्हारे डबल प्रमोशन के लिए मैंने कलकत्ते के बड़े ऑफिसर को लिख दिया है। वे साहब महोदय यदि तुम्हें दुगुनी तरक्की न देंगे, तो मैं स्वयं ही अब शीघ्र उस पद पर जाने वाला हूँ, मैं तुम्हें प्रमोशन दूँगा।" उपेन्द्र बाबू ने कागज लपेट लिया और कार्यालय में वापस आ गये। वहाँ से जब अपने घर पहुँचे, तब सारा वृत्तांत बाबा

से निवेदन किया। बाबा के श्रीमुख से निकला—"अहा! नारायण क्या कभी अविचार करेंगे? वत्स, नारायण के राज्य में अविचार नहीं है। वे जो कुछ भी करेंगे सब मंगल के लिए ही करेंगे। जीव उनकी महिमा क्या जाने। जीव अपनी ओर से जो जो मनमाना चाहता रहता है, यदि वह सभी उसे दे दिया जाय तो क्या कभी उसकी रक्षा हो सकती? नारायण न दें तो पाने का कोई उपाय नहीं। वे जो सब समय सब कुछ नहीं देते यह उनका मंगल विधान ही है। अन्धजीव तमोगुण के द्वारा स्वयं कर्ता बनकर विश्वपति के कार्यकौशल्य को भूल जाता है। अहंकार के आवेश में उसकी बुद्धि कलुषित हो जाती है प्रज्ञा का लोप हो जाता है और नश्वर विषय सुख के आस्वादनों को करते कराते वह कुपथगामी बन जाता है। सत्य का समादर सदा सर्वकाल रहता है किन्तु मिथ्या का प्राधान्य कुछ समय के लिए होने पर भी वह स्थायी नहीं टिकता।"

*

नवम अध्याय

बाणलिंग की स्थापना

बाबा अपने सतीर्थगणों के बीच में यद्यपि वयस् में कनिष्ठ थे, फिर भी आध्यात्मिक उन्नति में अधिक श्रेष्ठ होने के कारण वे बहुतों के लिए श्रद्धा समादर के पात्र बन चुके थे। महात्मा भृगुराम स्वामी का विशिष्ट कृपाभाजन बनना कोई साधारण सौभाग्य की बात नहीं। उनके एक गुरु भ्राता ने एक दिन उनके पास इस प्रकार लिख भेजा था—

"तुम तो सब जानते ही हो। तुम तो अच्छे ही हो। तुम्हारे जैसे यथार्थ पुरुष का ही संसार में रहना उचित है। महात्मा महापुरुष भगवान परमाराध्य दादा गुरुदेव श्रीमद् भृगुराम परमहंसदेव ने तुम्हारे संबंध में जो कुछ कहा है वह वर्णनातीत है। तुम ही हो यथार्थ भक्त, महापुरुष, योगी, ज्ञानी, त्यागी और गृही। असीम सहनशील हो अतः सर्वभोगी दादा गुरुदेव ने एक दिन सब योगियों के सम्मुख तुम्हारे असीम योग सामर्थ्य के सम्बन्ध में प्रकाश डाला था। तुम अब भी जो उग्र तपस्या करते हो, उसे भी दिखाया था। किन्तु घूम कर देखा तो कुछ भी नहीं, चमत्कारिक ढंग से सब गायब। देह रोमांचित। फिर देखते हैं कि जगत भी नहीं है। यह क्या खेल है भाई? यही मैं जानना चाहता हूँ। मुझे जीव के आयुमान से भी अतीत दीर्घजीवन प्राप्त हो चुका है। मैंने अनेकानेक म्लेच्छ, हिन्दू, मुसलमान शिष्य ग्रहण किये। बहुत कुछ देखा, बहुत कुछ कह चुका। तुम्हारी जैसी योग-शिक्षा परमाराध्य भृगुराम स्वामी ने मुझे दी नहीं। मैं चाहता हूँ तुम्हारे पास कुछ दिन तक ठहरूँ और तुमसे चात्वर योग एवम् यागकल्प योग सीखूँ। मुझ में ऐसी इच्छा क्यों हो रही है। जीव और शिव में तो कोई पार्थक्य नहीं फिर भी जीव मानता नहीं। मंगलमय के राज्य में जीव यौवन अवस्था में काम, क्रोध आदि के अधीन होकर पाप पुण्यात्मक विविध कर्मों का आचरण करता है। आहा! जीव देह के भोग के निमित्त ही समस्त कर्मजंजाल में अपने को डालता है। देह तो आत्मा से विभिन्न है। स्वयं आत्मा तो कुछ भी नहीं भोग करती। यदि आत्मा भोग करती हो तो फिर पाप पुण्य का भागी किसे माना जाय?"

बाबा की योग मार्ग में उन्नति देखकर भृगुराम स्वामी ने उनपर सन्तुष्ट होकर उन्हें एक अद्‌भुत शक्ति सम्पन्न 'हरिहर' नामक बाणलिंग उपहारस्वरूप दिया था। वह बाणलिंग इतना अधिक तेजो-विशिष्ट था कि सिद्ध ब्रह्मचारी एवं

शक्तिशाली योगी को छोड़ करके दूसरा कोई व्यक्ति उसकी ओर एकाग्र दृष्टि से ताकते हुए तनिक देर भी कर्म के आसन पर स्थिर भाव से बैठा नहीं रह सकता था। योगमार्ग में किसने कितनी उन्नति की है इसकी परीक्षा इस बाणलिंग के द्वारा हो जाती थी। इस लिंग में एक और विशेषता यह थी कि दिनभर में भिन्न भिन्न समयों में बदल-बदल कर उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों का विकास दिखाई देता था। केवल इतना ही नहीं, जो कोई साधक इसका आश्रय लेकर क्रिया करने बैठता था, उसे इस लिंग के भीतर इतने अपूर्व भाँति-भाँति के व्यापार दिखाई पड़ते थे कि जिनकी कोई गिनती नहीं। यह सिद्धलिंग था। सिद्धिलाभ के समय बहुत काल तक यह बाबा के मस्तक के अन्दर सुरक्षित था। पश्चात् जब वापस करने का समय आया तब पूज्यपाद भृगुराम स्वामी सदा काल के लिए वह उनको दे देने के लिए उद्यत हुए। यह सुनकर के आश्रम में एक विचित्र कानाफूसी प्रारम्भ हो गयी। आश्रमवासी योगीगणों में से कोई-कोई इस बात का प्रतिवाद करने लगे। उन लोगों ने कहा यह बाणलिंग तो आश्रम की सार्वजनीन सम्पत्ति विशेष है, इसके द्वारा जबकि बहुत से साधकों का उपकार होता रहता है तो उसे आश्रम में ही रखना चाहिए। व्यक्तिगत भाव से एक जन को दे डालना उचित नहीं है। किन्तु भृगुराम स्वामी तो अतुल्य प्रतापशाली। वे इस प्रकार दूसरों के मतामत से चालित होने वाले कब थे। उन्होंने अग्रदर्शिता से जो कुछ एकबार कह दिया, फिर उसे करके ही मानते थे। उन्होंने साथ ही साथ उन योगीवृन्द से कहा—"भाई देखो मैं स्वयं अपनी ओर से विशुद्धानन्द का यह बाणलिंग देने को प्रस्तुत हूँ, तब इसमें कलह वा अशांति का कोई कारण नहीं। निःसन्देह ठीक पात्र समझ कर ही यह उनको दिया जा रहा है। यह बात ठीक है कि उन्हें दे देने के बाद फिर यह बाणलिंग आश्रम में नहीं रहेगा किन्तु इससे आप लोग कदापि दुःखी न हों। आगे इससे बहुत बड़ा कार्य होना है। निकट भविष्य में इस लिंग को बंग देश में एक विशेष स्थान में स्थापित होना है। फिर जिसकी इच्छा हुआ करेगी, वहाँ पहुँचकर इसकी पूजा आदि कर सकेगा। योगी के लिए तो देश दूरी का व्यवधान कोई चीज नहीं है।"

यह कहकर वे अपने गुरुदेव के पास जाकर उपस्थित हुए और भक्ति विनीत अभिवादन करके समस्त वृतांत उनसे निवेदन करते हुए बोले—"गुरु देव मैं आश्रम के सिद्ध बाणलिंग को आज कल्याण भाजन विशुद्धानंद की तपस्या से संतुष्ट होकर उन्हीं के हाथों में सौंपने को प्रस्तुत हूँ। मैं जानता हूँ वे ही एकमात्र इस असाधारण वस्तु को धारण करने के लिए योग्य पात्र हैं। आप आशीर्वादपूर्वक इसमें अपनी सम्मति प्रदान करें।" गुरुदेव ने हर्ष पूर्वक आशीर्वाद के साथ अपनी सम्मति प्रदान कर दी। बाबा को जब वह बाणलिंग प्राप्त हुआ, उन्होंने गुरुदेव के आदेशानुसार उसे फिर से अपने मस्तक के भीतर स्थापित कर

लिया। केवल क्रिया तथा पूजा के समय मस्तक के अन्दर से मुख आदि किसी द्वार से बाहर निकाल लेते थे। तदनन्तर क्रिया समाप्त होते ही उसे पुनः यथास्थान रख लेते थे। इस लिंग के अतिरिक्त दूसरा कोई भी शिवलिंग बाबा की क्रियाकालीन प्रकाशमान तीव्र तेजोराशि को धारण करने में समर्थ नहीं था। उस प्रकार की चेष्टा भी कई बार की गयी। क्रिया के समय किसी साधारण लिंग की ओर स्थिर दृष्टि से निरीक्षण करने लगे कि बाबा के तीव्र तेज से वह लिंग फटकर चूर-चूर हो जाता था। इस प्रकार जब कुछ दिन बीत गये, तब पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने बाबा के जन्म स्थान बण्डुल ग्राम में यह बाणलिंग स्थापित करने को कहा और तदर्थ मन्दिर, आश्रम एवं गुहा निर्माण करने का आदेश किया। बाबा का इस सम्बन्ध में पहले दूसरा विचार था। रेलवे लाइन के पास शक्तिगढ़ नामक स्थान में आश्रम स्थापन करने की उनकी इच्छा थी परन्तु गुरुआज्ञा अलंघनीय समझकर वे तदनुसार व्यवस्था करने में जुट गये। इस लिंग स्थापना का पूरा इतिहास अतिशय अद्भुत है। वे विचित्र बातें यहाँ पर उल्लेखित करने की आवश्यकता नहीं है। अभी उसके प्रकाशन का समय भी नहीं आया। अस्तु ठीक अचूक मुहूर्त पर बण्डुल ग्राम में 'बण्डुलेश्वर' नाम से इस शिवलिंग की स्थापना की गयी। मन्दिर, गुहा आदि विधिपूर्वक आदेशानुसार ही निर्माण किये गये। जिस स्थान पर मन्दिर की रचना हुई, उस जगह में खोदते समय भूमि के अन्दर एक गड़ा हुआ त्रिशूल पाया गया। पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने पहले ही इस संबंध में संकेत दे रखा था। बंडुलेश्वर की स्थापना के फलस्वरूप आगे बण्डुल ग्राम का माहात्म्य किस प्रकार बढ़ेगा, इस संबंध में बहुत सी बातें भविष्यवाणी के रूप में उन्होंने बतलायी थीं। सचमुच बण्डुलेश्वर शिवलिंग की महिमा अवर्णनीय है। जो कोई कर्मी है, यदि वह कुछ समय के लिए उसके पास स्थिर भाव से बैठेगा, वह अवश्य ही उसके अनुपम माहात्म्य का परिचय पायेगा। योग और मंत्र साधना के लिए ऐसा योग्य अनुकूल स्थान कम देखने में आता है।

बंडुलेश्वर की पावन प्रतिष्ठा हो चुकने पर बंडुल में प्रत्येक वर्ष महाशिव रात्रि के समय खूब समारोह के साथ उत्सव मनाया जाने लगा। देश-देशान्तर से भक्त और शिष्यगण वहाँ पर पधारते और उत्सव में योगदान करते। शंकर भगवान की महिमा के कीर्तिगान में तथा नाना प्रकार के निर्दोष आनन्द रसास्वादनों में अपूर्व ढंग से सबका समय कट जाता था। भक्त मंडली के परस्पर मिलन के द्वारा उत्पन्न अनिर्वचनीय निर्मल आनन्द के प्रकाश में इस मंगल उत्सव के प्रसंग की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती थी।

गुष्करा में ही बाबा के जीवन का अधिकांश समय बीतता था। इसी स्थान में वे स्वयं साक्षात् महादेव-सदृश पूजे जाते थे। गृही, संन्यासी, रोगी, भोगी और

योगी उनके प्रति श्रद्धा न व्यक्त करे, ऐसा कोई भी व्यक्ति वहाँ पर नहीं था। गुप्करा में रहते थे, तब पूज्यपाद बाबा के कितने कितने विभूति चमत्कार प्रकट हुए हैं, उनकी संख्या बताना कठिन है। न जाने कितने उद्देश्य लेकर कितने लोग उनकी परीक्षा करने आये, किन्तु परीक्षा लेन में वे लोग अपने फन्दे में स्वयं ही फँसते चले गये। अनेक व्यक्ति विरुद्ध भाव लेकर आये और आते ही उनके पास विरोध भूल कर श्रद्धानत होकर उनके शिष्य बन गये, इस प्रकार अपने को धन्य समझने लगे। ऐसे अनेक ने उनके चरणों में जीवन की चरम सिद्धि का सोपान प्राप्त किया। भगवान तो सदा मंगलमय हैं, इसीलिए यदि कोई शत्रुभाव से भी उनकी आराधना करता है तब भी उस का मंगल ही होता है। उसी प्रकार भगवद्भक्त और प्रकृत महापुरुष के निकट संस्पर्श में आने पर उनके सत्संग के प्रभाव से असाधु भी साधु बन जाता है। क्योंकि—

अमृत कुण्ड में गिरी अगर॥
मक्खी भी बन गयी अमर॥

अचिन्त्य वस्तु की शक्ति और महिमा तर्क और विचार से परे है। तीर्थ स्वामी अवस्था के बाद बाबा ने जो अद्भुत आध्यात्मिक उन्नति दिखायी, उससे गुरुदेव उनपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्हें 'परमहंस' उपाधि से विभूषित किया। आश्रम के नियमानुसार उनको परीक्षा भी देनी पड़ी थी। परीक्षक थे स्वामी नीमानन्द परमहंस। किन्तु परीक्षा-ग्रहण तो था केवल आश्रम का विधान पालन मात्र। दूध और जल एकत्र मिला हुआ रहने पर जिस प्रकार हंस दोनों को पृथक् कर केवल दूध को ही ग्रहण कर लेता है उसी भाँति आत्मा तथा अनात्मा का विवेक साधन कर लेने से जिस योगी में आत्माभिनिवेश पूर्ण चरितार्थ हो जाता है वह 'हंस' नाम से गिना जाता है। तदनन्तर परमात्मा की उपलब्धि होने पर हंस भाव से ऊर्ध्व में 'परमहंस भाव' का जागरण होता है। परमहंस भाव है द्वन्द्वातीत अवस्था। इसी अवस्था में जागतिक द्वन्द्व शान्त होकर निर्द्वन्द्व अद्वय पद प्राप्त हो जाता है। हंस अवस्था में प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त होता है किन्तु अस्थायी रूप से। आत्माभिमान जब पूर्ण विगलित होकर जगत्स्वामी के साथ अपना योग स्थापित हो जाता है—अर्थात् जब परमहंस पद प्राप्त होता है, तब प्रकृति वस्तुतः ही स्थायी रूप से आयत्त हो जाती है, इतना ही नहीं अपितु निज अंगीभूत हो जाती है। तब फिर अभिमान का लेश भी नहीं रहता। केवल एक शुद्ध बोध मात्र रह जाता है।

*

दशम अध्याय

प्रकृत ब्राह्मण

परमहंस उपाधि पा चुकने पर कई एक वर्ष बाद बाबा ने गुष्करा ग्राम छोड़ दिया और वे वर्धमान में रानीगंज बाजार में मकान किराये पर लेकर रहने लगे। यहाँ पर वे लगभग दो वर्ष तक रहे। बाबा जब वहाँ निवास करते थे, तब एक दिन एक अद्भुत घटना घटी. किसी के कहने में आकर एक आदमी बाबा के सन्ध्या गृह में चुपके से घुस गया और अन्दर छिप कर बैठ गया। उसका उद्देश्य यह था कि जरा देखें बाबा जी किस प्रकार क्रिया करते हैं और क्रिया करते समय कोई चमत्कारिक व्यापार घटित होता हो तो उसे जान लें। इस आदमी को जिस व्यक्ति ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था वह अध्यात्म जगत की बातें कतई नहीं जानता था इसमें कोई सन्देह नहीं। बाबाजी की परीक्षा करना और उनकी साधनापद्धति जान लेना यही उसका उद्देश्य था। जो भी हो कर्म का फल तो अवश्यम्भावी। बाबा अपने समय पर गृह में वायु की क्रिया करने लगे। बाह्य वायु को आकर्षित करके प्रक्रिया विशेष द्वारा उसे जब स्तम्भित कर दिया. तब पूरे घर की वायु अवरुद्ध हो गयी। जो आदमी अज्ञानभाव से घर के भीतर एक कोने में चुपचाप लुका बैठा था, बाबा के पूर्वोक्त प्रकार वायु आकर्षण के समय श्वांस कष्ट में उसका कण्ठ रुकने लगा, तब बड़े जोर से वह एक बारगी चिल्ला उठा –"बाबा रे!" उसकी चीत्कार ध्वनि सुनकर बाबा की दृष्टि उधर गयी। उस आदमी को देखते ही सारा व्यापार वे समझ गये। किन्तु उसे न कहकर उन्होंने तुरन्त वायु का साम्य स्थापित कर दिया और उसके प्राण बचाये. बाद में उसके इस दुष्कर्म के संबंध में उसे लज्जित करते हुए डाँटकर कहा—"देखो, अब कभी इस प्रकार से किसी योगी की परीक्षा करने का दुस्साहस मत करना, नहीं तो भयंकर विपद् में पड़ोगे। तुम पर मेरी तत्काल दृष्टि पड़ गयी, इसलिए तुम बच गये वरना प्राणरक्षा तो दूर रही, कभी-कभी शरीर तक जलकर भस्म हो जाने की आशंका रहती है। योगीगण गुप्त रूप से कब क्या कार्य करते हैं, यह सब बाह्य-जगत वाले लोग यदि जानने की चेष्टा करें तो वह अनुचित होगा। यदि कदाचित् तुम आज के अपराध में दुर्वासा जैसे प्रकृति-विशिष्ट योगी के क्रोध के पाले पड़े होते, तो आज तुम्हारा सर्वनाश हो गया होता। अच्छा, जाओ। ऐसा कार्य अब कहीं कदापि मत करना।"

एक समय की बात है संध्या समय में बाबा आन्हिक करने बैठ चुके थे। पूजागृह के कपाट यों ही टिकाये हुए थे, क्रिया में बैठने के पूर्व द्वार पूर्णतया बन्द

कर लेने को भूल गये थे। पर्याप्त समय बीत चुका किन्तु आज बाबा फिर भी बाहर नहीं निकल रहे हैं क्या बात है। और दूसरे दिनों में जिस समय तक बाहर आ जाया करते थे वह बेला भी टल गयी, तब भी द्वार न खुला। आश्रम स्थित भक्तमण्डली चंचल हो उठी। कोई मन में सोचने लगे, हो सकता है वे आज किसी गुरुतर कार्य में लगे हुए हों। कोई अनुमान करने लगे कि सम्भव है किसी विशेष प्रयोजन से योगशक्ति बल से वे कहीं दूर प्रदेश में चले गये हों, वहाँ से लौट आने में विलम्ब हो क्योंकि इस प्रकार की घटनाएँ बहुत बार हो चुकी हैं और अब भी होती रहती हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि दरवाजा बन्द करके वे उपासना गृह के अन्दर अपने आसन पर बैठ गये, भीतर से दरवाजा जैसा का तैसा बन्द ही रहा और बाहर से खबर आयी कि अमुक दूर देश में अमुक स्थान में अमुक भक्त को दर्शन व उपदेश देकर बाबा वापस आ रहे हैं। कभी-कभी तो एक ही समय में कई जगह उनको उपस्थित पाया गया है। योगी की गतिविधि का संधान भला कौन रख सकता है। आज न जाने क्या बात है कि हमेशा से बहुत ज्यादा रात बीत चुकी, तब भी गृह द्वार नहीं खुल रहा है। इस प्रकार लोग अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कर रहे थे। इतने में उधर अकस्मात एक जन[१] शिष्या महिला ने पूजागृह के द्वार पर जाकर कपाटों में धक्का लगाया। साँकल नहीं लगी थी। अतः द्वार तुरन्त खुल गया। खुलने के साथ सामने घर के अन्दर जो अपूर्व दृश्य नजर आया, उसे देखते ही शिष्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। चकित हो वह क्या देख रही है—कि बाबा एक नन्हें से शिशु बने हुए, पैर ऊपर किये उताने लेटे हैं और अपने पैर को अपनी नन्हीं-नन्हीं उँगलियों से पकड़े हुए मुख से चूस रहे हैं। इस अद्‌भुत प्रत्यक्ष दर्शन के समय बाँकुड़ा अयोध्या निवासी डॉक्टर श्रीयुत् चन्द्रभूषण वन्द्योपाध्याय एल० एम० एस० प्रभृति कई व्यक्ति वहाँ पर उपस्थित थे।

वर्धमान में क्षेत्रगोपाल वन्द्योपाध्याय नामक एक ब्राह्मण पंडित फलित ज्योतिष का व्यवसाय करते थे। वे कभी कभी बाबाजी के पास-राणीगंज वाले मकान में आया करते और थोड़ी देर तक बातचीत करके वापस चले जाते थे। बाबा पृथक् आसन पर बैठे रहते थे। दर्शक और भक्तमंडली के लिए पृथक् आसन बिछा रहता था। क्षेत्रबाबू अपने आप को बहुत गुणी पंडित समझते थे, वे सर्वसाधारण आसन पर सबके साथ बैठने में कुछ संकोच करते थे। संभवतः इसलिए वे पहले दिन जब आये, तुरन्त बाबा के आसन पर ही एक तरफ एक साथ बैठ गये। पहले तो बाबा ने कुछ न कहा किन्तु आगे चलकर जब दूसरे दिन भी उसी प्रकार समवेत एक आसन पर बैठने लगे, तब बाबा ने उन्हें भद्र

---

१. यह शिष्य महिला थीं अलीपुर कोर्ट के डेप्युटी सुपरिटेण्डेण्ट ऑफ पुलिस श्रीयुत् प्रियनाथ दे महाशय की पत्नी।

भाषा में मना करके पृथक् आसन पर बैठने को कहा। इस समुचित निषेध एवं सुयोग्य सुझाव की प्रक्रिया को क्षेत्रबाबू ने अपना अपमान समझ लिया और वे तुरन्त बोल खड़े हुए –"बाबा आप भी ब्राह्मण हैं तो मैं भी ब्राह्मण हूँ। मेरे भी अनेक यजमान और शिष्य हैं, समाज के अन्दर मेरी भी क्या कम प्रतिष्ठा है? मुझे भी लोग मानते हैं। इसके अलावा मैं आप से अधिक वयोवृद्ध हूँ। तब फिर आपने मेरे प्रति अभी जो बर्ताव किया उसे मैं अत्यन्त अपमानजनक मानता हूँ।"

सुनकर बाबा स्थिर गंभीर भाव से कुछ हँसते हुये बोले—"प्रिय ब्यानर्जी महाशय—यथार्थ ब्राह्मण कौन? क्या आप जानते हैं। यदि जानते होते तो आप ऐसी बात क्यों करते? आप खाली कुल-परंपरागत ब्राह्मणत्व के अहंकार मद में फूले हुए हैं। यदि आप स्वयं यथार्थ ब्राह्मण होते तो सम्मान पाने के लिए इतने लालायित न होते। सचमुच जो ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण, वह क्या कभी सम्मान की प्रत्याशा करेगा। वह ब्रह्मतेज से स्वयं तेजस्वी, स्वयं महिमान्वित। उस प्रकृत ब्राह्मण के लिए ये अन्यान्य गौरव अतिशय तुच्छ प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण तो इन्द्र आदि देवगणों के बड़े-बड़े पदों को भी तृणवत् देखता है। शास्त्र में है—स्वयं नारायण भगवान ने ब्राह्मण की चरणधूलि को अपने वक्षस्थल में धारण किया था।" इस पर क्षेत्र बाबू पुनः बोल पड़े—"वर्तमान समय में क्या अब वैसे ब्राह्मण हैं? वह जमाना बीत चुका, वह ब्रह्मतेज भी लोप हो गया। उस युग में ब्राह्मण के नेत्र से अग्नि जल उठती थी। आजकल वैसी क्षमता किसी ब्राह्मण में नहीं है।"

बाबा ने कहा—"हाँ, आप सत्य कह रहे हैं। काल के प्रभाव से वर्तमान समय में शास्त्रकथित वैसे लक्षणसम्पन्न ब्राह्मण बहुत दुर्लभ हो रहे हैं किन्तु यह मत समझिये कि सब लुप्त हो गये। आज भी हैं। वर्तमान समय में भी जो कोई ब्राह्मणोचित आचार और साधना का अनुष्ठान सचाई के साथ करते जाते हैं उनमें न जाने कितनी इस प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ आज भी देखने में आती हैं। केवल नेत्र से ही क्यों, ब्राह्मण के सभी अंगों से तेज बाहर प्रकट होता है। ब्राह्मण का देह असाधारण तेज सम्पन्न!"

इतना कहकर बाबा ने क्षेत्रबाबू की ओर किंचित् अपांग दृष्टि निःक्षेप किया। क्या ही आश्चर्य! दृष्टि पड़ते मात्र तत्क्षण उन वृद्ध सज्जन की चादर में आग लग गयी! पंडितजी ने तुरन्त ही चादर को दूर फेंक दिया। कुछ ही मिनटों में चादर पूरी जलकर भस्म हो गयी। क्षेत्र बाबू अवाक् होकर देखते रह गये। अपने जीवन में केवल पहली बार उन्होंने यह चमत्कार देखा। किस प्रकार इतनी दूर से केवल नयन-रश्मि द्वारा ब्रह्मतेज से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर वस्तु जलकर खाक हो गयी। आज ही उन्होंने सचमुच जाना कि प्रकृत ब्राह्मण की क्षमता कितनी अधिक होती है।

*

एकादश अध्याय

विशुद्धाश्रमों की स्थापना

दादा गुरुदेव श्री भृगुराम परमहंस स्वामी के आदेश से वर्धमान में एक आश्रम निर्माण करने का प्रस्ताव हुआ। इस प्रस्ताव को कार्यपरिणत करने में कुछ समय अवश्य ही लगा किन्तु जितना विलम्ब होने की आशंका थी, उतना नहीं हुआ। वर्धमान रेलवे स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर यह आश्रम स्थापित है। बाबा के गुरुदत्त नाम के अनुसार इस का नाम 'विशुद्धाश्रम' रक्खा गया है। आश्रम की प्रतिष्ठा हो चुकने पर उसके परिचालन के लिए दादा गुरुदेव ने कई एक सुन्दर संरक्षक नियम बना दिये। इन्हीं नियमों के अनुसार अब भी आश्रम का संचालन हो रहा है। साधारण जानकारी के लिए उक्त नियमावली में से कुछ नियम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। यथा—

(क) शिष्यगण योगकर्म की अवहेलना न करें, इस बात की सावधानी रखनी होगी और उनमें से जब जिसे जो विषय जानने की अथवा देखने की इच्छा होगी, तुरन्त दिखा देना या सुना देना होगा। यदि योग्य पात्र न हो तो उसे प्रत्यक्ष दिखाना नहीं, केवल समझा देना।

(ख) शिष्यगणों के साथ योग संबंधी व शास्त्र संबंधी व किसी गोपनीय विषय पर जब चर्चा हो, उस समय वहाँ पर अन्य कोई भी न रहना चाहिए, यहाँ तक कि उपयुक्त शिष्यको छोड़कर दूसरा कोई शिष्य भी वहाँ न रहने पाये। गुह्य विषय व्यक्त होने से समूह की क्षति होगी, ऐसा जानना।

(ग) विषय-कार्य अथवा विषय संबंधी कोई कार्य लेकर आश्रम में कोई भी न आये वा न ठहरे।

(घ) तुम योग-ज्योतिष के द्वारा किसी के भी संबंध में कोई विषय न देखोगे, न कहोगे। यहाँ तक कि तुम अपने आत्मीयों के संबंध में भी कहना नहीं व देखना नहीं। यदि फिर भी देखोगे व बतलाओगे तो तुम्हारी समस्त क्रिया ध्वंस होगी।

(ङ) किसी के भी किसी रोग या किसी अन्य संबंध में इच्छा शक्ति के प्रयोग के द्वारा कार्य नहीं करना। यदि करोगे तो तुम इसे अपनी क्रिया के ध्वंस का कारण जानना।

(च) आश्रम में आकर कोई संन्यासी, योगी, भैरवी, ब्रह्मचारी जो कोई कर्मी होंगे, वे जबतक उनकी इच्छा होगी, ठहरे रह सकेंगे। उनके संबंध में सभी

को ध्यान रखना होगा। यदि कर्मी अथवा यथार्थ भक्त न हो तो आश्रम में नहीं ठहर सकेगा।

(छ) कोई स्त्रीगण आश्रम में सहसा न आने पाएँ। यदि आ भी जायँ तो आश्रम के भीतर ठहरने नहीं पायेंगी। शिष्यगणों की स्त्रियाँ आदि सब समय आ सकती हैं परन्तु एक प्रहर या अधिक से अधिक एक दिवस ठहर सकेंगी। एक मास से लेकर छः वर्ष तक के पुत्र, पुत्री लेकर के कोई भी आश्रम के अन्दर आने नहीं पायेगा। यदि आये तो सन्तान को अन्यत्र रखकर आवें एवं पुनः तुरन्त लौट जायँ।

(ज) आश्रम में अपरिचित व्यक्ति व स्त्रीगण आने पर रात्रि में ठहरने नहीं देना होगा।

इन सब नियमों का विधान श्रीमद्‌भृगुराम परमहंस देव ने बनाकर दिया। नियमों को भली प्रकार पढ़ने से यह ठीक-ठीक जाना जा सकता है कि आश्रम के उद्देश्य साधन करने के पक्ष में वे कितने उपयोगी हैं।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा लग सकता है कि गुष्करा का व्यापक सम्पर्क छोड़कर बाबा का चला आना और आश्रम निर्माण करके उसमें स्थायी रहने लगना मानों कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। एक भाव से भावित एक ही पथ के पथिक साधकगण जिसमें संघ-बद्ध होकर एक दूसरे के अनुकूल रहते हुए जीवन के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे, उसमें सहायता देने के लिए आश्रम की बहुत उपयोगिता है। आश्रम एक केन्द्र स्वरूप है। आश्रम के सहारे सम्प्रदाय विशेष का अध्यात्म-राज्य गठित होकर क्रमशः प्रसारित होता है। प्राचीनकाल में एवं मध्ययुग में, भारतवर्ष तथा पाश्चात्य देशों में धर्म-प्रचार का इतिहास देखने पर यह स्पष्ट मालूम होगा। और एक बात यह है कि जो सब शिष्यगण यथार्थ कर्मी हैं उनको विशेष अवसरों पर साथ में रखकर अनेक गुह्य तत्त्व अच्छी प्रकार समझा देना होता है और योग्य अधिकारी होने पर संशय निवारणार्थ बहुत से विषय प्रत्यक्ष दिखाना आवश्यक हो जाता है। अवस्था के अनुरूप व्यष्टि भाव से या समष्टि भाव से इसप्रकार शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था प्रचलित है। अथच धर्म का अन्तरंग तत्त्व सभी बाह्य जगत के पास प्रकाशित करना उचित नहीं होता। वैसा करने से अनेक प्रकार से अनिष्ट होता देखा गया है। इसलिए शिष्यवृन्द के एकत्रित होने एवं ठहरने के लिए एक स्थायी केन्द्र स्थापित हुए बिना इस प्रकार का कार्य सुन्दर सुरक्षापूर्ण ढंग से होना सम्भव नहीं। वर्धमान में आश्रम स्थापित करने का यह एक प्रधान कारण था। इस प्रसंग में उपर्युक्त (क) (ख) और (ग) नियम द्रष्टव्य हैं।

योग के द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति का प्रयोग लौकिक कार्यों के लिए

करने का निषेध है। शास्त्र ने तो इसके लिए बारम्बार मना किया है। एक बार में तीव्र भाव से इच्छाशक्ति का प्रयोग करने पर जितनी हानि होती है, उसे पुनः पूरा करने में बहुत समय लग जाता है। देह तो प्रायः ही विकारों से भरा तथा रोगों से घिरा, उसके पीछे रोग निवारण जैसे मामूली काम के लिए महती इच्छाशक्ति का प्रयोग करना अवैध माना गया है। इच्छाशक्ति द्वारा तो मुहूर्त मात्र में सृष्टि और संहार तक हो सकते हैं। यथार्थ योगी की इच्छाशक्ति को निष्फल करने की क्षमता त्रिभुवन में भी किसी में नहीं।

रोग निवारण जैसा छोटा कार्य इच्छाशक्ति द्वारा होने में तो पलक मारने की भी देर न लगे। किन्तु इन सब अन्य उपायसाध्य कामों के पीछे इच्छाशक्ति का प्रयोग करना युक्तिसंगत नहीं। (ङ) चिन्हित नियम में स्पष्ट निषेध[१] किया है कि लौकिक कामों के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग करना उचित नहीं। योग-ज्योतिष, इच्छाशक्ति, देवज्योतिष किंवा अन्यान्य जो अलौकिक शक्तियाँ हैं, उन सभी के प्रयोग करने के विषय में यही नियम है। गुरुदेव की अनुमति से इन सबका प्रयोग करने में कोई हानि की सम्भावना नहीं। और दूसरे नियमों का उद्देश्य यही है कि आश्रम में शृंखला बनी रहे, विशुद्धता की रक्षा हो एवं विषय-दुर्भावों पर नियन्त्रण कायम रहे। आश्रम के भीतर विषय-चर्चा करना या वैषयिक हेतु पूर्ति के लिए आश्रम में प्रवेश करना यह बात आश्रम की मूल नीति के विरुद्ध है।

---

१. इच्छा शक्ति के ऐसे प्रयोग के संबंध में अनेकों के मन में नाना प्रकार की शंकाएँ उठ सकती हैं। इसलिए इस विषय पर संक्षेप में यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक मालूम होता है। कोई प्रश्न कर सकता है—"तब क्या लौकिक कार्यों के लिए इच्छा का प्रयोग योगीगण करते ही नहीं?" ऋषियों एवं महापुरुषों के जीवन चरित्रों को देखने से पता चलता है कि उन सबके जीवन अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण हैं। उन घटनाओं में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। हाँ स्थल विशेष में साम्प्रदायिक व व्यक्तिगत कारणवशतः महापुरुष गणों के जीवन चरित विकृत करके लिखे हैं, किन्तु सर्वत्र ही ऐसी भूल है, सो बात नहीं। अतएव उन सब अलौकिक सत्य घटनाओं का कारण क्या होगा, उसका निर्णय करते समय बहुत से लोग यहाँ इच्छाशक्ति के प्रयोग को ही कारण समझ लेते हैं। वस्तुतः बात दूसरी ही है। जो प्रकृति योगी हैं जो अपनी व्यक्तिगत इच्छा को ईश्वरीय इच्छा के साथ संयुक्त करके अभिमान से रहित हो चुका है, ऐसा वह युक्तयोगी कभी भी स्वार्थ साधन के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग कर ही नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष परमार्थ की हानि करके स्वार्थ के आकर्षण में कदापि आकर्षित नहीं हुआ करता। जो परमात्मा के साथ युक्त हो जाते हैं, उनकी पृथक् इच्छा नहीं रहती। उसी एकत्व की अवस्था में यदि किसी में इच्छाशक्ति का स्फुरण हो जाय तो उसे ईश्वरीय इच्छा ही मानना पड़ेगा। इस स्फुरण के लिए उनपर कोई नैतिक दायित्व नहीं। कारण, इस विशुद्ध अवस्था में वे ईश्वरीय सत्ता के साथ अभेद्य संबंध से स्थित होते हैं। किन्तु हाँ, जिस समय ये लोग युक्त अवस्था में स्थित नहीं होते बल्कि युंजान अवस्था में प्रयत्नवान

शुद्ध एवं पवित्र हुए बिना देवमन्दिर में जैसे प्रवेश करना निषिद्ध है, उसी प्रकार आश्रम में भी प्रवेश करने के पहले मन से वैषयिक कामना यथासम्भव दूर हटा कर तब जाना उचित है। यदि ऐसा न किया जाय तो स्थान का प्रभाव धीरे-धीरे मलिन होता चला जाता है।

आश्रम प्रतिष्ठित हो चुका उसकी परिचालना के लिए ऐसी नियमावली भी तैयार कर दी गयी। आश्रम कार्य भी यथाविधि चलने लगा। बण्डूल आश्रम स्थापन हो चुकने पर एकदिन पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने बाबा को लिखा था— "आश्रम के अधिकारी तुम नहीं हो, तुम्हारे शिष्यगण हैं।" वर्धमान आश्रम के सम्बन्ध में भी यही आदेश ज्यों का त्यों कायम रहा। बाबा निष्काम तथा ममत्व वर्जित होकर आश्रम के अधिष्ठाता बने रहे।

इसके कई वर्ष बाद पत्नी का शरीरान्त हो गया, किन्तु इससे वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। आत्मीय स्वजनों की मृत्यु से भी कभी किंचित् मात्र भी वे कातर नहीं हुए। उनकी जननी, कन्या प्रभृति परलोकगामी हो चुकीं, तब भी उनका धैर्य, संयम और चित्त का उपशम निरन्तर अडिग ही बना रहा। इस प्रकार का अद्भुत आत्मसंयम देखने में नहीं आता।

शास्त्र का वचन है—"तरति शोकमात्मवित्।" अर्थात् जिनको आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, उन्हें शोक अभिभूत कर नहीं सकता, वे शोक, मोह से पार हुए चिर आनन्द और परम शान्ति का उपभोग करते हैं। पूज्य बाबा के जीवन में यह सत्य अक्षर-अक्षर करके चरितार्थ हुआ देखने में आया। यहाँ के जीवन मरण दोनों जिसके लिए समतुल्य हो चुके, वही एकमात्र जन्म मृत्यु के ऊर्ध्व में शाश्वत धाम में स्थितिलाभ करने में समर्थ होता है। पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने लिखा था—"सभी लोग क्रिया करें तो अमरत्व प्राप्त होगा। वास्तव में कोई मरता नहीं, कोई जीता नहीं। मरना जीना तो बाहरी स्थूल का खेल मात्र।"

वर्धमान में 'विशुद्धाश्रम' की स्थापना होने के बाद शिष्य संख्या बढ़ने के साथ साथ क्रमशः कई स्थानों में उसी प्रकार के आश्रम स्थापित हो गये। झालदा

रहते हैं उस समय अवश्य ही क्षीण होने पर भी व्यक्तिगत इच्छा उसमें जाग उठ सकती है इसी अवस्था को उद्देश्य करके उपर्युक्त ... विहित नियम बनाया है समस्त विधि निषेधों का हेतु इसी अवस्था को लेकर है, इच्छा के माने कामना विशेष हो तो। यह कामना विशेष अध्यात्म जगत में जिस प्रकार सर्वप्रधान मित्र का काम करती है उसी प्रकार कभी कभी भारी दुश्मन का भी काम कर सकती है। परमार्थ के लिए कामना करना सर्वमंगल का हेतु है विषय के लिए कामना करना सब अनर्थों का मूल है परमार्थ भिन्न जो कुछ है सभी स्वार्थ कहलाता है। इसी का नाम है विषय। विषय कामना जागते ही चित्त विषय में लग जाता है। इससे चित्त में विषय दोष लिपट जाता है और चित्त विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा सम्बन्धी कामना जगाने से चित्त विक्षेप दूर होकर एकाग्रता स्थापित हो जाती है। अन्त में चित्त निरोध होकर विशुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार होता है।

में 'विशुद्ध निवास', पुरी क्षेत्र में 'विशुद्धानन्द धाम' तथा वाराणसी में 'विशुद्ध कानन' प्रतिष्ठित किया गया। कलकत्ता, वैद्यनाथ धाम, धनबाद इत्यादि विभिन्न स्थानों में आश्रम न होने पर भी उनके अनुरूप आवास स्थानों की व्यवस्था हुई। वहाँ पर आसपास के भक्त तथा जिज्ञासु गण सुविधापूर्वक बाबा के पास एकत्रित हो सकते थे।

वर्धमान आश्रम के भीतर श्री गोपाल तथा शिव प्रतिष्ठित किये गये हैं।

बण्डूल आश्रम में जैसे प्रतिवर्ष महाशिवरात्रि के समय विशेष समारोह के साथ उत्सव मनाया जाता है उसी प्रकार वर्धमान आश्रम में भी होता है। इसी उपलक्ष्य में दूर के तथा निकट के नाना स्थानों से आकर भक्त एवं शिष्यगण उत्सव में यथाशक्ति योगदान करने के लिए आश्रम में बहुसंख्या में उपस्थित होते थे। बाबा स्वयं विराजमान रहकर वहाँ की सब व्यवस्था कराते थे। महाशिवरात्रि है विशेष महत्त्वपूर्ण उत्सव। बहुत लोगों ने इस समय का अपूर्व प्रभाव अनुभव किया है। पूज्यपाद श्रीमद्भृगुराम स्वामी ने कहा है कि इस विशिष्ट समय में उनकी शक्ति की महिमा शिष्य वर्ग के बीच कोई न कोई शिष्य अवश्य ही अनुभव कर पायेगा। वस्तुतः वही घटित होता है। इसी उत्सव की तरह व्यापक भाव से न सही, फिर भी जन्माष्टमी के समय अच्छे समारोह के साथ वर्धमान आश्रम में भी उत्सव मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे उत्सव और कुमारी भोजन प्रभृति नाना प्रकार के नैमित्तिक उत्सव प्रत्येक मास में बराबर लगे ही हुए हैं।

*

---

१. झालदा आश्रम स्थल बंगाल में मानभूमि जिले के अन्तर्गत है। यह स्थान पुरुलिया से तीस मील दूरी पर है। बंगाल नागपुर रेलवे नामक रेल लाइन पर झालदा स्टेशन विख्यात है। यहाँ के स्थानीय जमींदार श्रीयुत रुद्रचन्द्र सिंह महाशय एकजन बाबा के भक्त शिष्य थे। उन्हीं ने झालदा आश्रम बनवा दिया। दूसरा पुरीधाम का आश्रम बनवाने का और व्यवस्था आदि के लिए रुपया लगाने का पूरा भार कलकत्ता हाइकोर्ट के वकील बाबा के परम भक्त श्रीयुत क्षेत्रगोपाल बन्द्योपाध्याय एम०ए०, बी०एल० महाशय ने अपने ऊपर लिया था। यह आश्रम पुरी जिला स्कूल के समीप आर्मस्ट्रांग रोड पर निर्मित किया गया। इसी प्रकार श्रीकाशीधाम में दो आश्रम स्थापित हुए। एक तो गंगा किनारे हनुमान घाट के पास दिलीप गंज मुहल्ले में था। इसका नाम था 'विशुद्धानन्द कुटीर'। बाबा के भक्तशिष्य कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील, 'श्रीयुत सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय' एम०ए०, बी०एल० महाशय तथा उनकी पत्नी दोनों ने एक मकान खरीद करके और उसमें प्रयोजन के अनुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन करते हुए उसे वासोपयोगी आश्रम का रूप दे दिया था। काशी में द्वितीय आश्रम बनाया गया है—बनारस कैण्टूनमेण्ट रेलवे स्टेशन के पास मलदहिया मुहल्ले के अन्दर एक बगीचे में। इसका नाम रक्खा 'विशुद्धानन्द कानन'। बाबा की शिष्यमण्डली के सम्मिलित उद्योग के द्वारा यह बृहद् बगीचा एवं आश्रम खरीदना बनाना हुआ।

द्वादश अध्याय

ज्ञान और विज्ञान

हिमालय के योगाश्रम में योग, विज्ञान, रसायन आदि विद्याओं की शिक्षा एवं आलोचना की जिस प्रकार व्यवस्था है, ठीक वैसी ही व्यवस्था छोटे ही रूप में सही, यहाँ पर सब लोगों के बीच में चालू करने की पूज्यपाद बाबा की इच्छा थी। इसलिए श्री काशी-धाम के अन्दर 'विशुद्धकानन' नामक आश्रम में एक 'शिक्षा-मन्दिर' और एक 'विज्ञान-मन्दिर' का निर्माण किया गया। यद्यपि विज्ञान मंदिर का निर्माण कार्य पूरा हो चुका, तथापि इस मन्दिर के ऊर्ध्व-देश में नील-रक्तादि वर्णमय काँच का एक छोटा सा गृहनिर्माण करने का जो आयोजन था, वह अभी पूरा हुआ नहीं। काँच का यह गृह बनकर जब तक सब प्रकार से सुसज्जित नहीं हो जाता, तब तक सूर्य विज्ञान तथा अन्यान्य विज्ञानों के प्रयोगों की व्यवस्था सम्भव नहीं। एक इंच मोटे, सुबृहत्, स्वच्छ और विविध रंगों के अनेक काँच खण्डों द्वारा यह प्रयोग भवन निर्माण करना होगा। फिर सुवर्ण, रौप्य, ताम्र आदि धातुओं के मोटे तथा पतले तारों से समग्र मन्दिर छा देना होगा। उक्त सामग्री इकट्ठी हो जाने पर निकट भविष्य में विज्ञान मन्दिर का उद्दिष्ट कार्य प्रारम्भ हो सकना संभव है।

यह विज्ञान, जगत के और सब विज्ञानों का शिरोमणि है। इस सूर्य विज्ञान को जान लेने से जीवों के सभी अभाव दूर किये जा सकते हैं। इसके द्वारा जीव अपने जन्मकालीन उपादान अर्थात् व्यक्तिगत प्रकृति का आमूल परिवर्तन करके विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। विशेषकर भारतवर्ष का यह अपना निजस्व है किन्तु अपने ही देश से इस विज्ञान का लोप सा हो चला है। कल्पनातीत क्लेश सहन करके दुर्गम पर्वत-प्रदेश से पुनः प्राप्त करके सुदीर्घकालीन साधना द्वारा पूज्यपाद बाबा ने इसे सिद्ध किया है। अतः ऐसी दुर्लभ विद्या उन्हीं के साथ-साथ पूर्ववत् पुनः विलुप्त हो जाय, ऐसा वे कदापि नहीं होने देना चाहते। इस विद्या के प्रभाव से समस्त जगत का कल्याण हो यही है उनकी स्वाभाविक आकांक्षा! इस विज्ञान की क्षमता असाधारण है, यहाँ तक कि अपरिसीम कहा जाय तब भी कोई अत्युक्ति नहीं। बाबा का कहना है कि योगशास्त्र में ऐसी किसी भी अलौकिक सिद्धि का वर्णन नहीं है, जो अपेक्षाकृत सुगम उपाय से इस सूर्य विज्ञान के द्वारा उपलब्ध न की जा सके। पातञ्जल योग दर्शन का विभूति पाद, शिव पुराणादि अन्य प्राचीन ग्रंथ, तंत्रशास्त्र, बौद्ध तथा जैन शास्त्रों के योग संबंधी ग्रंथ, सूफी और ईसाई योगीगणों की ग्रंथ माला आदि आदि यच्चयावत

योगसाहित्य में वर्णित प्रत्येक व्यापार इस सूर्य विज्ञान के द्वारा सहज साध्य है। इसके अतिरिक्त इसकी रहस्यमयी क्षमता का तो कोई पारावार ही नहीं।

हम लोग वर्तमान युग में 'विज्ञान' शब्द साधारणतः जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, सूर्य विज्ञान ठीक उस जाति का विज्ञान नहीं है। यदि यह उस प्रकार का विज्ञान होता तो एक परम योगी जो कि अध्यात्म साम्राज्य के अधीश्वर पद पर आरूढ़ है वे इसकी ओर इतने अधिक आकर्षित नहीं हो सकते थे। 'विज्ञान' शब्द से बाबा का सचमुच क्या तात्पर्य है, इसे इनके द्वारा लिखित कई एक पत्रों के (ग्रन्थकार के पास भेजे गये) उद्धृत अंशों के द्वारा जाना जा सकता है। बाबा ने लिखा था—"वत्स, सभी कुछ उन्हीं की इच्छा। उन इच्छामयी के प्रति विशेष लक्ष्य रखने से ही सभी विषय भलीभाँति जाने जा सकते हैं। उक्त इच्छामयी की कृपा के बिना कोई भी विषय जानने की किसी में भी शक्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को श्रेष्ठत्व कैसे प्राप्त हुआ है? क्योंकि वह स्वभाव का भाव और गुण का विषय जानने की चेष्टा करता है और बहुत कुछ उसने जान लिया है। ज्ञान पाने पर मायार्जनित दुष्कर प्रलोभन से छुटकारा पाने का उसने उपाय किया एवं करता जा रहा है। जिसके द्वारा संपूर्ण त्रितापर्जनित तापों से निस्तार पाया जाय, फिर से न हो, ऐसी चेष्टा को ही 'सम्पाद्य ज्ञान' कहा जाता है। यह भी दो भागों में विभक्त है ज्ञान और विज्ञान। जिनके द्वारा सृष्टि और लय होते हैं वे कौन हैं, वे क्यों इस प्रकार करते हैं इत्यादि जानने का नाम है 'ज्ञान'।

उसकी परावस्था, सृष्टि और लय करने वालों को भी[1] जिन्होंने रचा है, उस घोररूपिणी महाशक्ति व्योमातीत के विषय में जानने का नाम है 'विज्ञान'। जगत् मिथ्या, एक वे ही सत्य हैं।"

(पुरीधाम से बंग० १३३२, वैशाख १२ को लिखा पत्र)

बाबा का लिखा हुआ एक और दूसरा पत्र है—"वत्स, जो कुछ तुम देखते हो, वह सब महाशक्ति का व्यापार है, सचराचर मानव की चिन्ता शक्ति जड़ की अन्धशक्ति के साथ अंगीभूत होकर नाना भावों में भ्रमण करती रहती है। वह महाशक्ति के विज्ञान तत्व को धारण करने में समक्ष नहीं हो पाती। सर्वव्यापिनी शक्ति में स्थूलता-बोध यह बात भूल है। और उसके द्वारा महाशक्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है। यह विषय सहज ही में जाना जा सकता है। महाशक्ति ज्ञान और उसकी चिन्तायें दोनों ही प्रबल योग में स्वाभाविक होते हैं—अस्वाभाविक परिमित पदार्थ द्वारा ये चालित नहीं होते। उनकी गति तो महाकाशभेदी एक मात्र महाशक्ति में ही होती है। इस महाविज्ञान चिन्ता के बीच में और कोई नहीं होता। सीधे महाशक्ति की कृपा से ही इसका प्रस्फुटन होता है। मानव हृदय में यदि

---

१. और एक स्थान में बाबा ने लिखा है—"जो सभी के लिए मंगलमय और सभी के आधार में वर्तमान हैं जो ज्ञान तथा निर्वाण मुक्ति के मूल हैं उनको भी प्रसव करने वाली जो है, वे तुम सबका मंगल करें यह मेरा इष्ट।" *(गुमो से २० माघ, बंग० १३३३ को लिखित पत्र)।*

सरसों-प्रमाण भी पवित्रता हो तो अखण्ड महामाया का विशुद्ध भाव से चिन्ता कर जो ज्ञान, उस ज्ञान के उज्ज्वल तेज से सब प्रकार के पाप-ताप, ज्वाला यंत्रणा, आसक्ति की आवर्जना प्रभृति भस्मीभूत हो जाते हैं।

उस समय हृदय के अन्दर महाशक्ति का 'जगत् शक्ति' का ज्ञानामृत प्रकाशित होकर के कलुषित संतप्त चित्त महाआवरण से परित्राण पाये बिना रह ही नहीं सकता। तब बाह्यिक व्यापार सब भूल जाता है। महामाया की कृपा-शक्ति विज्ञान बल से महाशक्ति का महातत्त्व स्थूल जगत में उतार ला सकती है। असीम महाशक्ति के महाविज्ञान के आलोक द्वारा प्राण में जो कुछ होता है, वह जिसे हुआ होगा वही जान सकता है। तदर्थ भाषा नहीं है, भाषा होती तो मैं लिखता। यह भली प्रकार जाना गया है कि योग और विज्ञान के बिना इस विषय में कुछ भी समझ पाना सम्भव नहीं है।"

(७ फाल्गुन, बंग १३२९, नं० ७ कुण्डू रोड, भवानीपुर, कलकत्ता से लिखा हुआ पत्र)।

यह सब पत्रांश पढ़कर मालूम हो सकता है कि ज्ञान से विज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान का सारांश ही है 'विज्ञान'। तत्त्व वस्तु को सामान्य भाव से जानने का नाम 'ज्ञान' है और तत्त्व वस्तु की सम्पूर्ण विशेषताओं को ज्ञान करके उसे सब प्रकार से अपने अधीन करने का नाम 'विज्ञान' है। ज्ञान के द्वारा परमात्मा की तृतीय भूमि पर्यन्त उपलब्धि होती है, किन्तु तुरीयातीत महाशक्ति का स्वरूप यदि समझना है, जो कि समस्त तत्त्वों से अतीत होकर भी परम तत्त्व रूपा हैं उनको यदि धारण करना हो तो विज्ञान के सिवा अन्य गति नहीं है।

ज्ञानी का चित्त भी भगवती महामाया के मायाचक्र में खिंचा हुआ, मोह भँवर में पतित होकर डूबने उतराने लग जाय, ऐसी सम्भावना कभी कभी होती है। किन्तु ज्ञान जब विज्ञान में परिणत हो जाता है, जिस समय एक ओर शुद्धा-भक्ति और दूसरी ओर शुद्धा कृपा उदित होकर भक्त को महाशक्ति की सुशीतला गोदी में ले जाकर बैठा देती हैं, तब फिर पतन की कोई आशंका नहीं रह जाती। शिशु जब अपनी माँ का हाथ पकड़कर अपनी चाल से अपने बल पर चलने की चेष्टा करता है, तब उसके गिर पड़ने की सम्भावना होती है, क्योंकि दुर्बल शिशु की थकी हुई मुट्ठी की पकड़ ढीली होकर हाथ छूटकर उसके गिर पड़ने में कोई देरी नहीं लग सकती। किन्तु माता जब शिशु को स्वयं अपने हाथ का सहारा देती है और शिशु को अपने हाथ से मजबूत पकड़े हुए ले चलती है, उस समय फिर भय का कोई कारण नहीं रह जाता। ज्ञान और विज्ञान का परस्पर संबंध कुछ इसी प्रकार समझना चाहिए। विज्ञान के उज्ज्वल आलोक के भीतर ज्ञान और अज्ञान दोनों ही समसूत्र होकर निष्प्रभता को प्राप्त हो जाते हैं। द्वैत तथा अद्वैत, नित्य एवं अनित्य, गति और स्थिति इन सबको यथार्थ समभाव से देखना

हो तो एकमात्र विज्ञान का आश्रय लेना ही होगा। इस प्रसंग में बाबा के और एक पत्र में से किंचित अंश हम यहाँ पर दे रहे हैं।

उन्होंने लिखा है—"वत्स, सकल शक्तियों की मूल जो शक्ति हैं, एकमात्र वही सब के आदि अन्त में रहती हैं। समस्त विषयों में उनके प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। स्वयं वे जब शक्तियों का संकोच करेंगी, उस समय सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह एवं विचित्र जगत, सकल देव-देवी जो जो कुछ भी हैं, किसी का भी अस्तित्व नहीं रहेगा और कोई भी नहीं दिखायी देगा। एकमात्र पूर्ण परमानन्दमयी ब्रह्ममयी द्वैताद्वैत, नित्य और अनित्य लीला के अन्दर सुख दुःख, हाय-हताशा, पिता-पुत्र, सेव्य सेवक इत्यादि सबको लेकर के मजे का खेल करती हैं। प्रयोजन अप्रयोजन स्वयं ही जानती हैं और जो कोई उन ब्रह्ममयी के प्रसंगों को लेकर समझने की चेष्टा करते हैं, वे भी कुछ कुछ जान पाते हैं। जीवात्मा, स्वरूपात्मा, परमात्मा, स्थूल आत्मा प्रभृति जो हैं सब उन महाशक्ति माँ के ही भाव हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ समझने में नहीं आता। वत्स! असार युक्ति तर्क द्वारा तो कुछ मिलता नहीं। प्रत्यक्ष वस्तु के लिए और युक्ति तर्क क्या? जगत प्रसविनी प्रत्यक्ष माँ योग में ब्रह्मातीत माँ महाभाव-तत्त्व का सार मर्म क्रिया के द्वारा हृदय में सर्वदा ही ग्रहण करो, बाह्यिक भाव के भीतर झुक न पड़ते हुए सर्वदा ही माँ को स्पर्श करने में सक्षम होओ, तभी सब कुछ सम्भव होगा?"

(१७ चैत्र, बंग० १३३२, नं० २० रूपनारायण नन्दन लेन, भवानीपुर से लिखित)।

ज्ञान और विज्ञान इन दोनों के साथ सवितृ तत्त्व का घनिष्ट सम्बन्ध है। सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान होता है, जितने भी पदार्थ हैं सभी का ज्ञान प्राप्त होता है। यह बात योगशास्त्र में है। इसका एकमात्र कारण यही है कि सूर्य सम्पूर्ण पदार्थों का प्रसवकर्ता, मूल स्तम्भ और केन्द्र स्वरूप है। सूर्य के आलोक में ही परिदृश्यमान जगत के समस्त पदार्थ प्रकाशमान होते हैं। क्या जाग्रत में, क्या स्वप्न में सर्वदा ही और सर्वत्र ही सृष्टि के अन्दर सूर्य ही एकमात्र प्रकाशक हैं। सूर्य से जो तेजोधारा चारों ओर फैलकर छिटक पड़ती है उसको यदि संयत करके एकमुखी बनाकर एक ही ओर प्रवाहित करते बने, तो समग्र जगत ज्ञानशून्य हो जायेगा, बाह्य ज्ञान, भेदज्ञान सब लोप हो जायेगा। सूर्य रश्मियों के विक्षेप से ही जागतिक ज्ञान का उद्‌भव होता है। जिस समय रश्मियों का संघात प्रतिष्ठित हो जाएगा, उस समय जीव का भी विक्षिप्त ज्ञान निवृत्त हो जायेगा और एकाग्र ज्ञान का उदय होगा। तत्पश्चात् वही संहत रश्मि, वही केन्द्रीकृत घनीभूत प्रभाराशि जब सूर्यमण्डल का त्याग करके ऊर्ध्व की ओर उठने लगेगी, उस समय प्रणव के आलोक में परमतत्त्व प्रकाशमान होता जायेगा, प्रबुद्धा कुण्डलिनी-शक्ति आहत नागिनी की तरह योगनाद करती हुई ब्रह्मपथ अवलम्बन पूर्वक महाव्योम-

राज्य भेदकर के व्योमातीत महाशक्ति की ओर आगे बढ़ती चली जायगी। यही है विज्ञान का आत्मप्रकाश। जो कुछ बृहद् ब्रह्माण्ड में होता है, छोटे से मनुष्य देहरूपी पिण्ड में भी ठीक वही होता है।

सूर्य को आश्रय करके ही ज्ञान तथा विज्ञान दोनों का विकास होता है। सूर्य के आलोक में देह-मध्यस्थ इड़ामार्ग संचारी चन्द्र प्रकाशित होकर स्निग्ध अमृतधारा से समस्त देह को आप्लावित कर लेता है। पिंगलावर्ती सूर्य क्रियाकौशल से जिस समय प्रबल तेजोमय रूप धारण करता है, तब उसी के संस्पर्श से मध्यशक्ति कुछ परिमाण में उत्तेजित होकर वाम पार्श्वस्थ इडा मार्ग से संचरणशील चन्द्रमा को उग्र भाव से परिणत कर देती है। क्रमशः दक्षिणशक्ति, मध्यशक्ति और वामशक्ति तीनों ही शक्तियाँ समान रूप से उत्तेजित होकर, त्रिकोन के तीनों कोन समभाव से विक्षोभ को प्राप्त होते हैं तब ये तीन शक्तियाँ समष्टिभूत होती हुई मध्यस्थ ब्रह्मबिन्दु को धक्का देकर जगा देती है, यह है कुण्डलिनी का जागरण अथवा मंत्र चैतन्यसम्पादन। सुतराम् सूर्य की प्रबलता द्वारा ही चन्द्र सूर्य का साम्य स्थापित होता है और अन्त में सुषुम्ना के साथ अभेद सम्पन्न होता है।

जब ये तीनों पृथक् स्रोत एक समकेन्द्र की गहराई में पतित हो सम्मिलित सामञ्जस्य को प्राप्त हो जाते हैं तब स्वभावतः ही अद्वैत मार्ग उन्मुक्त हो जाता है और उस मुक्त आलोक के अन्दर तत्त्व वस्तु का दर्शन होता है। जब तक एकाग्र भूमि के अवसान में निरोध आयत्त नहीं और चित्त वृत्ति की एकान्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक स्वयंप्रकाश विज्ञान तत्त्व का स्फुरण होना सम्भव नहीं होता। यदि महाशक्ति के राज्य में प्रवेश करना हो तो एकाग्र भूमि के ज्ञान को निरुद्ध करके परिपूर्ण विज्ञानशक्ति का आश्रय ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है।

तन्त्र के मातृकातत्त्व और वर्णतत्त्व की गंभीर भाव से विवेचना करने पर जाना जा सकता है कि इसमें सूर्य-विज्ञान का ही रहस्य छिपा हुआ है। जगत की सृष्टि, स्थिति और संहार सर्वविध व्यापार ही मातृका मण्डल की क्रिया द्वारा होते हैं ऐसा तन्त्रशास्त्र में प्रतिपादित है। षडध्वा के विचार प्रसंग में एक ओर पद, मंत्र और वर्ण एवं दूसरी ओर भुवन, तत्त्व और कला इनके परस्पर सम्बन्धों का निरूपण करने से समझ में आ जायेगा कि वर्ण और कला अच्छेद्य सम्बन्ध से विजड़ित हैं।

जैसे शिव और शक्ति का, उसी प्रकार वाक् और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। विक्षुब्ध सवितृ-बिन्दु से शुद्धावस्था में बाहर निकलकर फैला हुआ नादमय रश्मिचक्र जो है, वास्तव में वही है अ कार आदि वर्णमाला। शब्द ब्रह्मरूपी हिरण्यगर्भ वा सविता यद्यपि केन्द्र-स्थल में एवं व्योम में अखण्ड एक ही विराजमान है, तथापि बाह्य भाव में उनचास वायुओं के कंपन, उनचास वर्ण या रश्मि के रूप में वह बाहर प्रकट होता है। ये पचास वर्ण ही व्यष्टि और समष्टि भाव से 'अ' से लेकर 'क्ष' तक वर्णमाला के अथवा अ क्ष माला के रूप

मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र तक छः चक्रों के बीच पचास दलों में प्रकाशमान होते हैं। इस वर्णतत्त्व अथवा नादतत्त्व को आयत्त किये बिना ब्रह्मविद्या में अधिकार प्राप्त नहीं होता है, क्यों कर "शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति" शब्द से ही जगत सृष्ट हुआ है। शब्द में ही अन्त में जगत का लय भी होता है, इतना ही नहीं सृष्टि एवं लय दोनों से ही अतीत, संकोच तथा प्रसार के ऊर्ध्व में स्थित अच्युत ब्रह्मबिन्दु में पहुँचने के लिए भी आगे मंत्ररूपी शब्द ही कर्णधार होता है। सब देवताओं के शरीर भी इसी मंत्रमय ज्योति के द्वारा ही गठित होते हैं। यंत्र आदि का स्वरूप भी वही है। शुद्ध विद्या के द्वारा आत्मसंस्कार करके इस विद्या के धाम के अधिष्ठाता यदि होते बने अर्थात् मंत्रेश्वर, मंत्र महेश्वर आदि पद प्राप्त किया जा सके, तभी वर्णमाला के ऊपर अधिकार प्राप्त होगा। इस अवस्था में समस्त मंत्र और देवता किंकरवत् अधीन हो जाते हैं और साधक को गुरुपद वाच्य सदाशिव अवस्था प्राप्त होती है। प्रणव और व्याहृति का रहस्य जिन्हें ज्ञात है, वे लोग समझ सकेंगे कि वेदों में भी इसी बिन्दु एवं नाद की साधना का ही उपदेश जहाँ तहाँ देशोचित कालोचित नाना प्रकारों में अधिकार भेद के अनुसार किया गया। ईसाई मत, प्राचीन और मध्ययुग के पाश्चात्य योग सिद्धान्त, सूफी मत एवं अन्यान्य देशों की अन्तरंग साधन-प्रणाली, इन सब का अनुसंधान करके देखने से पता चलता है कि सर्वत्र यह एक ही विज्ञान प्रचारित हुआ है। अनधिकारी लोगों ने उसको समझ न सकने के कारण केवल ऊपर ऊपर स्थूल भाव से मात्र ग्रहण किया है।

प्रकृति का सारा व्यापार ही है रंगों का खेला। जो कोई निर्लिप्त दर्शक होगा, वह तटस्थ भाव से देख पायेगा कि एक सर्वव्यापक शुभ्र सत्वमय वर्ण के ऊपर नील, रक्त आदि अनन्त प्रकार के मिश्र और अमिश्र वर्णो का घात-प्रतिघात चल रहा है। फलत: जल बुद्बुदों जैसा विश्वरूप इन्द्रजाल रचित हो रहा है। अज्ञानी के रंजित नेत्रों में यह इन्द्रजाल अथवा मायिक व्यापार मानों सत्य जैसा प्रतीत होता है। जब तक कि नेत्रों से यह वर्णों का आवेश कट न जायेगा, जब तक मोह हट नहीं जायगा, तब तक मिथ्या दर्शन भी मिट नहीं सकता। जिस शुभ्र भित्ति के ऊपर यह कुरूप मायाचित्र-राशि खेल रही है, उसके वास्तव दर्शन के लिए जब तक यथार्थ दृष्टि नहीं खुल जाती, तबतक अपरूप विचित्र जगदर्शन से मोहित होना ही पड़ेगा। बाहरी वैचित्र्य की भीतरी गहराई में स्थित वह व्यापक अखण्ड ऐक्य सूत्र यदि खोज निकालना हो, तब तो चित्त की तथा उसके सहकारी इन्द्रिय गणों की मार्जना आवश्यक है। समस्त वासनात्मक चित्र-विचित्र रंगों के ढेर ने अन्तर्दर्पण को आच्छादित कर रक्खा है। उन सबको दूर हटाना होगा। तभी अन्त: स्थित स्वाभाविक स्वच्छता प्रस्फुटित हो उठेगी। जब चित्त स्वयं शुभ्र हो जायगा, तब वह शुभ्र सत्वमय जगदाधार को सहज में ही देख पायेगा, उस दशा में मायावी की माया को पकड़ने में उसे कोई विलम्ब नहीं लगेगा।

विज्ञान का उद्देश्य है—इस फैले हुए विराट इन्द्रजाल का मूल सूत्र खोज निकालना। वर्णमाला के संयोग और वियोग द्वारा ही जगत के समस्त व्यापार घटित होते हैं। सृष्टि और प्रलय इस संयोग वियोग के ही अवश्यंभावी फल हैं। विज्ञानवेत्ता लोग समस्त कार्यों के उपादान और निमित्तों का स्वरूप विशेष भाव से जानकर विधाता के कला-कौशल को प्रत्यक्ष रूप से पकड़ ले सकते हैं। इतना ही नहीं, कुछ हद तक विधाता के ऐश्वर्य को भी हस्तगत कर पाते हैं। इससे भी बढ़कर यहाँ तक कि इच्छा करने पर विज्ञानवेत्ता तो विधाता को भी अतिक्रम कर जाते हैं और सर्वमूला अनादि महाशक्ति के श्रीचरणों तक जा उपस्थित होते हैं। विश्वामित्र का जगन्निर्माण, भण्डासुर की नूतन विशाल ब्रह्माण्ड रचना ये सब साधन राज्य के इतिहास में सर्वप्रसिद्ध घटनाएँ हैं।

पुस्तक पढ़ना सीखने के पहले जिस प्रकार सर्वप्रथम वर्ण परिचय आवश्यक, तदनंतर वर्णों की संयोजन प्रणाली सीखी जाती है, उसी प्रकार विज्ञान-शिक्षा का प्रथम सोपान है विशुद्ध रश्मियों के साथ परिचय स्थापन करना। सूर्य की रश्मियों का विश्लेषण सीख कर प्रयोजनानुसार शुद्ध वर्ण को चीन्ह कर बाहर लाना और पकड़ रख सकना जब बनने लगता है, तब भिन्न भिन्न रश्मियों की परस्पर मिलन पद्धति समझ में आने लगती है। वेदान्त शास्त्र में पंचीकरण और उपनिषद आदि में त्रिवृतकरण प्रणाली का उल्लेख देखा जाता है। किन्तु उस प्रणाली को सचमुच विज्ञान-क्रिया के कुशल मर्मज्ञ व्यक्तियों के सिवा कोई समझ नहीं सकता। यह भी रश्मि संयोजन की ही एक अवस्था मात्र है। जो भी हो, इस विषय में यहाँ पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।[1]

सूर्य विज्ञान का बहुत कुछ व्यापार मैंने अपनी आँखों से देखा है। यहाँ पर उन सब का विस्तारपूर्वक वर्णन करने का प्रयोजन नहीं है। तब भी दो चार घटनायें दृष्टान्त रूप से उल्लेख कर रहा हूँ। इसीसे बहुत कुछ आभास मिल सकेगा।

यह चरित कथा लिखने के प्रायः दस वर्ष पहले एक दिन दिलीप गंज के आश्रम में पूज्यपाद बाबा से मैंने सृष्टि तत्त्व के विषय में प्रश्न किया था। उस समय प्रकृति और पुरुष के संयोग संबन्ध में चर्चा चल रही थी। बाबा बोले—"दो वस्तुओं का संघर्ष हुए बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। जगत में जो कोई वस्तु देख पाते हो, प्रत्येक वस्तु इस संघर्ष के फलस्वरूप ही निर्माण हुई है और

---

१. 'सूर्य विज्ञान' के सम्बन्ध में यथाशक्ति विस्तारपूर्वक विवेचना करने की इच्छा है। वह दूसरे भाग में की जायेगी। फिर भी तत्त्वसम्बन्धी दो चार मोटी बातें यहाँ कहकर विषय समाप्त करूँगा, अनेक व्यक्तियों ने पूज्यपाद बाबा की कृपा से सूर्य विज्ञान के नाना प्रकार के प्रयोग अपनी आँखों से देखे हैं। अंग्रेजी, बँगला आदि विभिन्न भाषाओं की पत्रिकाओं में पाश्चात्य और देशी पण्डितगणों के बीच में अनेक ने इसकी आलोचना भी लिखी है। किसी-किसी ने समझ न पाने के कारण सूर्य विज्ञान को इच्छाशक्ति का ही अवस्था-भेद कह कर वर्णन किया है। किन्तु वे लोग वस्तुतः इच्छाशक्ति किसे कहते हैं यह जानने

हो रही है। प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विचार सम्प्रति छोड़ दो। जो कुछ भी देख पाते हो, सर्वत्र ही यही नियम प्रबल है। सभी वस्तुओं में प्रकृति और पुरुष उभय का अंश विद्यमान है। अणु परमाणुओं तक में ये दो विभाग वर्तमान रहते हैं। जिसमें प्रकृति का भाग अधिक एवं पुरुष का अंश अल्प होता है, उस वस्तु में पुरुष भाव अभिभूत अर्थात् दबा हुआ होता है और प्रकृति भाव प्रधानरूप से प्रकट रहता है। इसी प्रकार पुरुष अंश प्रधान होने पर पुरुष भाव का विकास

नहीं। इच्छाशक्ति में बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। सत्य संकल्प योगी की इच्छा मात्र से तत्क्षण कार्य घटित हो जाता है, तदर्थ बाहरी उपादान का आकर्षण आवश्यक नहीं होता। यह है अभिन्न निमित्तोपादानवादी वेदान्तिक का सिद्ध या अद्वैत भूमि की बहिर्मुख अवस्था। उत्पल देव ने कहा है—

> "चिदात्माहि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशात् बहिः।
> योगीव निरुपादानमर्थ - जातं प्रकाशयेत्॥"

इसी प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य ने अपनी 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' में स्पष्ट भाव से समझा दिया है कि ईश्वर की सृष्टि और योगी की सृष्टि दोनों ही निरुपादान होती हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, उसी में विश्वप्रपंच अभिन्न रूप से निहित रहता है। इच्छाबल से वही अन्तःस्थित पदार्थ बाहर प्रकाशित मात्र हो जाता है। प्रचलित भाषा में इसी को 'सृष्टि' कहते हैं। अतः सृष्टि के लिए आत्मा के सिवा दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त सिद्धान्त भी कुछ अंश में इसी प्रकार का है। केवल माया के स्थान निर्देश सम्बन्ध में दोनों में भेद दिखाई पड़ता है। किन्तु द्वैतवादी नैयायिक आदि आचार्यगण उपादान का पार्थक्य स्वीकार करते हैं। उन लोगों के मत से सत्यसंकल्प योगी के संकल्प करते मात्र ही सर्वगत परमाणु मण्डल में से सभी आवश्यक परमाणु परस्पर आकृष्ट होकर द्वाणुकादि क्रम से तुरन्त सम्मिलित हो जाते हैं और इच्छानुसार कार्य की रचना कर देते हैं। अतः यह स्पष्ट हुआ कि दोनों प्रकार के मतों में केवल 'इच्छा' को ही सृष्टि का मूल माना गया है। सृष्टि के लिए ज्ञानतः उपादान की अपेक्षा करनी नहीं पड़ती। किन्तु विज्ञान की सृष्टि में तो उपादान को प्रत्यक्ष रूप से चीन्ह लेना पड़ता है और उनकी संयोग वियोग प्रणाली पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लेना पड़ता है। तत्पश्चात् यथा प्रयोजन कार्य-रचना में प्रवृत्त होना होता है। वैज्ञानिक सृष्टि होती है ज्ञानपूर्वक और योगी की सृष्टि होती है इच्छापूर्वक। दोनों प्रणालियों में भेद यही है कि प्रथम प्रणाली में ज्ञान अंगी है तथा इच्छा उसका अंग स्वरूप है, द्वितीय प्रणाली में इच्छा ही अंगी है तथा ज्ञान उसका अंग स्वरूप अव्यक्त भाव से वर्तमान रहता है। जो लोग विज्ञानवेत्ता नहीं हैं, अथच योगी भी नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति दोनों प्रणालियों में जो सूक्ष्म भेद है, उसे ग्रहण नहीं कर पाते। उभय प्रणालियों की सृष्टि व्यावहारिक है, प्रतिभासिक मात्र नहीं है। अतः इस अंश में इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है। प्रचलित Hallucination (कल्पनाकल्प पदार्थाभास) Hypnoticillusion (तन्द्रा कल्प पदार्थाभास) प्रभृति स्वप्न दृश्यवत् प्रातिभासिक सृष्टि के निदर्शन हैं। स्वप्न में देखे हुए पदार्थ जैसे स्वप्नान्त में लीन हो जाते हैं Hallucination प्रभृति भी वैसे ही हैं। इन्द्रियादि के विकार वहाँ प्रशान्त हुए कि ये पदार्थ दृश्य भी विलीन हो जाते हैं। जबतक प्रतीति तभी तक इनकी सत्ता। इस व्यावहारिक जगत में वे किसी काम में नहीं आ सकते। इनको 'दृष्टि सृष्टि' कहकर वर्णन कर सकते

होता है। सृष्ट-पदार्थ मात्र ही दो प्रतिकूल शक्तियों के संघर्ष उत्पन्न हुए हैं यही नियम सर्वत्र वर्तमान है।

बाबा के आसन पर एक गुलाब का फूल पड़ा हुआ था। मैंने पूछा--"बाबा, यह गुलाब पुष्प नारी कि पुरुष? इसमें प्रकृति का अंश ज्यादा है कि पुरुष का अंश ज्यादा है?" उन्होंने गुलाब फूल को हाथ में उठा लिया और एक बार उस पर ठीक से दृष्टि दी। बाद में कहा—"यह है स्त्री पुष्प एवं स्त्री के लक्षणादि उसमें दिखाकर समझा दिया। मुझसे मे पूछा—"एक पुरुष गुलाब ला सकते हो क्या? ला सको तो एक व्यापार दिखाऊँ और समझा दूँ। वहाँ पर दूसरा कोई फूल न था। तीसरे पहर बाहर टहलने जाने का समय हो चुका था। मैंने कहा—"यहाँ पर तो और दूसरा गुलाब नहीं है। आप यदि आदेश करें तो बाहर जाकर ले आ सकता हूँ।" बाबा ने कहा—"रहने दो। प्रयोजन नहीं। तुम इस फूल की पँखुड़ियाँ सब एक एक करके खोल डालो। फिर मुझे दो।" मैंने वैसा ही किया। बाबा ने उस दल-विरहित फूल को हाथ में लेकर दो एक बार ऊपर नीचे घुमाया और कहा—सूर्य रश्मियों का अवलंबन करके पुरुष गुलाब का एक बीज आकर्षित करके पुष्प का गर्भाधान कर दिया है। अभी इस पुष्प को एक छोटे से कोमल आवरण के भीतर अथवा तुम्हारी मुट्ठी के अन्दर कुछ मिनट तक बन्द कर रखो। जिससे बाहर की ठंढी वायु विशेष रूप से इसमें स्पर्श न कर सके। देखोगे कि कुछ मिनटों में ही एक अभिनव, वृहदाकार तथा अत्यन्त सुगन्धित गुलाब तैयार हो जायेगा।" पंखड़ी-रहित उस फूल को मैंने अपनी मुष्टि के भीतर रख लिया और बीच-बीच में थोड़ा थोड़ा खोलकर देखने लगा। प्रायः पाँच मिनट के अन्दर ही देखने में आया कि एक बड़े आकार का गुलाब पुष्प

हैं। परन्तु योगी की सृष्टि और वैज्ञानिक सृष्टि जो होती है, वह उस प्रकार अस्थिरस्थायी या मिथ्या नहीं होती। वह सृष्टि भी यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से समग्र जगत की तरह तुच्छ ही है, किन्तु व्यवहार भूमि में पूर्णतया सत्य और चिरस्थायी होती है। जगत के अन्यान्य सृष्ट पदार्थ जिस प्रकार, वे भी ठीक उसी प्रकार सत्यासत्य निर्णय की जितनी भी Pragmatic test प्रयोगात्मक कसौटी है उसके द्वारा विचार करने पर उन पदार्थों को सत्य कहकर ही स्वीकार करना होगा। 'पंचदशी' प्रभृति ग्रन्थों में ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि में जो भेद दिखाया है तदनुसार वैज्ञानिकसृष्टि और योगिसृष्टि जीवसृष्टि से विलक्षण है ऐसा माना जा सकता है। जीव का सत्व उपाधि से मलिन सत्व अर्थात् रजः और तमोमिश्रित सत्व है। इस उपाधि से जो सृष्टि होगी वह प्रतिभासिक, स्वप्न दृश्यवत् भ्रान्ति जाल मात्र, वह है बन्धन कारक। परन्तु ईश्वर सृष्टि का निर्माण विशुद्ध सत्व अर्थात् ईश्वरोपाधि से होता है अतः वह है व्यावहारिक सत्ता की वस्तु, उसे मिथ्या कहकर वर्णन करने से नहीं बनेगा। परमार्थ दशा में व्यावहारिक भूमि का अतिक्रमण कर जाना होता है, यह सत्य है किन्तु इससे व्यवहार मिथ्या है यह प्रमाणित नहीं होता। योग और विज्ञान दोनों ही विशुद्ध सत्व के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। अतः योगबल से और विज्ञानबल से जिन पदार्थों का निर्माण होता है वे व्यवहार में सत्य रूप से ही उपयोगी बने रहते हैं। इस संबंध में विस्तारित आलोचना यथास्थान की जायेगी।

निर्मित हो चुका। पहले के छिन्न पुष्प की अपेक्षा वह दुगुना था। वर्ण और गन्ध में भी दोनों में बहुत अन्तर पाया गया।

मैंने प्रश्न किया—"बाबा, योग शास्त्र में है कि प्रकृति वा उपादान के आवरण अनुप्रवेशवशत: एक जातीय पदार्थ अन्य जातीय पदार्थ में परिणत हो जाता है (जात्यन्तर परिणाम: प्रकृत्यापूरात्)। यह किस प्रकार संभव है?" उन्होंने कहा—"हाँ, वह हो सकता है। जगत के प्रत्येक पदार्थ के अंदर समस्त पदार्थों का उपादान विद्यमान है। यही जो गुलाब फूल तुम देख रहे हो—इसके भीतर न हो ऐसा कोई भी पदार्थ जगत में नहीं है। किन्तु गुलाब का उपादान इसमें अधिक मात्रा में प्रकट है एवं अन्यान्य उपादान अल्प मात्रा में। अत: इसमें गुलाब की प्रधानतावश गुलाब की ही क्रिया दिखायी देती है। अन्यान्य उपादानों की सत्ता साधारण दृष्टि की पकड़ में नहीं आती, किन्तु जो योगी हैं अथवा विज्ञानविद् हैं, उनकी दृष्टि सबकुछ देख सकती है। इच्छा करने पर तत्क्षण ही क्रियाकौशल द्वारा वे जिस किसी उपादान को बाहरी जगत से उसके सजातीय उपादान को आकर्षित करते हुए पुष्ट कर सकते हैं। पहले जो अव्यक्त था, वह तब अभिव्यक्त होगा, एवं जो अभिव्यक्त, वह क्रमश: अव्यक्त होकर विलय को प्राप्त होगा। इस प्रणाली से जगत की जिस किसी भी वस्तु को चाहे जिस किसी भी अन्य वस्तु में रूपान्तरित किया जा सकता है? देव भाव से पशु-भाव प्राप्ति और पशु भाव से देव भाव प्राप्ति उभय ही संभव हो सकती है। प्रकृति के गुण प्रधान भाव से ही सृष्टि का खेला चलता है। जिस किसी भी चीज में उपादानगत आपेक्षित साम्य प्रतिष्ठित कर सकने पर वह वस्तु अदृश्य अथवा अव्यक्त हो जायेगी।" यह कहकर बाबा ने पूर्वकथित गुलाब को एक जवा फूल में परिणत कर दिया। इस प्रकार योगशास्त्र में उल्लेखित 'जात्यन्यर परिणाम' को विज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखाया। ये क्रम परिवर्तन के विविध स्तर भली प्रकार अनुसन्धान करते हुए देखने के विषय हैं।

और एक दिन अनुलोम और विलोम परिणाम संबन्धी बात उठी थी। बाबा ने कहा—"देखो, उभयविध परिणाम ही सत्य है। दुग्ध से दधि बनता है दधि से नवनीत और नवनीत से घृत उत्पन्न होता है। दूध के अन्दर दही का उपादान आत्मगोपन करके वर्तमान रहता है। जो कोई प्रकृत कर्मी होगा, वह इच्छा करने मात्र से ही इस ढके हुए भीतर छिपे उपादान को आश्रय करके विलोम क्रम से घी को फिर से दूध में यहाँ तक कि तृण के ढ़ेर में परिणत कर सकता है। बालक के भीतर वृद्ध भाव भी निहित है, उसे प्रत्यक्ष कर सकने पर बालक को देखकर उसकी भविष्यत् अवस्था जानी जा सकती है। उसी प्रकार वृद्ध के भीतर बालभाव छिपा हुआ है, इसीलिए वृद्ध को देखकर भी उसकी भूतकाल की अवस्था को प्रत्यक्ष जान सकते हैं। तात्पर्य, परिणाम-क्रम के साक्षात्कार द्वारा स्वभाव के नियम से अतीत अनागत ज्ञान अपने आप ही उत्पन्न होता है।" यह कहकर बाबा ने एक

खिले हुए गुलाब के फूल को बन्द कलिका के रूप में बदल दिया। बाद में, उसी कली को मार्शल-नील नाम गुलाब की कलिका के रंग-रूप में बदल दिया और तीन मिनट के भीतर ही उसको प्रस्फुटित पुष्प बना दिया।

एक समय की बात है सन्ध्या के पश्चात् पुरीधाम में मैं आश्रम के भीतर बैठा था। बाबा आन्हिक करके आश्रम के बरामदे में विश्राम कर रहे थे। एक-दो भक्त बाबा को पंखा झल रहे थे। बैठे बैठे मेरे मन में अचानक 'चैतन्य चरितामृत' ग्रंथ का एक वचन याद आया। जिस प्रसंग में श्रीकृष्ण भगवान के अंग सुगंध का वर्णन है ("मृगमद नीलोत्पन्न" इत्यादि) वही स्थल मेरे स्मरण में आ गया। मैंने पूज्यपाद बाबा से प्रश्न किया—"बाबा, चैतन्य चरितामृत, गोविन्द लीलामृत प्रभृति ग्रंथों में श्रीकृष्ण के जिस प्रकार के अंग-गंध का वर्णन है वह क्या स्निग्ध गन्ध?" उन्होंने कहा—"किन किन द्रव्यों के सम्मिश्रण के उक्त गन्ध का आभास पाया जाता है? ग्रंथ में किन द्रव्यों का नाम लिखा है, एक-एक करके बताओ।" मैं गोविन्द लीलामृत के मतानुसार नील-पद्म, कस्तूरी प्रभृति द्रव्यों का नाम गिनाने लगा। बाबा एक-एक द्रव्य का नाम सुनते हुए साथ साथ हस्त संचालन करते गये। जब मैं सब द्रव्यों के नाम गिना चुका, तब बाबा ने तुरन्त अपने हाथ की मुट्ठी मेरे समीप लाकर कहा—"यह लो, कृष्ण के अंग की सुगंध को सूँघो। जो-जो द्रव्य तुमने गिनाये, साथ साथ उन्हीं द्रव्यों के उपादानों को मैं आकर्षित करता गया और सबको एक में मिला दिया। देखो, कैसा अनुभव हो रहा है, सूँघकर बताओ तो?" मैंने सूँघकर देखा क्या ही अपूर्व दिव्य गन्ध, जगत में जिसकी कोई तुलना नहीं है। पुनः दूसरे दिन एक शीशी भर कर यह अपूर्व गंध उन्होंने सूर्य रश्मि द्वारा तैयार करके दिखा दी थी। मैंने पूछा—"बाबा इतने सब पदार्थों को आपने नाम सुनने मात्र से किस प्रकार आकर्षित कर लिया?" बाबा ने उत्तर दिया—"इसमें कौन कष्ट! यदि अपने में यथेष्ट आकर्षण की क्षमता रहे और उपादान का ज्ञान हो, तब तो फिर कठिनाई की बात क्या? जितनी दूर पर्यन्त सूर्य-रश्मियों का विस्तार है, उतनी दूर तक जो जो कुछ भी हो, सब को खींच सकते हैं। बृहद विशाल स्थूल वस्तुएँ तक बहुत दूर दूर से खींचकर उपस्थित की जा सकती हैं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। समग्र जगत विधाता के जिस अपूर्व कौशल से चल रहा है, उसे तुमलोग जानते नहीं। इसीलिए तुम लोगों को यह सब कुछ आश्चर्य मालूम होता है। जब सीखोगे तब समझ सकोगे कि एक ब्रह्माण्ड की रचना तक कर सकना भी कोई असम्भव कार्य नहीं है।"

ऐसे ही आकर्षण बल से एक स्थान से थर्मामीटर को खींचते और पुनः लौटाते हुए उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देखा है।

बहुमूल्य हीरे, नानारंग के मणि, मुक्ता, सुवर्ण, सन्देश, रसगुल्ला, कुनैन गोलियाँ, बायोकेमिक, नाइट्रम फॉस, गव्य घृत, नारियल का तेल, कार्बोलिक

एसिड, फिनायल, अंगूर, बेदाना, कुंकुम, कर्पूर, ग्रानाइट पत्थर, यूक्यालिप्टस तेल, महाशंखवटी, च्यवनप्राश, मकरध्वज, नाना जातीय पुष्प, भाँति-भाँति के फल, यूडीकोलोन, लवेण्डर, मधु, ग्रिमल्ट सिरप, आदि आदि उन्होंने अनेक प्रकार के पदार्थ प्रत्यक्ष निर्माण कर दिये, यह मैंने अपनी आँखों से देखा। रूई, फूल और पत्तों को पत्थर में रूपान्तरित करते हुए मैंने देखा। दृष्टि के द्वारा निमिष मात्र में पूरे उद्यान की सुगन्ध राशि को आकर्षित करके किसी एक ही वस्तु के भीतर डालते हुए मैंने स्वयं देखा। स्थूल वस्तु के उपादान के परमाणुओं के समूह किस प्रकार पृथक् पृथक् होकर चारों ओर छितरा जाते हैं और उस वस्तु का नाश हो जाता है, यह व्यापार मैंने प्रत्यक्ष देखा। सूर्य-रश्मियों से सचेतन जीवों तक की सृष्टि पूज्यपाद बाबा ने मेरी दृष्टि के सामने कर दिखायी। मक्खी, शतपदी, चमगादड़ मेरे देखते देखते उन्होंने बना डाले वे तुरन्त उड़ने भी लग गये। यहाँ तक कि रश्मियों द्वारा सूर्य से मनुष्य सृजन कर सकना भी सम्भव है जो कि आज न सही किन्तु भविष्य में वैसी चेष्टा करते करते अवश्य ही बन पायेगा बाबा ने विश्वास दिलाया। मैंने यह भी देखा कि दीर्घ काल के बाद वस्तु के बिखरे हुए परमाणु पुनः एकत्रित करके आकर्षण बल से उसी वस्तु को पूर्व रूप दे दिया।

एक दिन कुछ जिज्ञासु भक्तों को आपने अपने हाथ का एक परत चमड़ा अलग करके फिर उसे हाथ में ज्यों का-त्यों लगा कर समझाया था कि पाश्चात्य शारीरविज्ञानियों की लौकिक विद्या के द्वारा योगियों के स्वरूप का निरूपण सम्भव नहीं है। एक बार आपका शरीर नवजात शिशु के आकार में बदल गया था। इसको कई लोगों ने अपनी आँखों से देखा था। इस लेखक को एक दिन आप पुराणवर्णित श्रीविष्णु भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्माजी के उत्पन्न होने की बात समझाते हुए कहने लगे कि पुराणों का यह वर्णन 'रूपक' नहीं है, किन्तु अक्षर अक्षर सत्य है। कुण्डलिनी शक्तिका विकास होने पर जब योग के अन्तराकाश में परमादित्य स्वरूप ज्योतिर्मय तेजःपुञ्ज का उदय होता है, तब सूर्योदय के समय के कमल की भाँति उसका नाभिकमल अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। जो वास्तव में योगी हैं, उनको ऐसा अवश्य होता है। हाँ परन्तु जो नाभि धौति आदि दुरूह क्रियाओं में पूर्णरूप से निष्णात नहीं हैं, उनके कमल का विकास नहीं हो सकता। इतना कहकर वे फिर बोले कि 'साधारण बद्ध जीवों की नाभि में ग्रन्थि लगी है, इस ग्रन्थि का मोचन न होने तक ऊर्ध्व रति असम्भव है।' इसके बाद दोनों हाथों से नाभिप्रदेश के दो चार बार सञ्चालन करते ही नाभि प्रदेश एक गड्हे के रूप में परिणत हो गया। उपस्थित भक्तगण यह देख कर चकित हो गये। क्रमशः उस गड्हे में से एक अति सुन्दर नाल का आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्य युक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। हाल के खिले हुए कमल की पवित्र गन्ध से सारा घर और आँगन सुगन्धित हो उठा। यहाँ तक कि उस समय जो लोग दर्शन के लिए बाहर

से आ रहे थे, उनको भी घर में प्रवेश करने के पूर्व से ही सुगन्धि आने लगी। कुछ क्षणों के बाद नाभि को हिलाते ही कमल नालसहित संकुचित होकर भीतर प्रवेश कर के अदृश्य हो गया।

परमहंस देव की शक्ति की तुलना नहीं थी यह बात पहले ही कही जा चुकी है। मनुष्य की शक्ति कहाँ तक विकसित हो सकती है, इस बात को परमहंसजी के साथ अन्तरङ्गभाव से परिचित होने पर ही जाना जा सकता था। उनके वस्तुनिर्माण की बात कहने की तो विशेष आवश्यकता ही नहीं है। कारण, इस बात को तो बहुत लोग जानते हैं। हमारे अपने घर में अत्यन्त कठिन रोग के समय, उनको किसी तरह की खबर न देने पर भी, बहुत बार उन्होंने स्थूल या सूक्ष्म शरीर से आविर्भूत होकर रोगी को उपदेश दिया है और औषधि देकर भी अथवा न देकर भी तत्काल ही उसे रोगमुक्त कर दिया है। पाँच सात मील दूर से क्षणभर में आविर्भूत होकर स्थूल और पंचभूतात्मक औषधि प्रदान करना आदि कार्य साधारण बुद्धि के अगोचर हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटना हुई है कि एक सेकण्ड असावधानी की जाती तो भयङ्कर परिणाम हो जाता, परन्तु उस एक सेकण्ड के बीतते बीतते ही उन्होंने आविर्भूत होकर अपनी मङ्गलमयी रक्षाशक्ति का प्रयोग किया। ऐसी घटनाओं का विस्तृत वर्णन मेरे पास है, परन्तु यहाँ उसके प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है।

एक बार मेरी जपकी माला टूट गयी। मैं उसको ठीक शास्त्रीय ढंग से गूँथ देने के लिये बिखरे हुए रुद्राक्ष के दाने और थोड़े से रेशम को लेकर बाबा के पास पहुँचा और उनसे मैंने प्रार्थना की। उन्होंने रुद्राक्ष के दानों को और रेशम को गोमुखी में रख कर उसे अपनी मुट्ठी में भींच लिया। फिर दो तीन बार उस पर हाथ फिरा कर गोमुखी मुझे दे दी। ऐसा करने में तीन चार सेकण्ड से अधिक समय नहीं लगा था। मैं गोमुखी से निकाल कर देखता हूँ तो माला बड़ी सुन्दरता से गूँथी हुई है। यहाँ तक कि सुमेरु तक विधिपूर्वक लगा है। गाँठें भी शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार ही लगी हैं। पूछने पर उन्होंने कहा कि 'यह वायु विज्ञान का कार्य है। जिसको तुमलोग अल्प समय कहते हो, वह वास्तव में अल्प नहीं है। सूक्ष्म स्तर में चले जाने पर उसी में दीर्घकाल का भी कार्य हो सकता है।'

इस बात को उन्होंने कई बार समझाया भी था कि वास्तव में देखा जाय तो किसी भी वस्तु का विनाश नहीं होता। यदि कोई एक पुस्तक अग्नि में जलाकर राख बना कर फेंक दी जाय और आगे चलकर किसी समय किसी अन्य स्थल में यदि ठीक वही पुस्तक ज्यों की त्यों फिर से उत्पन्न कर दी जाय और यदि कसौटी से यह प्रमाणित हो जाये कि वह खाली दृष्टिभ्रम नहीं है बल्कि स्थायी वस्तु है तब तो मानना ही पड़ेगा कि किसी भी वस्तु का ऐकान्तिक विनाश होता ही नहीं। यदि गंगा के घाट पर एक लोटा भर दूध जल में डाल दिया जाय और फिर दीर्घ समय के बाद अन्य किसी घाट पर गंगाजल के भीतर

से विश्लेषणपूर्वक यदि ठीक वही दूध पुन: ज्यों का त्यों निकाल कर दिखा दिया जाय, तब तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी वस्तु की स्वरूप-निवृत्ति कभी होती ही नहीं। इसीलिए कोई जीव चाहे लोकलोकान्तर में चला जाय या यहाँ तक की चाहे ब्रह्मलोक में भी चला जाय, क्षमताशाली विज्ञानविद् पुनः आकर्षण करके ले आ सकता है।

चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ, काम आदि रिपु, ज्वर आदि रोग, ग्रीष्म आदि ऋतु, प्रेम, भक्ति प्रभृति भाव विज्ञान के आलोक में सभी कुछ स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

सूर्य विज्ञान आयत्त कर लेने पर चन्द्रविज्ञान आदि यावतीय विज्ञान सुगमता पूर्वक सीखते बन जाते हैं। दायें बाएँ दोनों हाथों की दोनों विरोधी तड़ित-शक्तियों के संघर्ष से अथवा यहाँ तक कि नख की ज्योति के प्रभाव तक से सृष्टि सम्भव हो सकी है, आँखों की ज्योति के द्वारा, वायु के कम्पन द्वारा, नक्षत्र के प्रकाश द्वारा यहाँ तक कि मानसिक स्पन्दन द्वारा भी सृष्टि प्रवाह धारण किया जा सकता है।

सौर विज्ञान सीख लेने पर यह सब कुछ विशेषरूप से पृथक्‌भाव से सीखने का प्रयोजन नहीं रह जाता।

काशी-धामस्थ 'विशुद्धकानन आश्रम' की विज्ञानशाला के अतिरिक्त और दो मन्दिर यहाँ पर उल्लेखनीय हैं। एक है शिव मन्दिर दूसरा है गोपाल मन्दिर। शिव मन्दिर में बृहद् गौरी पट्ट के ऊपर एक सौ आठ बाणलिंग स्थापना की व्यवस्था है। गोपाल मन्दिर में श्री श्री गोपालजी के चरण चिन्ह स्थापित हैं।

इस मन्दिर का एक विशेष इतिहास है। कई वर्ष पूर्व पुरीधाम के आश्रम में पूज्यपाद बाबा के रिक्त आसन पर प्रातःकाल में ये दो पदचिन्ह पड़े थे। उनके पड़ने के बाद तुरन्त ही जब देखा गया तो उनसे बिजली की तरह ज्योति स्फुल्लिग निकल रहे थे। बाबा उस बीच क्रियागृह में अपने आसन पर बैठकर भक्त जयदेव के रचित "देहि पद पल्लवमुदारम्।" इस वचन का मनन कर रहे थे। तो कुछ ही क्षणों बाद नूपुरों का शब्द सुनने में आया। बाबा तुरन्त नीचे आकर क्या देखते हैं कि उनके बिछौने पर छोटे-छोटे दो उज्ज्वल चरणों की रेखायें अंकित दिखाई पड़ रही हैं। श्री भगवान की यह लीला देखकर वे भाव और भक्ति में सराबोर हो गये। पेन्सिल द्वारा वे पद रेखायें स्पष्ट चिन्हित करके वे चरण चिन्ह सुरक्षित रख लिये गये। ये चरणचिन्ह ७, कुण्डू रोड भवानीपुर कलकत्ते के कार्पोरेशन मजिस्ट्रेट, बाबा के परम भक्त श्रीयुत् योगेशचन्द्र वसु महाशय के मकान में यत्नपूर्वक सुरक्षित रख दिये गये। वहाँ बहुत दिन तक रखे रहे। तत्पश्चात् काशीधाम में गोपालमन्दिर में उनको स्थापित करने की बात हुई।

*

त्रयोदश अध्याय

श्वास-प्रश्वास में पद्मगन्ध

पूज्यपाद बाबा का जीवन अति विचित्र, शरीर अद्भुत एवं साधनादि सभी कुछ आश्चर्यमय! निर्मल चरित्र, कठोर संयम नियम दक्षता साथ ही साथ असाधारण करुणा, स्वातंत्र्य प्रियता, तीक्ष्ण बुद्धि शक्ति इत्यादि कितने-कितने उनकी प्रकृति के वैशिष्ट्य। वे कहा करते थे—''सहसा किसी में भी विश्वास नहीं करना। विश्वास करोगे तो ठग जाना होगा। इस जगत का प्रत्येक परमाणु तुम्हारे प्रतिकूल है। तुम्हारे मित्र एक मात्र तुम्हीं हो। तुम स्वयं अपने आप को भूलकर बाहरी मित्रों की ओर आकर्षित नहीं होना। तुमने स्वयं अपने को जगत के भीतर जकड़ रक्खा है। अब जगत में अपने बिखरे हुए उपादान को वापस समेट लो। बस, समेटते मात्र ही एक स्थान में तुम्हें अपना पूर्ण आदर्श घनीभूत रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देगा। वही है तुम्हारी सबसे अधिक प्रियतम वस्तु।''

जिस प्रियतम की खोज में तुमको इतने जन्मों तक भटकना पड़ा है, इस बार उसे पाकर शान्ति लाभ करो। सचमुच विश्वास बहुत दुर्लभ चीज है। जहाँ तहाँ विश्वास न कर बैठो। तुम्हें प्रत्येक पद पर सत्य और असत्य की परख करते चलना होगा, तभी विश्वास स्थिर होगा। कुपात्र में विश्वास करके धोखा खा जाने की अपेक्षा प्रथम सन्देह करके बाद में अटल विश्वास में स्थिर लाभ करना श्रेष्ठ है।''

पुनः बाबा बोले—''तीव्र पुरुषकार द्वारा प्राक्तन कर्म खंडन किया जा सका है। पुरुषकार का महत्त्व असीम है। योगाभ्यास ही है मुख्य पुरुषकार। सद्गुरु के लखाये हुए पथ पर चलते हुए उनकी दी हुई शक्ति से संपन्न बनकर के निरन्तर श्रद्धा और संयम समवेत योगकर्म का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के दृढ़ होने पर शुद्ध भक्ति का संचार होता है। भक्ति परिपक्व हो चुकने पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम की एक अवस्था में हृदय पिघल जाता है। जगदम्बा को पाने के लिए यह प्रेम ही एक मात्र साधन है।''

बाबा कहते थे कि योग अत्यन्त गूढ़ व्यापार है। साधारणतः लोग जिसका अनुष्ठान किया करते हैं, वह वस्तुतः योग नहीं है। जन सामान्य में बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जो कि योगतत्त्व को सचमुच जानते हों। वे स्वयं शास्त्र और सदाचार के एकान्त पक्षपाती थे। लोक-संग्रह के लिए वे सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे, तथापि शुष्क आचार मात्र से सन्तुष्ट रहने की नीति उन्हें पसंद न थी।

बाबा का कहना था कि कर्म किये बिना खाली ग्रंथों के अध्ययन मात्र से करोड़ों जन्मों में भी ज्ञान का उदय होना संभव नहीं। शास्त्र तो केवल पथ दिखा देता है किन्तु पथ पर अग्रसर होना होता है यथार्थ कर्म द्वारा।

बाबा का स्वभाव अभिमान रहित, सरल और बालकवत्। इतना ज्ञान, ऐश्वर्य और साधन—संपत्ति सब कुछ होते हुए भी उनमें कभी क्षणमात्र के लिए भी अविनय देखने में नहीं आया। साधारणत: देखा जाता है कि परिचय का घना लगाव हो जाने पर भक्ति कम होने लगती है, किन्तु बाबा को जिन्होंने जितने ही अधिक घनिष्टता भाव से चीन्हने का सौभाग्य पाया, वे उतने ही ज्यादा मुग्ध होते चले गये, मानो अनन्त वस्तु को देख रहे हैं और देखने की साध मिट ही नहीं रही, प्रतिक्षण नूतन नवीन भाव का उदय होता चला जा रहा है।

तीव्र साधना के फलस्वरूप उनका शरीर परिवर्तित हो चुका है। श्वास प्रश्वास के लिए उन्हें बाहरी वायु के साथ संबंध रखना नहीं पड़ता। उनकी साँस नाक के बाहर नहीं निकलती बाहर की वायु भी वे भीतर नहीं खींचते। सूक्ष्म और विशुद्ध भीतरी वायु के द्वारा ही उनके श्वास प्रश्वास का निर्वाह अन्दर ही अन्दर हो जाता है। उनकी देह अत्यंत शुद्ध, इसी कारण भीतर की वायु कभी मलिन नहीं होती और इसी कारण से उनकी श्वास प्रश्वास में पद्मगंध बहती रहती थी।

तीव्र क्रिया के समय सारा घर पद्म गन्ध से भर जाता। सुषुम्ना के भीतर वायु को चला सकने से क्रमश: देह, वायु और चित्त विशुद्ध होकर पद्म गन्ध का शरीर में विकास हो जाता है। सुनने में आया कि बुद्धदेव और चैतन्य महाप्रभु के शरीर से भी पद्मगन्ध निकलती थी।[1] बाह्य वायु के साथ मिलकर यही गन्ध परिवर्तित होकर गुलाब, खस, चम्पा, यूथिका प्रभृति विचित्र सुगन्धों में परिणत हो जाती है। जो धोती, कुर्ता आदि बाबा दो तीन घंटे पहने रहते थे, वे सभी पद्म गन्ध से इतने अधिक सुगन्धित हो जाते थे कि दो तीन दिन तक सम्पूर्ण घर सुगन्ध से भरा रहता था। ग्रीष्म की गर्मी में उनके शरीर का टपकता पसीना एक शीशी में भरकर मैंने देखा था। उत्तम सुगन्धित जल भी उसके आगे तुच्छ प्रतीत होता था। बाबा की नाभि पर हाथ रखकर उस पर पानी उड़ेल देने से वह जल पद्म की सुगन्ध से सुवासित हो उठता था। उनके देह में स्वभावत: ही अर्थात् बिना स्फुरण के ही इतनी अधिक तड़ित् शक्ति क्रिया तत्पर रहती थी कि बर्रे भ्रमर, मच्छर प्रभृति जीव बाबा के शरीर में दंशन करते तो तत्क्षण जल कर मर जाते थे। यह मैंने स्वयं अपनी आँखों से कई बार देखा है। उनकी आँखों का तेज इतना अधिक तीव्र था कि वह कहा नहीं जा सकता। एक बार एक साधु उनकी परीक्षा करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय कठोर शिवलिंग लेकर उनके

---

१ हठ योगीगण घटावस्था में ही देह में पद्मगन्ध का आविर्भाव स्वीकार किया है। वे कहते हैं, यह बिन्दु शुद्धि का लक्षण है।

पास आया था। उन्होंने उस शिवलिंग की ओर ताक कर देखा मात्र कि तत्काल वह चूर्ण विचूर्ण हो गया था और एक दिन एक व्यक्ति का तीव्र रोग आकर्षण करके एक बाणलिंग के भीतर भरते ही तुरन्त बाणलिंग फट गया था।

पूज्यपाद बाबा का भोजन केवल एक बेला, वह भी अति अल्प परिमाण में होता था। समय बीत जाने पर फिर कुछ भी नहीं खाते थे। निद्रा तो एक प्रकार से नहीं के बराबर थी। प्रायः समस्त रात एक आसन पर बैठे रहते थे।

उनकी सिद्धियों की कोई गिनती नहीं। एक दिन मुझे वे महिमा सिद्धि की एक प्रणाली समझा रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी तर्जनी अंगुलि को इतनी बड़ी और प्रसारित बना दिया था कि उसे देखकर पहिचानना कठिन था। उनकी अणिमादि सिद्धियाँ भी अनेक ने प्रत्यक्ष देखी हैं प्राप्ति, आकाश गमन, अन्तर्धान कायव्यूह प्रभृति समय-समय पर किसी-किसी के देखने में आये हैं।

किन्तु ये सब सिद्धियाँ उनके लिए एकबारगी तुच्छ और नगण्य। जिस महाधन से धनी होकर उन्होंने अतुल यौगेश्वर्य की भी तृणवत् उपेक्षा की, वही भगवत्प्रेम रूपी अमूल्यचिन्तामणि हम सब लोग उनके पास से प्राप्त कर लेने में कदापि न चूकें। उनके आशीर्वाद से और उनके संचारित बल से बलवान होकर हम लोग उनके पीछे-पीछे अनुगमन करने में समर्थ हों!! वे हम सबको असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञानालोक की ओर, मृत्यु राज्य से अमरधाम की ओर ले चलें यही उनके श्रीचरणों में हम सबकी विनीत और भक्तिपूर्ण प्रार्थना है!!!

*

चतुर्दश अध्याय

सूर्य विज्ञान का रहस्य

यद्यपि कालधर्म के कारण हम सौर विज्ञान या सावित्री विद्या को भूल गये हैं, तथापि यह सत्य है कि प्राचीन काल में यही विद्या ब्राह्मण धर्म की और वैदिक साधना की भित्ति स्वरूप थी। सूर्यमण्डल तक ही संसार है, सूर्यमण्डल का भेद किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। यह बात ऋषिगण जानते थे। वस्तुतः सूर्यमण्डल तक ही वेद या शब्द-ब्रह्म है—उसके बाद सत्य या परब्रह्म है।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

—ये बात जो लोग कहा करते थे वे जानते थे कि शब्द-ब्रह्म का अतिक्रमण किये बिना या सूर्यमण्डल को लाँघे बिना सत्य में नहीं पहुँचा जाता। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥

(११/१२/२१-२२)

'यह कर्मात्मक संसार वृक्ष है—जिसके दो बीज, १०० मूल, ३ नाल, ५ स्कन्ध, ५ रस, ११ शाखाएँ हैं; जिसमें २ पक्षियों का निवासस्थान है; जिसके ३ वल्कल और २ फल हैं'—यह संसार-वृक्ष सूर्यमण्डलपर्यन्त व्याप्त है।' श्रीधर स्वामी और विश्वनाथ दोनों ने कहा है—

अर्कं प्रविष्टः सूर्यमण्डलपर्यन्तं व्याप्तः।
तन्निर्भिद्य गतस्य संसाराभावात्।

प्रकृति का रहस्य जानने के लिए सूर्य ही साधन है। श्रुति में आया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्थापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् .... ।

(मैत्री-उपनिषद् ६/३५)

---

[१] बीज पुण्य पाप मूल वासना (शत असंख्य) नाल गुण। स्कन्ध - भूत। रस शब्दादि विषय। शाखा इन्द्रिय, फल - सुख-दुःख। सुपर्ण या पक्षी - जीवात्मा और परमात्मा। नीड - वासस्थान। वल्कल - धातु अर्थात् वात, पित्त और श्लेष्मा।

सूर्य से ही चराचर जगत् उत्पन्न होता है, यह श्रुतिने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है। मैत्री-उपनिषद् (६/३५) में लिखा है कि प्रसवधर्म के कारण ही सूर्य का 'सविता' नाम सार्थक हुआ है (सवनात् सविता)।[1] वृहत्-योगि याज्ञवल्क्य में स्पष्ट तौर पर लिखा है—

सविता सर्वभावनां सर्वभावांश्च सूयते ।
सवनात् प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥

(९/५५-५६)

सूर्योपनिषद् में सूर्य के जगत् की उत्पत्ति का हेतु होने का वर्णन आया है—

सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु ।
सुर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥

आचार्य शौनक ने वृहद्देवता में उच्च स्वर से कहा है कि एक मात्र सूर्य से ही भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त स्थावर और जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। यही प्रजापति तथा सत् और असत् के योनि-स्वरूप हैं, यह अक्षर, अव्यय, शाश्वत ब्रह्म हैं। ये तीन भागों में विभक्त होकर तीन लोकों में वर्तमान हैं—समस्त देवता इनकी रश्मि में निविष्ट हैं।

भवद् भूतं भविष्यश्च जङ्गमं स्थावरं च यत् ।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः ॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः ।
तदक्षरं चाव्ययं च यच्चैतद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥

सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में लिखा है कि ये सब जगत् के आदि हैं, इस कारण ये आदित्य हैं; जगत् को प्रसव करते हैं, इस कारण सूर्य और सविता हैं। ये तमोमण्डल के उस पार परम ज्योतिःस्वरूप हैं—

आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसू या सूर्य उच्यते ।
परं ज्योतिः तमापारे सूर्योऽयं सवितेति च ॥

यह जो परम ज्योति की बात कही गयी है, वह शब्द-ब्रह्ममय मन्त्रज्योति है, यही अखण्ड अविभक्त प्रणवात्मक वेदस्वरूप है, इसी से विभक्त होकर ऋक्,

---

१. पूङ् प्राणिप्रसवे इत्यस्य धातोरेतद्रूपम् सुनोति सूयते वा उत्पादयति चराचरं जगत् स सविता। षु प्रसवैश्वर्ययोः सर्ववस्तूना प्रसवः उत्पत्तिस्थानं सर्वैश्वर्यस्य च

यजुः और सामरूप वेदत्रय का आविर्भाव होता है। सूर्य पुराण में इसीलिए स्पष्ट रूप में कहा गया है—

नत्वा सूर्यं परं धाम ऋग्यजुःसामरूपिणम्।

इत्यादि।

विद्यामाधवकार ने भी इसीलिए सूर्य को 'त्रयीमय' और 'अमेयांशुनिधि' के नाम से निर्देश किया है और कहा है कि ये तीनों जगत् के 'प्रबोधहेतु' हैं। उन्होंने कहा है कि सूर्य के बिना 'सर्वदर्शित्व' सम्भव नहीं, इसीसे मानो शङ्कर ने उन्हें नेत्र रूप से धारण किया है। सूर्य से ही सब भूतों के चैतन्य का उन्मेष और निमेष होता है। यह श्रुति में भी लिखा है—

यौऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति।

असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति।

विष्णुपुराण के याज्ञवल्क्यकृत सूर्यस्तोत्र (अंश ३, अध्याय ५) में सूर्य को 'विमुक्ति का द्वार' 'ऋग् यजुः-सामभृत' 'त्रयीधामवान्' 'अग्नीषोमभृत' 'जगतके कारणात्मा' और 'परम सौषुम्नतेजोधारणकारी' कहकर क्यों वर्णन किया गया है, यह बात अब समझ में आवेगी। अग्नि और सोम मूलतः सूर्य से अभिन्न हैं, यह श्रुति से भी मालूम होता है।

उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु पमारोहति सुषुम्नः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा गन्धर्वः।

श्रुति में आया है कि सूर्य पूर्वाह्न में ऋक्‌द्वारा मध्याह्न में यजुःद्वारा और अस्तकाल में सामद्वारा युक्त होते हैं—

ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्य अह्नः।

सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्निभिरेति सूर्यः॥

सूर्यसिद्धान्तकार कहते हैं कि ऋक् ही सूर्य का मण्डल और यजुः तथा साम उनकी मूर्ति हैं, यह कालात्मक, कालकृत्, त्रयीमय भगवान् हैं।

ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्यस्य मूर्तिर्यजूंषि च।

त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद् विभुः।

वस्तुतः प्रणव या ॐकार या उद्‌गीथ ही सूर्य हैं, ये नादब्रह्म हैं, ये निरन्तर रव करते हैं, इस कारण 'रवि' नाम से विख्यात हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् (१/४/१-५) में है कि त्रयीविद्या या छन्दोरूप तीन वेदों ने इस उद्गीथ को आवृत कर रखा है। इसके बाहर मृत्यु-राज्य है। देवताओं ने मृत्यु भय से डर कर सबसे पहले वेद की शरण ग्रहण की और छन्दों द्वारा अपने को आच्छादित किया, उन्होंने अपनी गोपन या रक्षा (गुप् = रक्षा) की। तथापि मृत्यु ने इन लोगों को देख लिया था, जिस तरह जल के अन्दर मछली दिखायी पड़ती है, उसी तरह जल के दृष्टान्त से

मालूम होता है कि वेद त्रय जलवत् स्वच्छ आवरण है। मधुविद्या में भी वेद को 'आप:' या जल कहा गया है। एक हिसाब से यही पुराणवर्णित कारण-वारि है[1] देवताओं ने उस समय वेद से निकल कर नाद का आश्रय ग्रहण किया। इसी से वेद अन्त में नाद का आश्रय लिया जाता है। यही अमर अभय पद है। उसके बाद (छा० १/५,१-५) स्पष्ट कहा गया है कि उद्गीथ या प्रणव ही सूर्य हैं, ये सर्वदा नाद करते हैं। इस प्रणव सूर्य की दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था में इनकी रश्मिमाला चारों ओर विकीर्ण हुई है;[2] दूसरी अवस्था में समस्त रश्मियाँ संहृत होकर मध्यबिन्दु में विलीन हुई हैं। यह द्वितीय अवस्था ही प्रणव की कैवल्य या शुद्धावस्था है। ऋषि कौषीतक प्राचीन काल में इसके उपासक थे। प्रथम अवस्था प्रणव सूर्य की सृष्ट्युन्मुख अवस्था है। उन्होंने अपने पुत्र से प्रथम उपासना की बात कही। उद्गीथ या प्रणव ही अधिदेव रूप में सूर्य हैं, यह कह कर अध्यात्म दृष्टि से यही प्राण है, यह समझाया गया है।

प्रश्नोपनिषद् (५/१ ७) में लिखा है कि ॐकार का अभिध्यान प्रयाणकाल तक करने से अभिध्यान के भेद के कारण भिन्न भिन्न लोक अधिकृत होते हैं (लोकजय होता है)। यह ॐकार ही पर और अपर ब्रह्म है। एक मात्रा के अभिध्यान के फलस्वरूप जीव उसके द्वारा संवेदित होकर शीघ्र ही जगती को यानी पृथिवी को प्राप्त होता है। उस समय ऋक् उसको मनुष्यलोक में पहुँचा देते हैं। वहाँ वह तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा द्वारा सम्पन्न होकर महिमा का अनुभव करता है। द्विमात्रा के अभिध्यान के फल से मन:सम्पत्ति उत्पन्न होती है उस समय यजु: उसको अन्तरिक्ष में ले जाते हैं, वह सोम-लोक में जाता है, और विभूति का अनुभव कर पुनरावर्तन करता है। त्रिमात्र के—अर्थात् ॐकार के—

---

१. वेद से ही सृष्टि होती है। यह इस प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए।

२. ये रश्मियाँ ठीक मार्गों के समान है, जिस तरह मार्ग एक गाँव से दूसरे गाँव तक फैला रहता है, उसी तरह सब रश्मियाँ भी इहलोक से परलोक पर्यन्त फैली हुई हैं। इनकी एक सीमा पर सूर्य-मण्डल है और दूसरी सीमा पर नाड़ी चक्र। सुषुप्ति काल में जीव इस नाड़ी के अन्दर प्रवेश करता है, उस समय स्वप्न नहीं रहता, शान्ति उत्पन्न होती है। यह तेज:स्थान है। देहत्याग के बाद जीव इन सब रश्मियों का अवलम्बन लेकर, ॐकारभावना की सहायता से ऊपर उठता है। सङ्कल्पमात्र से ही मन में वेग होता है और उसी वेग से सूर्य-पर्यनत उत्थान होता है। सूर्य ब्रह्माण्ड के द्वार स्वरूप है, ज्ञानी इस द्वार को भेद कर सत्य में और अमर धाम में पहुँच सकते है अज्ञानी नहीं पहुँच सकते हृदय से चारों ओर असंख्य नाड़ियाँ या पथ फैले हुए हैं। केवल एक सूक्ष्म पथ ऊपर मूर्द्धा की ओर गया हुआ है। इसी सूक्ष्म पथ से चल सकने पर सूर्य द्वार अतिक्रम किया जाता है। अन्यान्य पथों से चलने पर भुवन कोश में ही आबद्ध रहना पड़ता है। यद्यपि भुवनकोश का केन्द्र सूर्य होने के कारण समस्त भुवन एक तरह से सौर लोक के ही अन्तर्गत है तथापि केन्द्र में प्रविष्ट न हो सकने के कारण सौर मण्डल के बाहर जाना असम्भव हो जाता है।

द्वारा परम पुरुष के अभिध्यान के प्रभाव से तेज: या सूर्य में सम्पत्ति उत्पन्न होती है, उस समय साधक सूर्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। जिस तरह साँप की बाह्य त्वचा या केंचुल खिसक पड़ती है—सूर्यमण्डलस्थ आत्मा भी उसी तरह समस्त पापों या मल से विमुक्त हो जाता है।[1] वहाँ से साम उसे ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। साधक सूर्य से—'जीवघन' से—परात्पर पुर में सोये हुए पुरुष का दर्शन करता है। तीनों मात्राएँ पृथक्-पृथक् विनश्वर और मृत्युमती हैं; परन्तु एकीभूत होने पर ये ही अजर और अमरभाव को प्राप्त कराने वाली हैं।

इससे मालूम होता है कि वेदत्रय पृथक् रूप में लोकत्रय को प्राप्त करानेवाले हैं, ऋक् भू-लोक को, यजु: अन्तरिक्ष-लोक को और साम स्वर्ग-लोक को प्राप्त करानेवाला है। ये तीनों लोक पुनरावर्तनशील हैं। ये ही प्रणव की तीन मात्राएँ हैं। वेदत्रय को घनीभूत करने पर ही ॐकार रूप का ऐक्य का स्फुरण होता है। उसके द्वारा पुरुषोत्तम का अभिध्यान होता है। वेदत्रय जब सूर्य हैं, एवं प्रणव जब वेद का ही घनीभूत प्रकाश है, तब सूर्य प्रणव का ही बाह्य विकास है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हमारे ऋषियों का कहना है कि शुद्ध आत्मेज अंशत: सूर्यमण्डल भेदकर जगत् में उतर आता है। शुद्ध-भूमि से जगत में अवतीर्ण होने के लिये, और जगत् से शुद्ध धाम में जाने के लिये सूर्य ही द्वार-स्वरूप हैं। पिथागोरस (Pythagoras) ने कहा है कि सूर्य एक तेजोधारक Lens मात्र है, इसी में से होकर आत्मज्योति जगत् में उतरती है। प्लेटो (Plato) का कहना है कि ज्योति: Kabalist और अन्यान्य तत्त्वदर्शियों के मत से परम पदार्थ का प्रथम विकास है।[2] अपनी रश्मि से ईश्वर ने जो तेज प्रज्ज्वलित किया है, वही सूर्य है (देखो—Timaeus)। सूर्य प्रकाश या ताप की प्रभा नहीं है, बल्कि Focus है—यह एक Lens मात्र है, जिसके प्रभाव से आदिम ज्योति का रश्मिसमूह स्थूल (Material) बन जाता है, हमारे सौर जगत् में एकत्र हो जाता है और नाना प्रकार की शक्ति उत्पन्न करता है।

सूर्यरश्मियाँ अनन्त हैं, जाति में और संख्या में अनन्त हैं। मूल-प्रभा एक ही है, यह शुक्ल-वर्ण है। यही मूल शुक्लवर्ण लाल-नील-प्रभृति विभिन्न वर्णों

---

१. श्रीवैष्णव भी इसे स्वीकार करते हैं। सूर्यमण्डल में प्रवेश किये बिना जीवका लिङ्गशरीर नष्ट नहीं होता। लिङ्गशरीर के मुक्त हुए बिना जीव की मुक्ति कहाँ? जीव रविमण्डल में आने पर ही पवित्र होता है। और उसके सब क्लेश दग्ध हो जाते हैं। ऐसा महाभारत में भी कहा है। पिथागोरस (Pythagoras) के मत से भी शुद्धि-मण्डल सूर्य में स्थित है, सूर्य जगत् के मध्य में अवस्थित है। जीवमात्र ही यहाँ आने पर अपने आत्मभाव को प्राप्त करते और पवित्र होते हैं। अरस्तू (Aristotle) का भी कहना है कि पिथागोरस के मत से शुद्धिमण्डल या phere of fire सूर्यस्थ है इसी का नाम Jupiter's Prison है।

२. इसका नाम Sephira Divine Intelligence है

के रूप में, एवं लाल, नील इत्यादि के परस्पर मिलने के कारण और भी विभिन्न उपवर्णों के रूप में प्रकाशित होता है। शुक्ल से सर्वप्रथम लाल, नील प्रभृति प्रथम स्तर का आविर्भाव होता है। शुक्ल से अतीत जो वर्णातीत तत्त्व है, उसके साथ शुक्ल का संघर्ष होने से इस प्रथम भूमि का विकास होता है। यह अन्त:संघर्ष का फल है। यह वर्णातीत तत्त्व ही चिद्रूपा शक्ति है। इस प्रथम स्तर से परस्पर संयोग या बहि:संसर्ग होने के कारण द्वितीय स्तर का आविर्भाव होता है। आपेक्षिक दृष्टि से पहली शुद्ध-सृष्टि है, और दूसरी मलिन-सृष्टि है।

दूसरे प्रकार से भी यही बात मालूम होती है। ब्रह्म एक और अखण्ड है। ये अविभक्त रहते हुए भी पुरुष और प्रकृति रूप में द्वेधा विभक्त होते हैं, यही आत्म विभाग (Self division) या अन्त:संघर्ष से उत्पन्न स्वाभाविक सृष्टि है। निम्नवर्त्ती सृष्टि पुरुष और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध या बहि:संघर्ष से आविर्भूत हुई है, यही मलिन मैथुनी-सृष्टि है।

सूर्य-विज्ञान का मूल सिद्धान्त समझने के लिये इस अवर्ण, शुक्ल-वर्ण, मौलिक विचित्र वर्ण और यौगिक विचित्र उपवर्ण—सबको समझना आवश्यक है, विशेषतः अन्त के तीनों को।

ऊपर जो शुक्लवर्ण की बात कही गयी है, यही विशुद्ध सत्त्व है, इस सादे प्रकाश के ऊपर जो अनन्त वैचित्र्यमय निरन्तर रंग का खेल हो रहा है, वही विश्वलीला है, वही संसार है। जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर भी; एक ही व्यापार है। पहले गुरुपदिष्ट क्रम से इस सादे प्रकाश के स्फुरण को प्राप्त करके, उसके ऊपर योगिक विचित्र उपवर्ण के विश्लेषण से प्राप्त मौलिक विचित्र वर्णों को एक एक करके अलग अलग पहचानना होता है। मूल वर्ण को जानने के लिये सादे की सहायता अत्यावश्यक है। क्योंकि जिस प्रकाश में रंग पहचानना है, वह प्रकाश यदि स्वयं रंगीन हो तो उसके द्वारा ठीक ठीक वर्ण का परिचय पाना सम्भव नहीं। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि रंगीन चश्मे के द्वारा जो कुछ दिखाई देता है, वह दृश्य का रूप नहीं होता। योग-शास्त्र में जिस तरह चित्त-शुद्धि हुए बिना तत्त्वदर्शन नहीं होता, सूर्यविज्ञान में भी उसी तरह बिना वर्ण-शुद्धि हुए वर्ण-भेद का तत्त्व हृदयङ्गम नहीं हो सकता। हम जगत् में जो कुछ देखते हैं सब मिश्रण है, उसका विश्लेषण करने पर संघटक शुद्ध वर्ण का साक्षात्कार होता है। उन सब वर्णों को अलग-अलग सादे वर्ण के ऊपर डालकर पहचानना होता है। सृष्टि के अन्दर शुक्लवर्ण कहीं भी नहीं है। जो है, वह आपेक्षिक है। पहले कौशल से विशुद्ध शुक्लवर्ण को प्रस्फुटित कर लेना होगा। यह प्रस्फुटित करना और कुछ नहीं है। पहले ही कहा है कि समस्त जगत् सादे के ऊपर खेल रहा है, इस रंगों के खेल को स्थान विशेष में अवरुद्ध कर देने

से ही वहाँ तुरन्त शुक्ल तेज का विकास हो जाता है। इस शुक्ल तेज को कुछ काल तक स्तम्भित करके उससे पूर्वोक्त विचित्र वर्णों का स्वरूप पहचान लेना होता है। इस प्रकार वर्णपरिचय हो जाने पर सब वर्णों के संयोजन और वियोजन को अपने अधीन करना होता है। कुछ वर्णों के निर्दिष्ट क्रम से मिलने पर निर्दिष्ट वस्तु की सृष्टि होती है, क्रम-भङ्ग करने से नहीं होती। किस वस्तु में कौन-कौन से वर्ण किस क्रम से रहते हैं, यह सीखना होता है। उन सब वर्णों को ठीक उसी क्रम से सजाने पर ठीक उस वस्तु की उत्पत्ति होगी, अन्यथा नहीं। जगत् के यावत् पदार्थ ही जब मूलतः वर्ण-संघर्ष से जन्य हैं, तब जो पुरुष वर्ण-परिचय तथा वर्ण-संयोजन और वियोजन की प्रणाली जानते हैं, उनके लिये उन पदार्थों की सृष्टि और संहार करना सम्भव न होने का कोई कारण नहीं।

साधारणतः लोग जिसे वर्ण कहते हैं, वह सूर्य विज्ञानविद् की दृष्टि से ठीक वर्ण नहीं, वर्ण की छटामात्र है। शुद्ध सत्त्व का आश्रय लिये बिना वास्तविक वर्ण का पता पाने का कोई उपाय नहीं। काकतालीयन्याय से भी पाना कठिन है, क्योंकि एक ही वर्ण से सृष्टि नहीं होती, एकाधिक वर्ण के संयोग से होती है; इसी से एकाधिक शुद्ध वर्णों के संयोग की आशा काकतालीय-न्याय से भी नहीं की जा सकती। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में वैदिक लोगों की तरह तान्त्रिक लोग भी इस विज्ञान का तत्त्व अच्छी तरह जानते थे। इसे जानकर ही तो वे मन्त्र, मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर के पद पर आरोहण करने में समर्थ होते थे, क्योंकि षडध्वशुद्धि का रहस्य जो जानते हैं, वे समझ सकते हैं कि वर्ण और कला नित्यसंयुक्त हैं। वर्ण से मन्त्र एवं मन्त्र से पद का विकास जिस तरह वाचक-भूमि पर होता है, उसी तरह वाच्य-भूमि पर कला से तत्त्व और तत्त्व से भुवन तथा कार्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। वाक् और अर्थ के नित्यसंयुक्त होने के कारण जिन्होंने वर्ण को अधिकृत किया है, उन्होंने कला को भी अधिकृत कर लिया है। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् में उनकी गति अबाधित होती है।[1] ऊपर शुक्लवर्ण या शुद्ध सत्त्व की जो बात कही गयी है, वही आगमशास्त्र

---

१. देवाधीनं जगत् सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः ।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः ॥

समस्त जगत् देवताओं द्वारा सञ्चालित है। जो कुछ जहाँ होता है, उसके मूल में देवशक्ति है। देवता मन्त्र का ही अभिव्यक्त रूप है। वाचक मन्त्र ही साधक के प्रयत्नविशेष से अभिव्यक्त होकर देवतारूप में आविर्भूत होता है। बीज के बिना जिस तरह वृक्ष नहीं, उसी तरह मन्त्र के बिना देवता नहीं। जो वर्णतत्त्वविद् पुरुष वर्ण संयोजन के द्वारा मन्त्र का गठन कर सकते हैं, सुतरां जो मन्त्रेश्वर हैं, वे देवता के भी नियामक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। समग्र जगत् इस प्रकार मन्त्रज्ञ मन्त्रेश्वर ब्राह्मण के अधीन हो जायगा, इसमें संशय करने का कोई कारण नहीं।

का बिन्दु-तत्त्व है। यह चन्द्रबिन्दु है। यही कुण्डलिनी और चिदाकाश है, यही शब्दमातृका है। इसके विक्षोभ से ही नाद और वर्ण उत्पन्न होते हैं। अकारादि वर्णमाला इस शुद्ध सत्त्वरूप चन्द्रबिन्दु में ही शुक्लवर्ण से क्षरित होती है।[1] जो इन सब वर्णों के उद्भव और विस्तार क्रम नहीं जानते, जो सब वर्णों के अन्योन्य सम्बन्ध को नहीं समझते, जो सम्बन्ध स्थापित करने और तोड़ने में समर्थ नहीं हैं, वे किस प्रकार से मन्त्रोद्धार कर सकते है?

सूर्यविज्ञान के मत से, सृष्टि का आरम्भ किस प्रकार होता है, यह हमने बतला दिया। वैज्ञानिक सृष्टि मूल सृष्टि नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिये। इसके बाद सृष्टि का विस्तार किस प्रकार होता है, यह बतलाना है।

परन्तु विषय को और भी स्पष्टरूप में समझने की चेष्टा करें। दृष्टान्त से ले लें कि हमें कर्पूर की सृष्टि करनी है। मान लीजिये कि योगविद्या के अनुसार क, म, त, र इन चार रश्मियों का इस प्रकार क्रमबद्ध संयोग होने से कपूर उत्पन्न होता है। अब उद्‌बुद्ध श्वेत वर्ण के ऊपर क्रमशः क, म, त और र, इन चार रश्मियों को डालने से कपूर की गन्ध मिलेगी। परन्तु एक ही साथ चारों रश्मियाँ नहीं डाली जा सकतीं, डालने से भी कोई लाभ नहीं। सृष्टि काल में ही सम्पन्न होती है। क्रम काल का धर्म है, सुतरां क्रम-लंघन असम्भव है। इसलिये सत्त्व-शोधन कर के उसके ऊपर पहले 'क' को आकर्षित कर के रखता है और स्वयं भी उसी भाव में भावित हो जाता है। इसके बाद 'म' डालने पर वह भी उसमें मिल कर उसके अन्तर्गत आ जायगा। इसी प्रकार 'त' और 'र' के विषय में भी समझना चाहिये। 'र' अन्तिम वर्ण है, इसी से इसके डालते ही कर्पूर अभिव्यक्त हो जाता है। अव्यक्त कर्पूर सत्ता की अभिव्यक्ति का यही आदि क्षण है। यदि क, म, त और र इन रश्मियों के उस संघात को अक्षुण्ण रक्खा जाय तो वह अभिव्यक्ति अक्षुण्ण रहेगी; अव्यक्त अवस्था नहीं आवेगी। परन्तु दीर्घकाल तक उसे रखना कठिन है। इसके लिये विशिष्ट चेष्टा चाहिये, क्योंकि जगत् गमनशील है। यहाँ पर एक गम्भीर रहस्यमय बात है। अव्यक्त कर्पूर ज्यों ही व्यक्त हुआ, त्यों ही उसको पुष्ट करने के लिये, धारण करने के लिये, यन्त्र चाहिये। इसी का दूसरा नाम योनि है। वह व्यक्त सत्ता लिङ्गमात्र है। योनिरूपा-शक्ति प्रकृत की

---

१. अ आ प्रभृति वास्तव में अक्षर नहीं, क्योंकि ये सब वर्ण या रश्मियाँ सहस्रारस्थ सादे चन्द्रबिम्ब के पिघलने से क्षरित होती है मूलाधार की प्रसुप्त अग्नि क्रिया कौशल से उद्‌बुद्ध होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है और अन्त में चन्द्रबिन्दु को स्पर्श कर गला देती है इसी से रश्मियाँ विकीर्ण होती है। परन्तु मूल के साथ योग अक्षुण्ण रहता है इसी से उनको अक्षर कहते हैं। सब वर्णों के मूल में जो 'अ' कार रहता है वही उस मूल वर्ण का प्रतीक है।

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।

अन्तर्निहित लालिमा है। उसका आविर्भाव भी शिक्षासापेक्ष है। यद्यपि सारे वर्ण की तरह यह लालिमा भी विश्वव्यापी है तथापि इसकी भी अभिव्यक्ति है। अन्तिम वर्ण के संघर्ष से जिस समय कर्पूर सत्ता केवल लिङ्गरूप में अलिङ्ग, अव्यक्त सत्ता से आविर्भूत होती है, उस समय यह लालिमा ही अभिव्यक्त होकर उसको धारण करती है और उसको स्थूल कर्पूररूप में प्रसव करती है। विश्वसृष्टि में यवनिका की आड़ में यह गर्भाधान और प्रसव क्रिया निरन्तर चल रही है। सूर्यविज्ञानवेत्ता प्रकृति के इस कार्य को देखकर उस पर अधिकार करने की चेष्टा करता है। संयोग की तीव्रता के अनुसार सृष्टि विस्तार का तारतम्य होता है। कर्पूर का सत्तारूप से आविर्भाव Qualitative (विलक्षण, अभिनव) सृष्टि है, उसका परिमाण या मात्रा की वृद्धि Quantitative (पूर्वसृष्ट पदार्थ की मात्रा विषयक) सृष्टि है। मात्रावृद्धि अपेक्षाकृत सहज कार्य है। जो एक बूँद कर्पूर निर्माण कर सकते हैं, वे सहज ही उसे क्षणभर में लाख मन में परिणत कर सकते हैं। क्योंकि प्रकृति का भण्डार अनन्त और अपार है, उसके साथ संयोजन कर के दोहन कर सकने पर चाहे जिस वस्तु को चाहे जिस परिणाम में आकर्षित किया जा सकता है।[1] परन्तु वस्तु की विशिष्ट सत्ता का आविर्भाव कठिन कार्य है। वही स्थूल-जगत् की बीज सृष्टि है।

यह बीज-सृष्टि भी प्रकृत बीज की सृष्टि नहीं है, मूल बीज की सृष्टि नहीं है। ऊपर जो अव्यक्त कर्पूर सत्ता की बात कही गयी है, वही मूल बीज है। और जो लिङ्गरूप से बीज की बात कही गयी है, वही गौण या स्थूल-बीज है। स्थूल-बीज विभिन्न रश्मियों के क्रमानुकूल संयोग-विशेष से अभिव्यक्त होता है। परन्तु मूल बीज अलिङ्ग, अव्यक्त, प्रकृति का आत्मभूत और नित्य है। इस प्रकार के अनन्त बीज हैं। प्रत्येक बीज में एक आवरण है, उससे वह विकारोन्मुख नहीं हो सकता, मूल बीज स्थूल बीज के रूप में परिणत नहीं हो सकता। सूर्यविज्ञान रश्मि विन्यास के द्वारा उस मूल बीज को व्यक्त कर के सृष्टि का आरम्भ दिखा देता है।

---

१ शून्य को किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या के द्वारा गुणन करने पर भी एक बिन्दुमात्र भी सत्ता का उद्भव नहीं होता, परन्तु अति क्षुद्र सत्ता को भी संख्या द्वारा गुणन करने पर मात्रावृद्धि होती है। किसी के भी हृदय में सरसों बराबर भी पवित्रता होने पर कृपाबल से महापुरुषगण उसका उद्धार कर सकते हैं, क्योंकि कुछ रहने पर उसे बढ़ाया जा सकता है। परन्तु जहाँ पर कुछ नहीं है अर्थात् अभिव्यक्तरूप में नहीं है, वहाँ बाहर की सहायता बेकार है, उस समय साधक को अपनी चेष्टा के द्वारा उसे भीतर से जाग्रत् करना पड़ता है। यही पौरुष का क्षेत्र है। फिर बिन्दुमात्र भी उद्बुद्ध होते ही बाह्यशक्ति कृपारूप से उसको बढ़ा देती है। इस पौरुष के बिना केवल कृपाद्वारा कोई फल नहीं होता। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के पात्र से बिन्दु बराबर अन्न लेकर उसके द्वारा हजारों ऋषियों को तृप्त कर दिया था। देश और विदेश में महापुरुषों के चरित्रों से ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल जायेंगे।

परन्तु उस बीज को व्यक्त करने के और भी कौशल हैं। वायुविज्ञान, शब्द-विज्ञान इत्यादि विज्ञान-बल से, चेष्टापूर्वक रश्मि-विन्यास किये बिना भी अन्य उपायों से वह अभिव्यक्ति का कार्य संघटित किया जाता है। पूज्यपाद परमहंसदेव ने उन सब विज्ञानों के द्वारा भी सृष्टि प्रभृति प्रक्रिया किस प्रकार साधित हो सकती है, यह योग्य अधिकारियों को प्रत्यक्ष दिखा दिया है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी सौभाग्यवश उसे कई बार देखा है।

सृष्टि की आलोचना करते हुए साधारणतः तीन प्रकार की सृष्टि की बात कही जाती है। उनमें पहली परा-सृष्टि, दूसरी ऐश्वरिक-सृष्टि और तीसरी ब्राह्मी-सृष्टि या वैज्ञानिक-सृष्टि है। सूर्यविज्ञान के बल से जिस सृष्टि की बात कही गयी है, उसे तीसरे प्रकार की सृष्टि समझनी चाहिये।

*

द्वितीय भाग

योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग

तत्त्व कथा

श्री श्री विशुद्धानन्दाष्टकम्

प्रातरुद्यत्सहस्रांशु कोटि कूट स्फुरत्विषे।
विशुद्धानन्दनाथाय गुरवे सततं नमः॥ १॥

सूर्य-विज्ञान संभार विहिताद्भुत कर्मणे।
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै विशुद्धानन्द वेधसे॥ २॥

यत्कृपा तरिमासाद्य तीर्णोऽनेकैर्भवार्णवः।
वन्दे परम हंसं त विशुद्धानन्द-नाविकम्॥ ३॥

भृगुराम कृपापात्रं छत्रं शिष्य जनस्य यत्।
विशुद्धानन्द विज्ञान सत्रमेकं श्रितोऽस्म्यहम्॥ ४॥

राज-राजेश्वरी-पीन स्तनधयमपि स्फुटम्।
वर्षीयांसमहं वन्दे विशुद्धानन्द सद्गुरुम्॥ ५॥

सर्वांग सौरभोद्भ्रान्त भृंग-संगीत सस्तुतम्।
विशुद्धानन्द कमलमलं वितनोतु माम्॥ ६॥

विद्युद्दाम स्फुरद्धाम नयनाम्भोज मंजुलम्।
वर्षन्तमिव कारुण्यं विशुद्धानन्दमाश्रये॥ ७॥

योग-प्रभाव संपन्न सिद्धि वृन्द समेधितम्।
नराकार शिव वन्दे विशुद्धानन्द नामकम्॥ ८॥

*

भूमिका

कर्मक्षेत्र में गतिमान रहने से अभिज्ञता का उदय होता है। दीर्घकाल की अभिज्ञता सञ्चित होकर एक सिद्धान्त के रूप में प्रकाशित होती है। जो यन्त्रवत् परमुखापेक्षी नहीं होते उन सबके अपने स्वतंत्र मत हैं, यहाँ तक कि उनकी अपनी परिभाषा भी है। उनके साथ सदैव व्यवहार करते-करते उनकी परिभाषा के विशिष्ट अर्थ समझ में आ जाते हैं। महापुरुषों की परिभाषा का विश्लेषण करके, उनके उपदेशों को चिन्तनशील विद्वानों एवं जनसाधारण के लिये सरल भाषा में प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य है तथापि यह आवश्यक है। इस पारिभाषिक विशिष्टता (क्लिष्टता) के कारण ही, अनेकधा अति सरल वस्तु भी बोधगम्य नहीं हो पाती।

विश्व-कल्याण के लिए योगिराज के वचनों को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करना उचित प्रतीत होता है। विशेषत: वर्तमान काल में इसकी उपयोगिता और अधिक ज्ञात होती है। आजकल जहाँ तहाँ अवतार होने की बात सुनाई पड़ती है; जो इस देश के लिए शुभ है या अशुभ, यह मैं नहीं कह सकता। किसी पुरुष के जीवन में किसी एक विशिष्टता (विचित्रता) को देखकर लोग उसमें अवतार की आस्था करने लगते हैं। अतिसामान्य ग्रामीण भी स्वयंसिद्ध भाव से अपने आपको अवतार बताने लगते हैं, कभी कभी श्रद्धालु भक्त से पूजा-अर्घ्य भी पाने लगते हैं। यह काल के महत्त्व का फल है। विश्वासप्रधान इस देश में योगिराज की तरह अलौकिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति स्वयं को अवतार-रूप में प्रसिद्ध कर सकते थे। घनिष्ठता निरन्तर सान्निध्य से, उनके अन्त:स्थ जिस अलौकिक शक्तिसत्ता और लीला का प्रत्यक्ष अनुभव होता था, उसकी तुलना इस निखिल भूमण्डल में कहीं है अथवा नहीं-इसमें सन्देह है। किन्तु उन्होंने ईश्वर की प्राप्त कर कभी भी स्वयं को ईश्वर (अवतार) कहलाने का दावा नहीं किया। उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा—"क्या जीव कभी ईश्वर हो सकता है? तुम बालक हो, इसीलिए थोड़ी सी शक्ति का प्रदर्शन होने पर धोखे में आ जाते हो। किन्तु यह निश्चितरूप से जानो कि जीव सदैव जीव ही रहता है। जो यह ब्रह्माण्ड तुम्हें दिखाई पड़ रहा है, ऐसे सौ-सौ ब्रह्माण्डों की सृष्टि और संहार कर पाने की शक्ति अर्जित कर लेने पर भी जीव, जीव ही

रहेगा। साधना द्वारा महाशक्ति के प्रसाद से ईश्वर-सामर्थ्य प्राप्त कर भी जीव, जीव ही रहेगा। चाहे ऐश्वर्य हो या समाधि, किसी के धोखे में मत पड़ो। महाशक्ति की चरणच्छाया पाकर, ऐसा कोई कार्य नहीं, जो जीव न कर सके, तथापि मन में यह धारणा रखो कि जीव, जीव ही रहेगा। कपट आचरण करने से सत्य प्रतिष्ठा कदापि नहीं होती।'' जिस महान् आत्मा ने तीस वर्ष पूर्व महासिद्धि प्राप्त की थी; जो सत्यसंकल्प एवं योगीश्वर महापुरुष हैं, वे स्वयं मुक्तकण्ठ से आज भी इस सत्य की घोषणा कर रहे हैं। विश्व के लिए उनका प्रमुख उपदेश है कि सद्गुरु का आश्रय लेकर ही उनके निर्दिष्टपथानुसार कर्म करना चाहिए। एतद्द्वारा यथासमय स्वयमेव ज्ञान, भक्ति और प्रेम का उदय होगा। केवल भावना से प्रेरित होकर अथवा नीरस ज्ञानमूलक तर्क-विचार से वास्तविक फलप्राप्ति की आशा नहीं। कर्म ही एक मात्र अवलम्बन है। उनके जीवन तथा उपदेश से जो मुख्य शिक्षायें हमें प्राप्त हुई, वे इस प्रकार हैं—

१. सदाचार-प्रतिपालन

साधना द्वारा अत्यधिक उन्नति प्राप्त कर लेने पर भी सदाचार का अवलम्बन करना आवश्यक है।

२. ब्राह्मणीय संरक्षण

उनका कथन है कि वर्णचतुष्टय में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि वर्तमान समय में प्रायः ब्राह्मण अपने पूर्वगौरव से च्युत हो चले हैं तथापि उनका सहज स्वाभाविक महत्त्व अक्षुण्ण है। साधना द्वारा समुन्नत एवं विभूतिसम्पन्न होकर भी इतर वर्ण ब्राह्मण द्वारा नमस्कार्य नहीं हैं। अन्य वर्णों के लिए ब्राह्मण का अभिवादन ग्रहण करना सर्वथा अवैध है। थोड़ी सी भी विभूति देखकर प्रभावित हुए ब्राह्मण द्वारा इतर वर्ण जनों को प्रणाम करना या उनसे दीक्षादि ग्रहण करना अनुचित है। ब्राह्मण कर्म-भ्रष्ट होने पर भी उपादान और बीज के उच्च महत्त्व के कारण महान् है। शास्त्र के अनुसार, साधना में प्रवृत्त होते ही उनके दीर्घसमय का आवरण अत्यल्प समय में ही नष्ट होकर उनका ब्राह्मणभाव यथार्थतः उद्बुद्ध हो जाता है। यज्ञोपवीत न धारण करना, नित्य सन्ध्यावन्दन का त्याग कर देना और मिथ्या वैराग्य के चक्कर में यदा कदा काषायवस्त्र धारण कर लेना इत्यादि ब्राह्मणों को शोभा नहीं देता। आदर्श ब्राह्मण को सम्पूर्ण जगत् का आधिपत्य भी तुच्छ जान पड़ता है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी धर्म और ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँचा जा सकता है। सम्प्रति संन्यास, ग्रहण करने के लिए चतुर्दिक् जो आन्दोलन सा दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः व्यर्थ है और समाज के लिए हानिकारक भी है। मूलतः

संन्यास अति दुर्लभ वस्तु है। यदि कोई उसे प्राप्त कर सके तो वह वस्तुतः धन्य है। दिखावटी संन्यास तो एक प्रथामात्र है। उसकी भी थोड़ी सी उपयोगिता तो है किन्तु उसके न होने से भी कोई हानि नहीं है। विशेषतः ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) न होकर केवल गेरुआ वस्त्र धारण कर लेना तो बहुत ही हानिकारक है। गृहस्थाश्रम में रहकर संयम सहित सत्यपरायण रहना ही ठीक है। यथाविधि स्वकर्त्तव्यपालनपूर्वक सदाचार से रहने, भगवान् में विश्वास करने और यथाशक्ति योगाभ्यास करने से जगदम्बा की कृपा से सारे अभाव मिट जायेंगे। ब्राह्मण का विशेष कर्त्तव्य है कि ब्राह्मणों के लिए जो विहित कर्म हैं, उन्हें करते हुए ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बनें।

३. शास्त्रमर्यादा का पालन

शास्त्र का उल्लंघन करके धर्म का लाभ नहीं हो सकता। तब भी ध्यान रहे कि शास्त्र अनन्त हैं। थोड़ी सी संस्कृत पढ़कर, अपने को शास्त्रज्ञ मानकर अभिमान मत करो। योगी के अतिरिक्त अन्य कोई भी शास्त्र का रहस्य नहीं जानता। अहङ्कार पतन का मूल है। विनय ज्ञानी का भूषण है। महापुरुष भी लौकिक व्यवहार में शास्त्र का ही अनुसरण करते हैं। यद्यपि वे शास्त्र से परे हैं तथापि समाज रक्षा के लिए वे विधि-निषेध का पालन करते हैं। जब तक अन्तःस्थल में परमात्मा की वाणी न सुनाई पड़े, जब तक व्यक्ति में अन्तरात्मा की प्रेरणा उद्बुद्ध न हो जाय, तब तक शास्त्र के अनुकूल चलना अति आवश्यक है। किसी भी शास्त्र का अनादर मत करो क्योंकि सभी आधार के अनुसार प्रामाणिक हैं।

४. सर्वदेवों में समान श्रद्धा

देवों में भेद-बुद्धि भगवत्कृपा लाभ में बाधक है। कर्म के समय तो अपने अपने इष्ट में निष्ठा रखनी चाहिए परन्तु सामान्य रूप से सभी देवों में समान भाव रखो। ज्ञानी की दृष्टि में सभी देवता एक एवम् अभिन्न हैं। ज्ञानोदय के पूर्व सब को अपने अपने इष्ट के पथ पर ही चलना होगा, तभी पूर्णता प्राप्त होगी। इसलिए देवतत्त्व के विषय में ऊँच-नीच का विचार अत्यन्त हानिकारक है। जिसके लिए जो भी रास्ता है, उसको उसी पर चलना है। किसी की साधना पद्धति या आचरण की निन्दा मत करो।

५. अभ्यास-योग

आलस्य का त्याग करके गुरुनिर्दिष्ट साधनाक्रम का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास का महत्त्व अनन्त है तपस्या के फलस्वरूप सिद्धि-लाभ अवश्यम्भावी है।

६. चारित्रिक शुद्धि

सब प्रकार की उन्नति चरित्र के उत्कर्ष पर निर्भर है। किसी के मन को आघात मत पहुँचाओ। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करो। गुरु पर अचल श्रद्धा रखो। धैर्य्य, क्षमा और करुणावृत्ति का अनुशीलन करो। चित्त को सदैव अनासक्त एवं शान्त रखने की चेष्टा करो। इन्हीं सब सद्गुणों का विकास प्रकृत आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य है।

७. आत्मप्रशंसा तथा परनिन्दा का त्याग

कभी भी अपने मुख से अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा मत करो। दूसरों के कार्यों को अच्छा या बुरा कहना अनुचित है। किस उद्देश्य से कौन किस कार्य में प्रवृत्त है—इस विचार का अधिकार केवल कर्त्ता को है, अन्य को नहीं। साधु सन्तों की निन्दा तथा उनके कार्यो और देवचरित्रों की आलोचना सर्वथा निन्दनीय है। सरल भाव से निज दोषों का अन्वेषण करो और उनके संशोधन की चेष्टा करो। कभी भी कपट का आश्रय मत ग्रहण करो। सभी दोष क्षम्य हैं किन्तु कपट अक्षम्य है।

८. मनुष्य की ऐश्वर्य-शक्ति का विकास

मनुष्य ईश्वर न बन पाने पर भी ईश्वर-भावापन्न हो सकता है। उसमें ऐश्वर्यशक्ति का स्फुरण हो सकता है। अतएव किसी भी जीव को (भले ही वह अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करता है।) अवतार मानना उचित नहीं है। ईश्वर जब स्वयं मनुष्य अथवा अन्य जीव के रूप में अवतार ग्रहण करता है; उस समय वह मनुष्य या अन्य जीव न होकर वस्तुतः ईश्वर ही रहता है। उसी प्रकार मनुष्य ईश्वर भाव में प्रकाशित होने पर भी मनुष्य ही रहता है; ईश्वर नहीं बन पाता। वस्तुतः जिस प्रकार अवतार को मनुष्य समझना अन्याय है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अवतार मान लेना अन्याय है।

जगत् के लिए बाबा जी के यही साधारण उपदेश हैं। विशेष अधिकारियों के लिए प्रदत्त उनके विशेष उपदेशों की समालोचना निश्चय ही यहाँ नहीं की गई है।

गोपीनाथ कविराज

प्रथम अध्याय

तत्त्वज्ञान

अवतरणिका

जो लोग वर्तमान समय में जगत् के आध्यात्मिक आन्दोलन के स्वरूप और वैशिष्ट्य के विषय में अनुसन्धानरत हैं, उन्हें ज्ञात है कि सम्प्रति सरल व चिन्तनशील मनुष्यों के हृदय में आत्मिक उन्नति के लिए एक प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न हो रही है। दीर्घकालव्यापी मोहनिद्रा के बीच अब एक जागरण का पूर्वाभ्यास दृष्टिगोचर हो रहा है। निद्रा पूर्ण न होने पर भी उसकी गम्भीरता कुछ अंश में कम अवश्य हो गई है क्योंकि अनेक मनुष्य आजकल जीवन की प्रचलित धारा बदल कर धर्मपथ की ओर अग्रसर होने की इच्छा व्यक्त करते हैं; किन्तु इच्छा मात्र से क्या होगा? जीव के अनादिकाल से अभ्यस्त कर्मजनित संस्कार उसे उन्नति पथ पर अग्रसर नहीं होने देते। आप्त महापुरुषों की सङ्गति और सहायता से अपने को पूर्वसंस्कारों के प्रभाव से मुक्त नहीं किया जा सकता। अत: सत्यपथ पर सञ्चरण करना असम्भव हो जाता है। क्योंकि सत्य-लाभ का पथ तलवार की धार पर चलने के समान अति दुर्गम है—'दुर्गमपथस्तत् कवयो वदन्ति।'

कठिन तप, क्लेश-सहिष्णुता, अदम्य अध्यवसाय, सरल व निष्ठापूर्ण हृदय, तीक्ष्ण विचारशीलता, निर्मल वैराग्यादि सद्‌गुणों का यथोचित अनुशीलन न होने तक सत्य की उपलब्धि नहीं होती। गुरु कृपा के बल से ईश्वर का अनुग्रह न प्राप्त होने तक, संसार संग्राम में विजय की आशा करना सर्वथा निराधार है। भगवान् शङ्कराचार्य का कथन है कि मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व एवं महापुरुष के आश्रय का लाभ—ये तीनों पदार्थ, संसार में अतिदुर्लभ हैं। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् जीव मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करता है। इतने पर भी भोग-आकांक्षा छोड़कर मुक्ति के कण्टकाकीर्ण पथ पर अग्रसर होने की इच्छा सब में नहीं उत्पन्न होती और इच्छा होने पर भी पथ प्रदर्शक और शक्तिदाता गुरु की शरण न मिलने पर पूर्णसिद्धि की आशा व्यर्थ है। वस्तुत: प्रत्यक्षदर्शी, विभूति सम्पन्न आप्त पुरुष नहीं के बराबर देखने को मिलते हैं। काल प्रभाव से इस समय तो स्थिति और भी विषम हो गई है। अतएव अभ्युदय-नि:श्रेयस की अभिलाषा वाले मनुष्य के लिए आजकल तीव्रेच्छा होने पर भी सत्पथ पर चलकर सिद्धिलाभ

की सम्भावना अतिन्यून है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति, उत्कट पिपासा के समय जल के गुणागुण के निर्णय का अवकाश नहीं पाता, प्यास बुझाने के लिए गन्दे जल को भी पीने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार इस समय आग्रहशील साधनार्थी योग्यता का विचार किये बिना ही अतात्त्विक धर्मोपदेशों से आकृष्ट होकर विनम्र जिज्ञासु के रूप में उपस्थित हो जाता है। नाना प्रकार की प्राचीन-नवीन पुस्तकें, विभिन्न सम्प्रदायों के उपदेश, अल्पज्ञ-अदूरदर्शी लेखकों के भ्रान्त एवं सारहीन निबन्धादि उपायों का आश्रय लेकर अनेक लोग स्वयमेव संशय-निराकरण पूर्वक गन्तव्यपथ के निरूपण की चेष्टा करते हैं। किन्तु इससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। कार्यक्षेत्र में प्राय: यह अनुभव किया गया है कि जब कोई साधक, ग्रन्थकार के लिखित उपदेश के अनुसार, साधना-जीवन नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है तो ग्रन्थकार के प्रज्ञासम्पन्न-तत्त्वदर्शी महात्मा होने पर भी, मात्र उनके उपदेशों का अध्ययन या श्रवण करके, यथार्थ उन्नति लाभ नहीं कर पाता। लिखित या कथित उपदेश या वर्णन कभी भी पूर्ण नहीं होते, विशेषत: इन्द्रियातीत और अलौकिक शक्तियों का विवरण मानवभाषा कभी भी प्रकाशित नहीं कर पाती। जो प्रकाशित हो भी पाता है वह अत्यल्प होता है। उस शुष्क उपदेश को पढ़-सुनकर किसी भी साधक का स्थायी कल्याण नहीं हो पाता।

जब तक अपनी व्यक्तिगत प्रकृति जड़ से (मूलत:) न बदल जाय, तब तक पूर्व संस्कार नहीं छूटता। जन्मगत उपादान का परिवर्तन एक मात्र योगाभ्यास द्वारा ही सम्भव है। किन्तु योगमार्ग में उचित प्रवृत्ति या गति न होने से योगाभ्यास असम्भव है और शक्तिशाली योगी द्वारा शक्तिसञ्चार के बिना योगमार्ग उन्मुक्त नहीं होता। इसलिए आत्म मंगल-कामी साधक के लिए योगी सिद्धपुरुष का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य है। जो साधक पथप्रदर्शक की चरणच्छाया में अवस्थान करते हैं, वे ही उनके आदेशानुसार अध्यात्म पथ में प्रगति कर पाते हैं और धर्मतत्त्व की वास्तविकता से परिचित हो पाते हैं। यह उपयोगिता भी गौण भाव से ही होती है क्योंकि सत्पथ में सञ्चार आरम्भ होने पर जो कुछ भी जानने या करने की आवश्यकता होती है, तभी वह स्वयमेव निष्पन्न हो जाता है। अन्य महापुरुषों के उपदेश पढ़ने-सुनने पर भी उपलब्धि में कोई त्रुटि नहीं रह जाती। स्वच्छ अन्त:करण में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय स्वभावत: आविर्भूत हो जाता है। तथापि आलोचना की सार्थकता की आवश्यकता रहती ही है। साधना से प्राप्त अनुभूति की सत्यता के निरूपण के लिए तथा साधना के प्रति श्रद्धा एवम् आस्था को दृढ़ करने के लिए उपदेशक के दृष्टान्तसहित दिए गये उपदेश कार्यकारी होते हैं।

विशेषत: कृतकर्मा साधन सिद्ध महात्मा के जीवन व चरित्र द्वारा साधक में आदर्श ज्ञान का अभ्युदय होता है और उनके दृष्टान्तों तथा तेजोमय वाक्यों द्वारा

साधक के (दुर्बल) चित्त में आश्वासन और उत्साह जागृत होता है। धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में महापुरुषों तथा शास्त्रकारों के उपदेशों का यही मुख्य फल है। 'धर्मतत्त्व एक गुह्य विषय है'—ऐसा सर्वदेशीय शास्त्रों का मत है। जीवन के घात प्रतिघात के मध्य जो सत्य की रहस्यमय मूर्ति आत्म प्रकाश करती है, वही धर्म जीवन की असली आधारशिला है। किन्तु बाह्य-भावापन्न, लघुचित्त जनसाधारण के लिए इसकी उपलब्धि कर लेना सर्वथा असम्भव है। धर्मतत्त्व का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए अन्तःकरण में इन्द्रिय, मन तथा अहंकार की निवृत्ति कर, अनादि, सञ्चित, अनुकूल एवं प्रतिकूल वासनाओं के आकर्षण से अपने को अलग कर, साक्षी स्वरूप से अवस्थित होकर, ज्ञान व क्रिया दोनों में ही एकरसता का सम्पादन करके अपने को यन्त्र रूप में परिणत करना आवश्यक है। इसीलिए पथ निर्देशन के लिए महापुरुषों का जीवन व आदर्श ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। महापुरुष धर्मतत्त्व की उपलब्धि कर अपने जीवन में उसका परिणाम और विकास सम्पादन कर सिद्धि लाभ करते हैं। इसीलिए सामान्य जन भी उनके धर्ममय जीवन के द्वारा सूक्ष्म व जटिल धर्मतत्त्व आदि की समस्याओं का समाधान कर पाते हैं। महाजनों की उपलब्धि एवम् उपदेश इसीलिए विशेषरूप से अनुकरणीय हैं।

जो साधना मार्ग में चलने के लिए प्रवृत्त हुए हैं उन्हें सत्य निर्णय के लिए उपरिनिर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। गुरुपदिष्ट मार्ग से श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक सतत चलते चलते सफल तत्त्व का बोध और साक्षात्कार हो जायेगा। तब स्वकीय उपलब्धि सहित एक ओर गुरु, शास्त्र और महापुरुषों के वाक्य तथा दूसरी ओर अपने शुद्ध विचार, इन दोनों को मिलाकर, उपलब्धि का प्रमाण निरूपित करना पड़ता है। साधक द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान एवम् आगम-इन तीनों उपायों से सत्य वस्तु की सत्ता परीक्षित होती है। केवल प्रत्यक्ष या युक्ति (अनुमान) या शास्त्र (आगम) या महापुरुषों के उपदेश (आगम) विपरीत भावना ग्रस्त मनुष्यों द्वारा सदसत् के निर्णय के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। सत्य का जो निर्मल सार्वभौम स्वरूप है, वह संस्काररहित चित्त के समक्ष विकृत रूप में प्रतिभासित होता है। जब तक व्यक्ति संस्कार-जन्य कुप्रभाव से मुक्त नहीं होता, तब तक वह साधना द्वारा सिद्धि लाभ करने पर भी सत्य के निर्भ्रान्त रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर पाता। देह व विषय के सम्बन्ध में इन्द्रियों की स्वाभाविक दुर्बलता और स्थूल जगत् में क्रियाशील शक्ति के संघर्ष से उत्पन्न दैहिक असन्तुलन के कारण जो कुछ लोक में दिखाई पड़ता है वह प्रायः मिथ्या होता है। इसलिए साधनावस्था में प्रत्यक्ष के साथ युक्ति का समन्वय आवश्यक है। विचारों के कठोर मानदण्ड द्वारा सदैव सतर्कतापूर्वक स्वानुभूति की परीक्षा

लेनी आवश्यक है किन्तु इतने पर भी संशयरहित ज्ञान के उदय की सम्भावना नहीं होती। क्योंकि साधनावस्था में अनेक कारणों से जैसे प्रत्यक्ष में दोष रह सकता है, वैसे ही विचार में भी भ्रांति का रहना सम्भव है और प्रत्यक्ष व युक्ति का सामञ्जस्य होने पर भी तत्त्व स्वरूप के सम्बन्ध में सन्देह का निराकरण नहीं होता। विशेषतः जो विषय असंस्कृत मन व इन्द्रियों के अगोचर हैं, उनके सम्बन्ध में तथ्यनिर्धारण, सिद्ध महात्माओं की उपदेशमूलक सहायता के बिना नहीं हो पाता। कोई चाहे कितना बड़ा साधक और विचारशील पुरुष क्यों न हो, उसे भी अवश्य ही सिद्धपुरुषों की वाणी एवं शास्त्रवाक्य का अवलम्बन कर अपने अनुभवों और विचारों के अनुरूप निरूपण करना पड़ेगा। इस प्रकार केवल युक्ति द्वारा भी सत्य का रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। जो युक्ति प्रत्यक्ष की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, प्रत्यक्ष द्वारा जिसका समर्थन नहीं होता, जो शास्त्र और महापुरुषों के उपदेशों के विरुद्ध है, वह सद्युक्ति नहीं। युक्ति के आभास मात्र से धर्मतत्त्व की विवेचना करने से कोई लाभ नहीं होता। इसलिए वेदान्त आदि शास्त्रों में तत्त्व-विवेचन का आधिक्य प्राप्त होता है। शास्त्रमूलक तर्क ही वास्तविक तर्क है। जो तर्क शास्त्रसम्मत और महापुरुषों की निर्मल अनुभूति के आश्रित नहीं होते, कुतर्क हैं। ऋषियों का कथन है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदाशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

वेद शास्त्रों से विरोध न रखने वाला तर्क ही सुतर्क है।

युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते।

इसमें क्या सन्देह है?

कुतर्क अथवा शास्त्रों के विरुद्ध विचार, तत्त्व निर्णय में सहायक नहीं होते। जो शुष्क विचारवादी अथवा Rationalist होते हैं, उनको प्रत्यक्ष एवं विशिष्ट पुरुषों के विचारों से पुष्टि पाकर युक्ति की मान्यता ठीक करनी पड़ती है। युक्ति—अनुभवमूलक है; जिसका अनुभव जितना ही व्यापक होगा, उसकी युक्ति उतनी ही बलवती होगी। जब तक अनुभव, सर्वव्यापक न हो, बाधाओं और प्रतिबन्धों द्वारा सीमित हो, तब तक अनुभवमूलक युक्ति भी स्थिर नहीं होगी। ज्ञान की शनैः शनैः वृद्धि के अनुपात में ही, युक्ति की बलवत्ता नियमित होती है। बालक अपने अल्प अनुभव के बल पर जिसे सही (युक्तिसङ्गत) मान बैठता है, वही युवावस्था में उसे अयुक्त प्रतीत होने लगता है। ऐसा सर्वत्र देखने में आता है। इसलिए मात्र युक्ति द्वारा किसी स्थायी सिद्धान्त पर नहीं पहुँचा जा सकता। युक्ति के साथ प्रत्यक्ष का समन्वय आवश्यक है। केवल इतना ही नहीं,

उसके साथ विशुद्ध अनुभव का मेल करने पर ही यथार्थ सत्य के स्वरूप का निर्णय होता है। अन्ध-विश्वास और अन्धसंशयवाद की अपेक्षा युक्तिवाद निस्सन्देह अधिक उपयोगी है। किन्तु युक्तिवाद में जो स्वाभाविक दुर्बलता है, उसका अतिक्रमण कर पाने तक युक्ति का अनुचित-प्राबल्य धर्मालोचन में बाधा ही उत्पन्न करता है।

केवल प्रत्यक्ष और युक्ति-युक्त शब्दों-वाक्यों के आधार पर भी सत्य-ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। शास्त्र-वाक्यों एवं महापुरुषों के उपदेशों की पूर्णतः उपलब्धि करने पर, निर्दोष विचार-प्रणाली का अवलम्बन करके, प्रत्यक्ष द्वारा उसकी सत्यता के प्रमाण की परीक्षा कर लेनी चाहिए। वस्तुतः जिसे किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष ज्ञान न उत्पन्न हुआ हो और जो विचारशील भी नहीं हैं, वे शास्त्रोपदेश समझने के अधिकारी नहीं है। ज्ञान व क्रिया के समन्वय बिना कोई भी उपदेश यथार्थतः हृदयङ्गम नहीं होता। ज्ञान के द्वारा बोध प्राप्त कर, क्रिया द्वारा उसे स्वायत्त न कर पाने तक, उपदेश की सार्थकता सम्पन्न नहीं हो पाती। समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त तत्त्वदर्शी ऋषियों की अपरोक्ष अनुभूति पर प्रतिष्ठित हैं। शास्त्रों ने उस अनुभूति का विश्लेषण कर, देश, काल, व पात्र की उपयुक्तता के अनुसार जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया है। ऋषियों द्वारा सेवित इस मार्ग पर जो लोग शास्त्रों के निर्देशानुसार अग्रसर होते हैं, वे ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय द्वारा आवरण को दूर करके सत्योपलब्धि के भिन्न भिन्न स्तरों का क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव कर पाते हैं। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर ही शास्त्रवाक्यों की सत्यता समझ में आती है और पीछे अपनी अनुभूति भी शास्त्र के अनुरूप होने पर सत्य के रूप में प्रकट होती है। तब उसमें दृढ़ आस्था उत्पन्न होती है और विचारशक्ति, अनुभूति तथा शास्त्रवाक्य—ये तीनों अनुकूल एवं सत्य प्रतीत होते हैं। शास्त्र की बात कोरी कथा नहीं है। उसके मूल में निहित गंभीर सत्य और उसका प्रकृत तात्पर्य—ये सब विषय बाह्यतः उपलब्ध नहीं किये जा सकते। यह विषय एक सामान्य दृष्टान्त से समझ में आ जायेगा। 'पञ्चीकरण-प्रक्रिया' वेदान्त में है ही, अन्य शास्त्रों में भी प्रसिद्ध है। जब तक अपञ्चीकृत भूत, तन्मात्र में पञ्चीकृत नहीं होते, तब तक इन्द्रियगोचर पदार्थ की सृष्टि नहीं होती। भगवान् शङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्य से लेकर अद्यावधि होने वाले वेदान्तशास्त्र के सभी आचार्य पञ्चीकरण प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपनी अपनी धारणा लिख गये हैं। किन्तु यह प्रक्रिया यथार्थतः साधारण लोग प्रयोग में नहीं ला पाते। उदाहरणार्थ, यदि मैं एक आम या जामुन का विश्लेषण (Analysis) करके अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का समावेशन (Assimilation) प्रत्यक्षतः न कर सकूँ, तो पञ्चीकरण

के विषय में मेरा ज्ञान कुछ भी नहीं है—यही समझना होगा। जो लोग सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों के परस्पर स्वरूप-गत भेद का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाते, वे पञ्चीकरण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते। पञ्चीकरण सिद्धान्तानुसार, स्वयं प्रयोग द्वारा छोटी-छोटी वस्तुओं को पञ्च-तत्त्वों में पृथक् करके पुनः संयोजन के नियमों के अनुसार उन्हें बना लेने में सिद्धहस्त हो जाने पर ही पञ्चीकरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। तन्मात्रों के साक्षात्कार और उचित मात्रा में परस्पर संयोग के नियमों तथा प्रणाली का ज्ञान, क्रिया शक्ति के द्वारा स्वायत्त करने के पश्चात् पञ्चीकरण के सम्बन्ध में निःसंशय भाव से ज्ञान उत्पन्न होता है।

शास्त्रों में इस सम्बन्ध में जो कुछ भी वर्णित है, क्या वे उसे समझ पायेंगे? शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्मलोक से लेकर भूलोक तक सम्पूर्ण लोक और लोकवासी प्राणियों के देह, पञ्चीकृत भूतों द्वारा निर्मित हैं। इसलिये भूलोकवासी मनुष्यादि और ऊर्ध्वलोकनिवासी स्वभावसिद्ध देवगणों के शरीर में परस्पर विलक्षणता है। यह सत्य है कि पञ्चीकरण के विषय में पूर्ण ज्ञान न होने से एतद्विषयक शास्त्रीय उपदेश को यथोचित ग्रहण करने का कोई अन्य उपाय नहीं। सम्प्रति पण्डित एवं संन्यासीवर्ग अनेक शास्त्रों का अनुशीलन करने पर भी, जो शास्त्रों के अर्थ को सम्यक् समझ नहीं पाते, उसका यही प्रधान कारण है। शास्त्र और आचार्यों के उपदेश सत्य होने पर भी, जब तक प्रत्यक्ष न हों, तब तक उनमें पूर्णतः श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। इस प्रसङ्ग में विचार की आवश्यकता है—यही कहना उचित होगा।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष, युक्ति, शास्त्र और महापुरुषों के वाक्य, सत्य एवं धर्म के निर्णय के लिए, तीनों की ही समान रूप से उपयोगिता है। महापुरुषों की उपलब्धि के वर्णन तथा उपदेशादि, कर्मठ और विचारशील साधकों की आत्म-साधना में सहायक होते हैं।

शास्त्र-वाक्य, महापुरुषों के वचन तथा सद्गुरु का उपदेश इन तीनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है, क्योंकि तीनों ही आप्त वचन और अभ्रान्त हैं। किन्तु चित्त-शुद्धि में तारतम्य होने के कारण इन तीनों में सापेक्ष प्राधान्य से भेद हो सकता है। सद्गुरु लाभ के पूर्व शास्त्र व महापुरुषों के वाक्य प्रधान रूप से ग्राह्य हैं किन्तु सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् इनकी प्रधानता समाप्त हो जाती है। तब केवल गुरुवाक्य ही माननीय है। यदि शास्त्रवाक्य, महापुरुषों के वचन और सद्गुरु के उपदेश—इन तीनों में तनिक भी भिन्नता हो, तो गुरूपदेश ही साधक के व्यक्तिगत अधिकार के अनुसार प्रदत्त होने के कारण कर्म प्रवृत्त साधक के लिए अधिकतम उपयोगी हैं। किन्तु उसे समझने और उसके प्रति स्वनिष्ठा दृढ़

करने के लिए शास्त्रों एवं वृद्ध महाजनों के चरित्र और उपदेशादि का अनुशीलन भी आवश्यक है।

हम जिन महापुरुषों के पुण्यप्रसंग का आंशिक रूप मे अनुशीलन के अभिप्राय से इस तत्त्वकथा की अवतारणा कर रहे हैं, वे इसके प्राणस्वरूप हैं। साक्षाद्भाव से और परोक्ष में भी स्थूल शब्द के आश्रय से अनौपदेशिक प्रतिभा के ज्ञान से, शुद्ध-उपदेश अथवा जीवन की विचित्र विचित्र घटनाओं के द्वारा, उन्होंने जो सारे सूक्ष्म तत्त्व मुझे दिखाये व समझाये हैं; उन्हीं में से कुछ को मैं वर्तमान तत्त्वकथा के रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत हुआ हूँ। सद्‌गुरु शिष्य को असंख्य उपायों द्वारा उपदेश देते हैं। केवल वाक्य या प्रयोगों द्वारा ही उपदेश दिया जाता हो ऐसी बात नहीं है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि मन को एकाग्र करने पर भी कोई बात हृदय में पूरी तरह नहीं बैठती। चित्त के गंभीर संशय केवल शुद्ध युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते।

'**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः**' यह बात अनेक लोगों को विचित्र लगेगी किन्तु है नितान्त सत्य।

चैतन्यरूपी गुरु द्वारा शिष्य के मनोमुकुर में चिदालोक-शक्ति सञ्चार करने तक मन का चञ्चल संशय तथा आवरणरूप मिथ्याज्ञान कभी दूर नहीं होता। इस शक्ति का सञ्चरण (संक्रमण) बैखरी व स्थूल शब्द के द्वारा भी हो सकता है तथा उसके बिना भी। उच्चतर भूमि में ज्ञान के प्रकाश के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न आवश्यक नहीं; वहाँ तो वह साक्षाद्भाव से, गुरुशक्ति के प्रभाव से हृदय में से आविर्भूत हो जाता है। साधक की चित्तदशा के अनुसार, ज्ञान की अवतारणा भी भिन्न-भिन्न प्रणाली से होती है।

ज्ञान निर्मल होने पर भी आधार के मलिन होने के कारण प्रकाशित होते समय न्यूनाधिक मलिन व विकृत रूप धारण कर लेता है। यह ज्ञान का दोष नहीं, आधार का दोष है। इसलिए प्रकाशगत अपूर्णता की उपेक्षा करनी होगी।

धर्म के विषय में कुछ आनुषङ्गिक प्रश्नों के सम्बन्ध में बाबा जी का मतामत इस प्रसंग में लिपिबद्ध हुआ है। किन्तु इस लिखित सामग्री द्वारा उनकी तत्त्व व्याख्या की मधुर शैली का आस्वादन कोई ठीक से कर सकेगा—यह सन्दिग्ध है। इसके दो कारण हैं—प्रथमतः जिस प्रकार एक पुष्पस्तबक द्वारा समग्र पुष्पोद्यान के अखण्ड माधुर्य और सुषमा का सही अनुमान नहीं हो सकता, उसी प्रकार महापुरुष के जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध न रखकर केवल उनके उपदेशों द्वारा महापुरुष का यथार्थ चरित्र नहीं प्राप्त होता। द्वितीयतः बाबा जी की तत्त्व व्याख्या की प्रणाली में एक प्रकार की ऐसी विशिष्टता है कि जिसे ग्रन्थ

पढ़ने मात्र से पाने की सम्भावना नहीं है। वे उपदेश के अवसर पर जिस प्राकृतिक क्रिया या शक्ति की व्याख्या या विश्लेषण प्रस्तुत करते थे, उसे उपयुक्त समय पर अधिकारी श्रोता को प्रत्यक्षत: दिखला भी सकते थे। अत: श्रोता के अन्त:करण में व्याख्यात तत्त्व के सम्बन्ध में असन्दिग्ध स्पष्ट धारणा बन जाती थी। ग्रन्थ पठन मात्र से इन सब बातों की उपलब्धि नहीं होती।

यह सब होते हुए भी, शक्तिमान् महात्मा की चरम उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए उनकी तत्त्व कथा के पर्यालोचन की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। अतएव यह आशा करता हूँ कि यह पर्यालोचन सर्वथा निष्प्रयोजन है— ऐसा लोग नहीं समझेंगे।

*

द्वितीय अध्याय

मनुष्य क्या चाहता है?

जिज्ञासु—बाबा! मेरी एक जिज्ञासा है। अपनी इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में मैंने बहुत सोच विचार किया किन्तु समाधान न मिलने के कारण चित्त अशान्त है। जिज्ञासा मात्र यही है कि मनुष्य के जानने योग्य वस्तु है क्या? संसार में ज्ञान के विषय में बहुत कुछ कहा-सुना गया है। जिसकी जैसी रुचि या प्रवृत्ति है, वह उसी के अनुसार ज्ञान के अन्वेषण में तत्पर है। तथापि कोई पूर्ण ज्ञान सम्पन्न (सर्वज्ञ) नहीं दिखाई पड़ता। प्रकृति के अनन्त भण्डार में ज्ञातव्य विषय भी असंख्य हैं। उन सबको जानने की चेष्टा करने पर उनका अन्त नहीं मिलता और ज्ञान पिपासा भी निवृत नहीं होती. इससे पता चलता है कि मनुष्य को स्वयं यह नहीं जान पड़ता कि वह जानना क्या चाहता है?

योगिराज—वत्स! तुमने सत्य ही कहा, मनुष्य नहीं जानता कि उसे क्या जानना चाहिए। यदि वह यह जानता और अनुसन्धान करता, तो एक न एक दिन वह निश्चय ही ऐसी सफलता प्राप्तकर लेता जिसे जानकर और कुछ भी जानना शेष न रह जाता और यही ज्ञातव्य वास्तविक वस्तु है। उसे छोड़ और चाहे जो कुछ भी जानने की चेष्टा करो, वह प्रयत्न सदा निष्फल ही रहेगा। कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। एक विचारशील मनुष्य के लिए काया बिना छाया के पीछे दौड़ना क्या हँसी की बात नहीं?

जिज्ञासु—तो फिर मनुष्य का यथार्थ प्रश्न है क्या? वह प्रश्न क्या है जिसका उत्तर पाने तक उसके चित्त से संशय कभी दूर नहीं होता। जगत् का सारा ज्ञान होने पर और क्रियाशक्ति पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर भी मनुष्य का चित्त शान्ति-लाभ क्यों नहीं करता?

योगिराज—मनुष्य का यथार्थ प्रश्न यही है कि वह वस्तुतः चाहता क्या है? और उसका साधन क्या है?—अज्ञानी और निम्न गति वाले जीव के लिए यही प्रथम-प्रधान प्रश्न है। इस जिज्ञासा को हृदय में जागरूक न रखने पर तुम चाहे और सब कुछ जानने की चेष्टा करो किन्तु तुम्हारी जिज्ञासा (जानने की आकांक्षा) कभी निवृत्त नहीं होगी।

जिज्ञासु—मनुष्य क्या चाहता है? इसे क्या वह नहीं जानता? मेरे विचार से तो वह क्या चाहता है—इसे वह जानता है। क्योंकि जानने से ही वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कोई धन चाहता है, कोई यश चाहता है, कोई

रूप चाहता है, और कोई भोग-विलास चाहता है। सभी एक ही वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। अप्राप्य वस्तु के लिए पागल के अतिरिक्त और कौन श्रम करेगा?

योगिराज—मोह से घिरा हुआ मनुष्य पागल की ही भाँति आचरण करता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर तथा जगत् की अवस्था पहचानने पर सब कुछ समझ में आ जायेगा। मनुष्य स्वयं भी यह नहीं जानता कि उसे क्या चाहिए और उसकी इच्छा की उपलब्धि के साधन क्या हैं। यदि वह इतना ही जानता तो उसकी यह दशा न होती। वह इस तरह व्याकुल होकर हाय-हाय करते चारों ओर न भागता फिरता। किसके द्वारा चालित होकर और किस रत्न की खोज में वह इतने दिनों से भागा-भागा फिर रहा है! किसके लिये वह इस प्रकार दुर्गम वन में, अपार समुद्र की गहराई के बीच चल रहा है? दिन में कार्यजंजाल में, रात्रि में गम्भीर सुषुप्ति में, कभी निसङ्ग एकाकी, कभी अत्यधिक जनसम्मर्द के कोलाहल में, सुदूर के तीर्थयात्री की तरह सारे कष्टों को सहता, उदास होकर विभोर मन से दीर्घ पथ पार करता हुआ आगे बढ़ रहा है। उत्थान में, पतन में, सुषुप्ति में, जागरण में, सुख में, दुःख में, पाप में, पुण्य में कौन-सी अपूर्व स्वप्नमयी आशा उसे चला रही है? मनुष्य जीवन भर ढूँढता ही फिर रहा है किन्तु वह क्या ढूँढ रहा है, शायद इसका भी पता उसे नहीं है। वह एक बार समझता है कि उसे धन की लालसा है किन्तु धन पाने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती। कभी वह और अधिक धन की आकांक्षा करने लगता है अथवा उसकी धन की आकांक्षा पुत्र की आकांक्षा में बदल जाती है। किन्तु पुत्र प्राप्ति के पश्चात् भी उसकी आकांक्षा निवृत्ति नहीं होती है। फिर यश की आकांक्षा उसके मन को व्याकुल बना देती है। अतः इस विचित्र सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य को वास्तव में यह पता नहीं कि आखिर उसे चाहिए क्या? इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य की इस अशान्ति के मूल में एक गम्भीर अभाव है अवश्य। धन, जन, यश, भोग, रूप—चाहे जो भी हो, इसमें से किसी का भी अभाव, वास्तविक अभाव नहीं है। क्योंकि इन अभावों के मिटने पर भी वस्तुतः उसका (जीवन का) अभाव बना रहता है और वह जो चाहता है उसे नहीं मिलता। उसका चाहना और पाना, दोनों ही वस्तुतः भ्रांति का विलास मात्र है। मनुष्य इस संसार रूपी मञ्च पर नाटक करता हुआ अनादि काल से कितनी बार कितने ही वेष ग्रहण कर चुका है और ये सब ही इसी चाहने और पाने के द्वन्द्व को मिटाने के लिए किये गये हैं। नरक के कीट से लेकर ब्रह्मलोक के अधिपति तक की हर अवस्था का उसने अनुभव कर लिया है किन्तु उसका अभाव फिर भी नहीं मिटा। युग युगान्तर से लोक-लोकान्तर में, न जाने कितने जन्मों से उसकी साधना चल रही है किन्तु उसे क्या मिला है, यह वह नहीं बता

सकता। जिसे पाकर और पाने की इच्छा सदा के लिए मिट जाती है, वह चिन्तामणि रूपी धन उसे अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है।

जिज्ञासु—बाबा! क्या सचमुच ऐसी कोई वस्तु है, जिसे पा लेने पर और कुछ भी पाने की इच्छा नहीं होती और जिसे पाकर परमानन्द और परमशान्ति की उपलब्धि होती है।

योगिराज—हाँ, अवश्य है। उसके होने से ही आज संसार में सैकड़ों दु:खों के बीच भी आनन्द की हल्की झाँकी दिखाई पड़ती है; उस अज्ञान के घोर अन्धकार में ज्ञान की प्रभा एकदम लुप्त नहीं हुई। इसलिए मृत्युलोक में रहने पर भी निरन्तर काल के प्रबल प्रताप का अनुभव करके भी मनुष्य का हृदय भीतर ही भीतर अमृत के लिए लालायित रहता है। तुम क्या यह समझते हो कि मनुष्य की यह इच्छा निर्मूल और निस्सार है? ऐसा मत समझो। सचमुच ऐसी वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेने से सभी इच्छायें पूर्ण होती हैं, सभी कामनाएँ तृप्त होती हैं और आशायें साकार हो जाती हैं। सांसारिक जीव जो कुछ भी चाहता है, गलत चाहता है। वस्तुत: सभी गलत वस्तु ही चाहते हैं। गरीबों में धनेच्छा, बन्धनग्रस्त में मुक्ति की अभिलाषा, रूपानुरागियों में रूप-तृष्णा, कामुकों में कामपिपासा, जिज्ञासुओं में ज्ञान-लिप्सा। हैं सब आकांक्षायें ही, भले ही उनके रूप भिन्न-भिन्न हैं। वत्स! जिनके अन्त:प्राणों में दु:ख है तथा जो जगत् की निविड़ वेदना की अनुभूति से विवश हैं, उन्हें संसार का आडम्बर और भोग-विलास भुलावे में नहीं डाल सकता। यदि मनुष्य के जानने योग्य कुछ है तो सर्वप्रथम उसे अपने दु:ख के कारण का निदान करना होगा। मनुष्य जो चाहता है, उसी को पाने का प्रयत्न करता है और जिस उपाय से उसे सिद्धि मिलती है, वही उसका साधन है।

जिज्ञासु—बाबा! यदि यह बात है तो वह साधन क्या है? शास्त्रों में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब मतों में वस्तुत: विरोध न रहने पर भी, प्रत्यक्षत: विरोध सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में आपका व्यक्तिगत मत क्या है?—यह जानना चाहता हूँ।

योगिराज—मनुष्य-जीवन का वास्तविक उद्देश्य है—'स्वभावोपलब्धि।' जीव, स्वभाव से च्युत होकर ही दु:ख कूप में पतित है। पुन: साधना आदि द्वारा स्वभाव में प्रतिष्ठित होने पर उसका सारा अभाव मिट जायेगा। जिसको परमानन्द या परम शान्ति कहते हैं वह वस्तुत: स्वभाव में स्थित होने के पूर्वाभास को छोड़ अन्य कुछ नहीं। शास्त्रों में परमपद के सम्बन्ध में जो कुछ भी वर्णन है, वह इसी अवस्था के सम्बन्ध में विशेषतया चरितार्थ है। फिर भी शास्त्र का वर्णन पूर्ण सत्य का ज्ञापक नहीं। जिसने जिस मात्रा में उपलब्धि की है वह उतनी ही भाषा द्वारा मुख से उपदेश रूप में प्रकाशित कर पाया है। जो मुक्त अवस्था में पूर्ण सत्यस्वरूप की उपलब्धि कर पाये हैं, वे भी उपदेश दान और ग्रन्थ-निर्माण के

समय स्वचित्तगत संस्कार और बुद्धि विकास के अनुसार ही उसकी व्याख्या कर सके हैं। इसलिए उपलब्धि में अभेद होने पर भी वर्णन के समय भेद हो जाता है। अतीन्द्रिय तत्त्व को इन्द्रियों द्वारा प्रकट करने पर मिथ्या का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा। असीम वस्तु को सीमा के अन्दर बाँधना असम्भव है। जो सीमा के अन्दर बँधा है, वह असीम नहीं है। अन्तरङ्ग तत्त्व कभी भी भाषा के द्वारा वर्णित नहीं हो सकता।

आवरण निवृत्ति, मुक्ति का दूसरा नाम है। तुम जिस आवरण से घिर कर स्थूल भाव में पड़े हो, जब वह आवरण दूर होगा तब तुम सूक्ष्म तत्त्व में प्रविष्ट होओगे अर्थात् अपने सूक्ष्म भाव की उपलब्धि कर सकोगे तथा सभी पदार्थों को सूक्ष्म रूप में देख पाओगे। स्थूल भाव से छूटने को ही मुक्ति कहते हैं। स्थूल के सङ्ग से ही प्रिय-अप्रिय का बोध जागृत होता है अथवा सुख-दुःख रूपी द्वन्द्वों की उत्पत्ति होती है। स्थूल से सम्बन्ध न रहने पर सुख-दुःख का बोध या जिसे प्रचलित भाषा में भोग कहा जाता है, वह नहीं होता। फिर भी इस अवस्था में 'स्वभाव' का स्फुरण नहीं होता। तब भी अभाव रहता है किन्तु वह अभाव भौतिक नहीं है। क्षुधा-तृष्णादि ही एकमात्र अभाव हैं—ऐसा नहीं; उसके विशेष भाव से न रहने पर भी अन्य प्रकार के अभाव रहते हैं। इस स्तर के भेदन से परमानन्द-स्वाद प्राप्त होता है। भक्तगण इसे ही प्रेम या अमृत कहते हैं। यह विषय सुख की तरह मोह में फँसाने वाला तो नहीं है किन्तु मोहमय है अवश्य। निविड़ गम्भीर आनन्द को छोड़ यहाँ अन्य कुछ अनुभव ही नहीं होता। इस अवस्था तक पहुँचने पर 'स्वभाव' की प्राप्ति में और अधिक देर नहीं लगती। वस्तुतः 'प्रेम' 'स्वभाव' में स्थित है। स्वभाव में स्थिति किस प्रकार होती है, यह लौकिक विधि से नहीं समझाया जा सकता। जो उस अवस्था को समझ पाया है, वही उसकी उपलब्धि भी कर सकता है। अन्यों को उसे भाषा द्वारा समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है।

स्वभाव-प्राप्ति ही जीव मात्र का लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है। उसी के लिए चेष्टा करनी चाहिए। वत्स, तुम बाह्य जगत से अपने को अलग कर अन्तर्जगत् में प्रवेश करो। पुनः उसे भी त्याग कर भीतर व समान करने की चेष्टा करो। जब यह कर पाओगे, तभी अद्वैतरूपिणी माता की स्नेहशीतल गोद में बैठकर स्तनपान का लाभ कर धन्य होओगे। शिशु होकर माता की गोद में बैठकर लीलामयी के लीला रहस्य को धीरे धीरे समझोगे। 'धीरे धीरे' इसलिए कहा क्योंकि यह गुह्य विषय ब्रह्मादिक देवताओं के लिए अगम्य है। वे भी इस तत्त्वातीत तत्त्व की पहेली को पूर्णतः बूझने में समर्थ नहीं।

जिज्ञासु—बाबा! इस प्रकार तो आप केवल 'स्वभाव' में स्थित होने को ही जीव का एकमात्र लक्ष्य बता रहे हैं। जीव जान या अनजान में भी इसी स्थिति का

अनुसन्धान करता है। स्वभाव में स्थित हो पाने तक उसकी अशान्ति एवं चाञ्चल्य दूर नहीं होता। तब क्या भगवत्प्रेम या मुक्ति, जीव का परम पुरुषार्थ नहीं ?

योगिराज—वत्स! मुक्ति न होने तक क्या स्वभाव में स्थिति होती है? स्वभाव का आवरण और आवरण का आभास ही तो बन्धन है। आवरण न कट पाने तक स्वभावोपलब्धि कैसे होगी? और प्रेम भी मुक्ति न होने तक प्रकाशित नहीं होता। प्रेमावस्था में ही परमानन्द का आस्वादन होता है। प्रेमावाप्ति की अवस्था में ही परमानन्द का आस्वादन होता है। प्रेमावाप्ति की अवस्था तक उठ जाने पर स्वभाव प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। स्वभाव मे स्थित न हो पाना ही रोग है। स्वभाव की प्रतिष्ठा ही रोगनिवृत्ति एवं स्वास्थ्य है। जीवमात्र विकारग्रस्त होकर रुग्णावस्था में दुःख भोगता है और यन्त्रणा के कारण आर्त्तनाद करता है। विकार निवृत्ति से स्वास्थ्य-लाभ होने पर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रहती। यही तो सब चाहते हैं।

जिज्ञासु—बाबा! अनेक लोग कहते हैं कि मुक्त अवस्था में जीव का जीव भाव निवृत्त हो जाता है। यदि यह सत्य है कि जीव अपनी सत्ता स्थिर नहीं रख पाता तो मुक्ति की सार्थकता ही क्या है? जिस अवस्था में आत्मभाव का ही लोप हो जाय तो कोई जानबूझ कर ऐसी अवस्था को क्यों चाहेगा?

योगिराज—वत्स! व्यर्थ के शब्दजाल में स्वयं को फँसा कर सरल-बोध के मार्ग को जटिल मत बनाओ। सरल बात सदैव सरल ही रहती है। हम लोग हजारों कुयुक्तियों द्वारा उसे कुटिल बना देते हैं। अन्तः में प्रवेश करके समझने की चेष्टा करने पर यह शब्द-मोह समाप्त हो जायेगा और वस्तु स्वरूप का विशद परिचय स्वच्छ अन्तःकरण में प्रस्फुटित हो उठेगा। इन सब विषयों के पूर्ण विवेचन का यह उपयुक्त अवसर नहीं है। अभी संक्षेप में एक-दो बातें बताता हूँ। देखो, जीव अनित्य नहीं; जीवत्व तो उसके स्वभाव के अन्तर्गत है। जीवत्व यदि आगन्तुक धर्म होता तो आवरण निवृत्ति के साथ ही साथ जीवत्व के लुप्त हो जाने की सम्भावना थी। किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे ईश्वर की नित्य सत्ता है, वैसे ही जीव की भी नित्य सत्ता है। क्या कभी उसका ध्वंस होता है? जीव तथा ईश्वर एक ही परम तत्त्व के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं। किसी अनिर्वचनीय कारण से जीव आच्छन्न हो गया है, जड़त्व के अधीन हो गया है, उसकी दृष्टि जाती रही है, क्रिया शक्ति लुप्तप्राय है, आत्म विस्मृति हो गई है— यह सब माया की क्रीड़ा है। महामाया की कृपा से जब यह आवरण कट जाता है, तब जीव स्वभाव में प्रतिष्ठित होता है। यह कोई नूतन अवस्था है— ऐसा नहीं। आवरण कटने के साथ ही उसकी आत्मस्मृति जाग उठती है और वह मुक्त होकर अपने को प्रकाशमान देखता है। यही ईश्वर के साथ जीव का सायुज्य है। जीव के साथ ईश्वर का सम्बन्ध आनन्दयुक्त होता है तथा वह मुक्ति प्राप्त कर इस आनन्द

के उल्लास से उल्लसित हो उठना है। मुक्ति से पूर्व यह रसास्वादन सम्भव नहीं। ईश्वर सदैव निरावृत्त रूप से स्वभाव में स्थित रहता है। मुक्तजीव भी इसी प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है। मुक्तावस्था के इसी आनन्द को प्रेम या भक्ति कहते हैं। अत: जो अज्ञानी या बद्ध हैं, उनका जैसे ऐश्वर्य नहीं, वैसे ही उन्हें प्रेम का अधिकार नहीं और मुक्ति न होने तक, स्वभाव न प्राप्त करने तक प्रकृत आनन्द सम्भव नहीं। जीव का जीवत्व कभी नहीं छूटता; मुक्त होकर भी जीव, जीव ही रहता है। तथापि उसमें ईश्वरत्व एवं ब्रह्मभाव का विकास हो जाता है—यही उसकी विशेषता है। इस अवस्था की ओर लक्ष्य करके तुम कह सकते हो कि जीव स्वरूप-निवृत्ति हो गई किन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा देख सकोगे कि जीवत्व का लोप नहीं हुआ। जैसे ईश्वर में जीव-भाव है, वैसे ही जीव में भी ईश्वर भाव है। जब जिस भाव की प्रधानता होती है, उस समय वही भाव क्रियाशील होता है और सहसा प्रकाशित होता है। ईश्वर प्रयोजनवशाद् ही स्वेच्छया जीव रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार जीव भी अव्यक्त रूप में ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न होने पर साधना द्वारा मुक्तावस्था में विकसित हो पाता है अन्यथा ऐसा होना सम्भव ही नहीं था क्योंकि जिसमें जो वस्तु सर्वथा नहीं है उसमें उस वस्तु की स्फूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। जीव तथा ईश्वरशक्ति के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वही जड़-शक्ति के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है जिसे तुम जड़ कहते हो उसमें भी जीव-भाव और ईश्वर-भाव अर्थात् चैतन्य और आनन्द दोनों ही हैं। अन्तर्ज्ञान का विकास होने पर उसके प्रभाव से जड़ वस्तु सर्वत्र चैतन्य और देदीप्यमान दिखाई देने लगती है। अचेतन-शुष्क जड़ पदार्थ के नाम से जगत् में कोई वस्तु नहीं है यह बात समझ में आती है। इसी को प्राण प्रतिष्ठा कहते हैं। ज्ञान की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाने पर 'जड़' की सत्ता ही मिट जाती है और एक अखण्ड चैतन्य मात्र ही रह जाता है।

इसी प्रकार भक्तिसाधना पुष्ट होने पर सर्वत्र आनन्द का आस्वादन होता है—यही ईश्वरोपलब्धि है। आकाश में, वायु में, जल में, स्थल में, मित्र में, शत्रु में—यत्र तत्र सर्वत्र सर्वदा एकमात्र आनन्दमय ईश्वरसत्ता की अनुभूति होती है। जिधर भी देखो, वही दिखाई देता है। एक अनन्त, अक्षय आनन्द के प्रभाव को छोड़, कहीं कुछ और बोधगम्य नहीं होता. भीतर-बाहर निन्दा स्तुति में, सभी अवस्थाओं में, सभी देशों में तैलधारावत् मधुवर्षा होती रहती हैं। प्रह्लाद ने स्फटिकस्तम्भ में भी हरिदर्शन किया था। सभी कुछ प्रभु के माधुर्य से मण्डित हो गया था। उस समय जड़शक्ति भी क्रियाशील और आह्लादिनी शक्ति के रूप में रूपान्तरित हो गई थी—विष भी अमृत हो गया था। इसी प्रकार जीव में भी प्रत्यक्षभाव से जड़ शक्ति निहित है—उसी के प्राधान्यवश जीव बँधा पड़ा है। ईश्वर सत्ता में भी अव्यक्त भाव से जड़ शक्ति है। वास्तविकता यह है कि सभी

भावों में सब भाव विद्यमान हैं। जब जिस भाव की प्रधानता होती है, उस समय वही भाव कार्य करता है दूसरे भाव केवल उसका अनुसरण करते हैं। जीव कहो, शिव कहो, जड़ कहो—सभी उस एक महाशक्ति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं—

"एकैवैषा महाशक्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।"

सभी सत्य हैं किन्तु मूल में यह सब कुछ भी नहीं है। साम्य काल में सब एकाकार होकर एक ही सत्ता में परिणत हो जाते हैं। किन्तु किसी का भी विनाश नहीं होता। इसलिए जब जीव शिवत्व या ईश्वरत्व का लाभ करता है, तब भी उसका जीवत्व सर्वथा नष्ट नहीं होता। देखो, कली से फूल खिलता है किन्तु फूल में कली फिर नहीं दिखाई देती। पर यह तुम्हारी स्थूल दृष्टि की बात है। मैं इसी क्षण फूल को इसके पूर्वरूप अर्थात् कली में परिवर्तित कर दिखा सकता हूँ। प्रसङ्गतः तुम लोगों को इस प्रकार का परिवर्तन कई बार अनेक प्रकार से दिखा चुका हूँ। किन्तु क्या कभी तुमने इसके रहस्य के विषय में विचार किया है? इसका एक मात्र कारण यह है कि जैसे कली में फूल का भाव वर्तमान है, वैसे ही खिले हुए फूल में भी कली का भाव विद्यमान है। फूल खिलने पर कली नष्ट हो गई, यह बात नहीं। तुम जैसे कली में फूल नहीं देख पाते उसी प्रकार फूल में भी कली नहीं देख पाते। किन्तु तुम्हारे देखने या न देखने का कुछ भी मूल्य नहीं है। घी में से दूध और दूध में से घास तक बाहर की जा सकती है। केवल इतना ही नहीं, सभी जागतिक पदार्थ परस्पर मिले-जुले हैं। इसलिए किसी भी वस्तु में से मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु निकाल कर दिखा सकता हूँ। इससे यह प्रमाणित होता है कि कोई भी वस्तु सर्वथा विनष्ट नहीं होती। इसी तरह जब मुक्ति में ईश्वरभाव का विकास होता है तब भी जीवत्व का लोप नहीं होता। किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि ईश्वरीय शक्ति की प्रधानता के कारण जीव-शक्ति की विशिष्ट क्रिया नहीं हो पाती।

जिज्ञासु—समुद्र में हजारों नदी-नाले मिलते हैं, तब भी क्या वे अलग-अलग रहते हैं? तब क्या वे नदियाँ अपने नाम रूप को त्याग समुद्र के साथ तादात्म्य-लाभ नहीं करतीं?

योगिराज—पार्थक्य तो सदा रहता ही है। यदि आप में देखने या अनुभव करने की क्षमता हो, तब तो आप उसे पकड़ भी सकते हैं। समुद्र से मैं गङ्गा और सिन्धु नदियों के जल को पृथक् करके दिखा सकता हूँ। तुम दस हजार मन जल में एक छटाँक दूध डाल दो तो दूध नहीं दिखाई देगा—सोचोगे कि दूध, जल में मिल गया। किन्तु यह तुम्हारी भ्रांति है। वस्तुतः दूध की सत्ता नष्ट नहीं हुई है; केवल जल का परिमाण अधिक होने से दूध दिखाई नहीं पड़ता। अतः सामान्य जीव द्वारा वह जल से अलग नहीं किया जा सकता किन्तु ज्ञानी योगीजन यह कर सकते हैं।

जिज्ञासु—इससे तो यह ज्ञात होता है कि ईश्वर की सत्ता में मग्न हो जाने पर भी जीव की अपनी सत्ता लुप्त नहीं होती। अब प्रश्न यह है कि क्या इस मग्न जीव का पुनरुद्धार किया जा सकता है?

योगिराज—मग्न होने पर भी जीव की अपनी सत्ता रहती है इसमें संदेह नहीं और ईश्वर की इच्छा होने पर इसका पुनरुद्धार न हो सके ऐसा भी नहीं है। परन्तु जो ईश्वर तत्त्व का भी अतिक्रमण करके महाशक्ति में प्रविष्ट हो चुके हैं, उन्हें उससे पृथक् करना औरों के लिए धृष्टता मात्र है। क्योंकि जो इस प्रकार की चेष्टा करने जायेगा उसे उस प्रबल आवर्त के मध्य पहुँचने पर अपनी ही सत्ता खो बैठने की सम्भावना रहती है। फिर भी यह कहना उचित नहीं कि जीव की सत्ता लुप्त हो जाती है।

जिज्ञासु—शास्त्र में लिखा है कि प्रकृति का लय होने पर भी जीव का पुनरुत्थान नहीं होता। वेदान्त में भी, 'अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिशब्दात्' सूत्रानुसार मुक्त पुरुष का पुनरुत्थान अस्वीकृत हुआ है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है—''यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'' अर्थात् जहाँ जाकर फिर वापस नहीं आना होता, वही भगवान् का परम-स्वधाम है।

जैन मुनि कहते हैं कि सिद्ध शिला का अतिक्रम करके आलोकाकाश में प्रविष्ट होने पर फिर प्रपञ्च में नहीं पड़ता।

बौद्धाचार्य कहते हैं कि अप्रतिसंख्या के निरोध के पश्चात् उत्थान होता है। किन्तु जिसकी प्रतिसंख्या का निरोध हो गया है उसको फिर वापस नहीं आना पड़ता।

अन्यान्य देशों के ज्ञानी जन भी प्रकारान्तर से यही बात कहते हैं। सबके मन की एक ऐसी अवस्था है, जिसे प्राप्त होने पर पुनरावर्तन की आशङ्का सदा के लिये निवृत हो जाती है। आप क्या इसे स्वीकार नहीं करते? तब क्या आपके मत से 'निर्वाण' नामक कोई पदार्थ नहीं है?

योगिराज—मैं भी यह मानता हूँ। परन्तु तुम लोग जिस भाव से ऐसा मानते हो, मैं उस भाव से नहीं मानता। जीव अपनी सत्ता न खोकर भी सत्ता-बोध को खो सकता है। सत्ता रहने पर भी उसका बोध न होने से वही बात है जैसे सत्ता हो ही न। अप्रकाशमान सत्ता को सामान्यतया असत् कहने से भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस स्व-सत्ता की लुप्तावस्था के बोध को ही निर्वाण कहते हैं। अवश्य ही, दुर्बल जीव अकस्मात् प्रबल शक्ति के समक्ष आने पर अपनी चेतना खो बैठता है और मूर्छित हो जाता है। जिस शक्ति के समक्ष जीव की ऐसी दशा हो जाती है, उसकी शक्ति की मात्रा के अनुपात में ही जीव के उत्थान की सम्भावना नियन्त्रित होती है, अर्थात् साधारण जीव जिस स्तर पर स्थित हो जाता है, उसकी अपेक्षा जो

शक्तिशाली है, वह इच्छा करने पर उस स्तर से जीव को बाहर निकाल सकता है। ईश्वरावस्था पर्यन्त जीव के उत्थान की सम्भावना है क्योंकि योगिजन अपने 'स्व-सत्ता बोध' के संरक्षण द्वारा ईश्वरतत्त्व तक पहुँच रखते हैं। अतएव इच्छा रहने पर इस अवस्था तक जीव का बहिरागमन सम्भव है। किन्तु इसके परे जो अवस्था है, उसका आदि अन्त नहीं। इस महासागर में से लौटना असम्भव है। वहाँ इच्छा नहीं, ज्ञान नहीं, भावाभाव कुछ भी नहीं, भेदाभेद भी नहीं; केवल एक अनन्त अपार अतुल जलराशि अपनी ससीमता में (स्वयं में ही) मग्न है, स्वयं से ही खेल रही है। वहाँ भोक्ता, भोग्य, भोग किंवा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान कुछ भी नहीं है। वह एक अनन्त प्रकाश या अप्रकाश है, जो अनादि काल से निरन्तर स्वयं ही स्वयं को देख रहा है। वह दृश्य और अदृश्य से अतीत है और एक अव्यक्त, अचिन्त्य परम भाव में मग्न और भावातीत स्वरूप में विराजमान है। यही है महाशक्ति की चरणच्छाया। जीव इस अनन्त महासागर में प्रविष्ट होकर फिर निकल नहीं पाता और कोई अन्य भी उसे वहाँ से निकालने में असमर्थ है। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह इस अनन्तस्वरूपा महाजननी की गोद में स्थित शिशु की तरह महाशक्ति की कणमात्र शक्ति से शक्तिमान् होकर आदर्शभूत रूप में नित्ययोगी, कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि आदि सम्पादन करके भी निष्क्रिय ध्रुवावस्था में वर्तमान है। ईश्वर की भी इतनी शक्ति नहीं कि वह मातृगर्भ में प्रवेश करके स्वयं बाहर आ सके। किन्तु हाँ, माँ की इच्छा होने पर सब कुछ सम्भव है। हमारे विचार से शास्त्रीय भाषा में इसे ही निर्वाण कहते हैं। जो चाहे वह निर्वाण प्राप्ति की प्रार्थना करे, पर योगी निर्वाण की इच्छा नहीं करते। योगी ज्ञान खोकर नहीं रहना चाहता। वह तो माँ की गोद में बैठकर माँ का सारा खेल देखना चाहता है तथा माँ की कृपा से खेल दिखाने का अधिकार भी प्राप्त करना चाहता है।

जिज्ञासु—किन्तु क्या यह सम्भव है? उस विराट् सत्ता का संसर्गलाभ करने पर निजसत्ता की रक्षा किस प्रकार हो सकती है? दुर्बल, झगड़े में सदैव प्रबल से हारता है। सचमुच ही परम वस्तु के साथ सम्बन्ध हो जाने पर, क्या जीव अपने पार्थक्य बोध को बनाये रख सकता है?

योगिराज—हाँ, रख सकता है। प्रबल से अभिभूत होने का भय रहता है, इसीलिए सबल होने की आवश्यकता है 'न्यायस्तु बलहीनेन लभ्यः' यही शास्त्रोपदेश है। ब्रह्मचर्य्य आदि साधनाओं का उद्देश्य शक्ति-सञ्चय ही है। शक्ति की आराधना के बिना शक्तिलाभ नहीं होता, शक्ति के बिना स्वबोध को अक्षुण्ण नहीं रखा जा सकता। तुम लोग अतिसामान्य तेज से ही अभिभूत हो मूर्च्छित तक हो जाते हो, तब शक्ति के तेज को कैसे सहन करोगे? सर्वप्रथम उस महाशक्ति की शक्ति द्वारा शक्तिमान् बनो। तभी उसकी गोद में बैठने पर भी मूर्च्छित नहीं होओगे। जैसे लौहखण्ड अग्नि के ताप से अग्निमय हो जाता है परन्तु रहता है

लोहा ही, वैसे ही महाशक्ति की आराधना द्वारा अपने को शक्तिमय, तेजोमय सम्पन्न करके फिर उसके समक्ष होने पर भी जाग्रत रह सकोगे (मूर्च्छित नहीं हो सकोगे) अनन्त में निमग्न होने पर भी अपने को नहीं खो बैठोगे। आराधना द्वारा माँ की सन्तान बन जाने पर उसकी गोद में बैठने में क्या भय? यह बात तो तुम पुराणों में पढ़ ही चुके हो कि भगवान् के कृपाबल से बली होकर ही तो भक्त भगवान को पराजित करता है। इस प्रत्यक्ष सत्य को अच्छी तरह समझ लो। उसी के अस्त्र से उसे बाँधना होगा। अन्य कोई अस्त्र वहाँ काम नहीं करेगा।

जिज्ञासु—ऐसा होने से तो निर्माण के पथ पर न जाकर, माँ की गोद के बच्चे की तरह, माँ के साथ योग युक्त हुआ जा सकता है। जिन्हें सत्य ही मातृ-स्नेह का स्वाद मिल चुका है, उसे डर कैसा? किन्तु आप उसी 'परम-भाव' को 'मातृ-भाव' क्यों कहते हैं?

योगिराज—तब और क्या कहूँ? जो सब भावों में व्याप्त होकर भी उनसे अतीत रहे, उसका वर्णन क्या हो सकता है? वे एक तरह से माता व पिता दोनों ही हैं। शिशु के लिए माँ से अधिक और कौन प्रिय है? वह माँ को ही पहचानता है, उसे ही पुकारता है और उसके ही सम्बन्ध से पिता को भी पहचानता है। तत्पश्चात् क्रमशः उसका परिचय अन्यों के साथ होता है। वत्स, पहले शिशु बनो; शिशु के समान, मन को सरल निर्मल बनाओ; संसार की कुटिलता, तर्क-वितर्करूपी जटिलता का परित्याग करो; अहंकार तथा कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग करो; समस्त बाह्य-इच्छाओं को छोड़कर एक बार अन्तस्तल में प्रवेश करो और कातर होकर 'माँ! माँ!!' पुकारो—फिर देखो, सन्तान की व्याकुल पुकार सुनकर विश्वजननी जगद्धात्री आविर्भूत होती हैं कि नहीं! माँ से अतिरिक्त ऐसा स्नेह और किसमें हो सकता है? यदि वास्तविक प्रेम कहीं है, तो वह माँ में ही है। उसी माँ को जगाओ, जगाकर उसकी गोद में जा बैठो—सारे अभाव मिट जायेंगे, सारी आशंकायें दूर हो जायेंगी। बालक के लिये माँ की गोद ही उसका अपना सही स्थान है। वहाँ बैठकर वह जिस किसी वस्तु की कामना करेगा, वही उसे सुलभ होगी। जब जिस भाव का उदय होगा, उसका विकास भी तत्काल होगा; इच्छा उत्पन्न होने के साथ ही पूर्ण भी होगी। इस महाभावस्वरूपिणी के प्राप्त होते ही, कोई भी भाव अपूर्ण नहीं रहेगा। तब अन्य इच्छाओं का उदय भी नहीं होगा। सब भावों के छूट जाने पर भावातीत अवस्था का लाभ होगा। महाभाव ही माँ है और भावातीत पिता। एक तो शक्ति का स्वरूप है और दूसरा शिवस्वरूप। निश्चय ही दोनों में कोई भेद नहीं है। माता-पिता के अभिन्न होने पर सन्तान की भी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। तब शक्ति, शिव और जीव तीनों एकाकार हो जाते हैं। तत्पश्चात् माँ की कृपा से जीव का सत्ता बोध लौट आता है। यही माँ का खेल है। इस संकोच-विकास-लीला में ही मातृलीला का स्फुरण होता है। निर्वाण-पथ में

इस लीलारस का आस्वाद नहीं मिलता। निर्वाण हो जाने पर व्यक्तित्व नहीं रह जाता, वह विराट सत्ता में लीन हो जाता है।

जिज्ञासु—क्या जगदम्बा की कृपा से जीवभाव को बनाये रखने पर भी परमतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है? जबकि यह सत्य है कि जीवत्व अदलने-बदलने वाली वस्तु नहीं।

योगिराज—वत्स, मैं पहले भी कह चुका हूँ कि वाग्जाल में अपने को मत फँसाओ। सामान्य जन को तो जीव-भाव का ज्ञान ही नहीं है। जो बात सुन रखे होते हैं वे उसी का बहुधा प्रयोग करते हैं। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि किसी भी भाव का न तो नाश है और न ही उत्पत्ति। परन्तु जीव यदि स्वभाव के बोध की रक्षा करना न जाने या न कर पाये तो उसका मूर्च्छित हो जाना स्वाभाविक है। इस दशा में उसे आनन्द या शान्ति, किसी का भी बोध नहीं रहता। किन्तु वहाँ भी जीव-भाव नष्ट नहीं होता। इस दशा के प्राप्त होने पर जीव के लिये जीव-भाव रहने पर भी न रहने के ही बराबर है। क्योंकि उससे ज्ञान या क्रिया कुछ भी नहीं हो पाती। इसलिये योगिजन इस अवस्था को नहीं चाहते। वे तो विशुद्ध चैतन्य रूप में, स्वयं-प्रकाश रूप में सर्वदा माँ की गोद में जागते रहना चाहते हैं और रह भी सकते हैं।

जिज्ञासु—आपने जो कहा, यही तो भक्तगणों का भी मत है।

योगिराज—योगी को छोड़ भक्त है ही कौन? योगी ही कर्मी है, ज्ञानी है, भक्त है और योगी प्रेमी है। किन्तु योगी इन सब बातों से अतीत भी है। योग की परिपक्व अवस्था को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति से ही योग का चरमोत्कर्ष है।

जिज्ञासु—तब क्या 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध भ्रान्तिमात्र है?

योगिराज—इसे भ्रान्ति कह भी सकते हो और नहीं भी। इस प्रकार का बोध व्यावहारिक भाषा में प्रकाशित भी नहीं होता। अग्नि में पड़ा हुआ लौहखण्ड यदि स्वयं को अग्नि समझ ले और कहे कि मैं "अग्नि हूँ", तब यह बात सर्वथा असत्य भी नहीं; क्योंकि उसमें दहन-सामर्थ्य और अग्नि के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। किन्तु यह असत्य भी है क्योंकि अग्नि से पृथक् होने पर उसमें अग्नि के लक्षण नहीं रह जाते। शीतल होने पर वह लोहे का लोहा ही रह जाता है। वस्तुत: जब लोहा अग्नि में पड़ा रहता है, तब भी वह अग्नि नहीं होता। किन्तु यदि लोहे का अग्नि के साथ योग नित्य और अभिन्न हो, तो लोहे में लौहत्व रहने पर भी उसमें 'मैं अग्नि हूँ' का अनुभव सम्भव है इसी प्रकार, जो योगी हैं, जिनका महामाया के साथ नित्य-अविच्छिन्न योग रहता है; जो ब्रह्म के साथ सदैव युक्त हैं, वे ब्रह्म न होते हुए भी नित्य सम्बन्ध के कारण ब्रह्मलक्षण सम्पन्न हो जाते हैं। अत: यदि ऐसे सिद्ध योगी अपने को ब्रह्म कहकर अनुभव व वर्णन

करें तो कोई दोष है क्या? किन्तु उनके स्वत्व का भी लोप हो गया हो—ऐसा नहीं। उनकी निजी सत्ता तथा बोध का नाश नहीं होता। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभूति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि इसमें दो भावों का सम्बन्ध है। एक है—'अहम्'—अर्थात् विशुद्ध जीवरूप आत्मा। यदि इसका बोध न रहे तो 'अहं ब्रह्म'—इस प्रकार का अनुभव नहीं हो सकता। शुद्ध ब्रह्म सत्ता में निश्चय ही 'अहं' की भावना नहीं होती। परन्तु जीव के आत्मभावोपलब्धि न होने तक 'अहं' भावना का अनुभव अवश्य रहता है स्थूल देह में इन्द्रियाश्रित 'अहं' का स्फुरण होना—यही 'बन्धन' है और जब इन आधारों के बिना 'ब्रह्म' का स्फुरण हो, तब समझो 'मुक्ति' हुई। मुक्तावस्था में विशुद्ध आत्म बोध रहता है, जो ब्रह्म का आश्रय लेकर प्रकाशमान होता है। इसलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव असत्य भी नहीं है। इसी को परमानन्द कहते हैं। वस्तुतः यह योग की अवस्था है। इस अवस्था में 'अहं बोध'—'आत्म-बोध' दोनों ही न होकर और अधिक व्यापक हो जाते हैं। ब्रह्म व्यापक है, उसके साथ योग होने पर 'अहं' भी व्यापक हो जाता है। लेकिन 'अहं' के 'अहंत्व' का लोप न होने तक 'अहं' का भी लोप नहीं होता। अतः यह कथन भी उचित नहीं कि जीव, जड़ प्रकृति से आच्छादित है। यह ब्रह्म और आत्मा के मिलन की अवस्था है। इस मिलन को 'योग' कहते हैं। इसी में आनन्द है। योगी, इसी मिलन की प्रार्थना करते हैं। वे एकदम बोध हीन रूप में नहीं मिलना चाहते। वे चाहते हैं अपना बोधत्व—चिद्, घन व परम आनन्दमय स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर रहना। बोध को स्थायी कर लेने पर यही है नित्य आनन्द और बोध के अतीत होने पर यही हो जाता है अद्वैत स्थिति रूप निर्वाण। निर्वाण में 'अहं' नहीं रहता, कोई भी बोध नहीं रहता, जो रहता है, उसे बोध कहना असंगत है। जहाँ बोध ही नहीं, उस अवस्था को किसी भी प्रकार आनन्दमय नहीं कहा जा सकता। वह तो आनन्द और निरानन्द से भी बहुत ऊँची अवस्था है। जो लोग निर्वाण को परमानन्दमय कहकर वर्णन करते हैं, उनके द्वारा वर्णित निर्वाण तो उपर्युक्त योगावस्था के ही अन्तर्गत है। क्योंकि दोनों के संयोग के बिना आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

जिज्ञासु—हाँ, बाबा! बौद्ध सम्प्रदाय से, "निर्वाणं परमं सुखं ततः कि जायते भयम्"—कहकर निर्वाण की जो व्याख्या की गई है, उसमें वे भी स्पष्टतः उसे महासुख कहकर ही वर्णन करते हैं और यह भी कहते हैं कि दोनों के परस्पर संयोग से ही वह प्रकाशमान् है। अतएव उनके भी मतानुसार, परमानन्द योगी को ही 'निर्वाण-पद-वाच्य' कहा जा सकता है।

वैष्णव भक्त इसी अवस्था को 'दास्य' कहकर वर्णन करते हैं—यही मेरा विश्वास है। आत्मा जब ब्रह्मसान्निध्य लाभ करके ब्रह्माश्रित भाव में प्रकाश पाता है तब वह दास्य भाव न होकर और क्या है? वास्तव में मुक्त होने पर ही दास्य

भाव का ज्ञान व अपने आश्रित होने का बोध होता है। अनन्त महाशक्ति के हृदय में उसी की सत्ता, सत्तावान् होकर जाग उठी है—यह बोध जाग उठता है। यह बोध भी उन्हीं में जागता है, जो मायातीत योगी हैं। यह आश्रय लाभरूपी सौभाग्य सबको नहीं प्राप्त होता। वस्तुत यह दास्य ही प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य है। क्योंकि तब आत्मा आत्मकाम होकर अपनी ही महिमा में विराजती है। ब्रह्म से मिल जाना ही ऐश्वर्य है। जीव उस समय जीव होने पर भी ईश्वर भावापन्न हो जाता है। उसकी इच्छाशक्ति उस समय अनावरुद्ध हो जाती है। शैव सम्प्रदाय के लोग भी इस ऐश्वर्य को परमार्थ कहते हैं। वे भी इसी योगावस्था के प्रार्थी हैं।

योगिराज— यह योगावस्था ही सबको इष्ट है। चाहे कोई कुछ भी कहे, सभी इसे पाना चाहते हैं। कोरा निर्वाण कोई नहीं चाहता। कोई जानकर चाहता है तो कोई अनजाने में चाहता है। जो जानकर चाहते हैं, वे यथोचित उपाय कर समय पर उसको पाने में सफल होते हैं। किन्तु जिसकी आकांक्षा ज्ञानमूलक नहीं है, वह उपयुक्त उपाय न कर पाने के कारण सिद्धि से वञ्चित रह जाते हैं—बस इतना ही भेद है। परन्तु बोध के बाद की भी एक अवस्था है—यह बात मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ। सप्तशुद्धि व मुक्ति द्वारा एक बार उपादान निर्माण हो जाने पर, उस अवस्था में पहुँचने के लिए और चेष्टा नहीं करनी पड़ती। एक बार बोध जाग उठता है, फिर क्षणभर के लिए खो जाता है। फिर जाग उठता है और इस प्रकार ज्वार भाटा की तरह चलता रहता है। यही महामाया की नित्यलीला है—सन्तान के साथ निरन्तर खेल। किन्तु यह उन्नति या अवनति नहीं है क्योंकि उन्नति या अवनति चित्त की होती है, पर यह चित्त की बात नहीं।

जिज्ञासु— योगी भी जब बोध-अबोध से अतीत अवस्था में पहुँचते हैं, तब यह कहने में क्या दोष है कि निर्वाण, योग का चरम फल है ?

योगिराज— नहीं, उस अवस्था को निर्वाण कहना ठीक नहीं क्योंकि निर्वाण के पश्चात् फिर बोध नहीं रहता। निर्वाण होता है बलहीन का—जिनमें स्वत्व नहीं है। वही प्रबलशक्ति के समक्ष अपना बोध खोकर सदा के लिए अनन्त में मिल जाता है। जो योगी हैं, उनका निर्वाण नहीं होता। उन्होंने महाशक्ति के उपादान के साथ अपने को जोड़ दिया है। इसलिए उनका कभी भी विनाश नहीं होता।

*

तृतीय अध्याय

पुरुषार्थ के साधन

जिज्ञासु—यह जो परमानन्दमय अवस्था की बात आपने बताई, इसे क्या संसार में सभी पा सकते हैं?

योगिराज—हाँ, चेष्टा करने पर सभी इसे पा सकते हैं। सभी स्थूल तत्त्व से बुरी तरह घिरे रहने के कारण जड़ भाव के बीच घूम रहे हैं; परम साम्यमय जगत् के आदि स्वरूप चिन्मयतत्त्व को वे खोजते ही नहीं। जो सर्वमङ्गल को भी मङ्गल करने वाली, शिवस्वरूपा, सर्वार्थसाधिका, शरणागतदीनार्त्त परित्राणकर्त्री, अपारवात्सल्यशालिनी, चिरस्नेहमयी विश्वजननी हैं तथा जिसे प्राप्त कर लेने पर जीव का सम्पूर्ण अभाव सदा के लिए मिट जाता है; जीव उसे ही विस्मृत कर बैठा है। उसे भूलकर तुच्छ सुखों के आयोजन में इतस्ततः भटक रहा है। समुद्र जिसका निवास स्थान है, वह आज एक जल बिन्दु के लिए प्यासा गरम बालू के ऊपर मरीचिका की ओर दौड़ रहा है। माया के प्रभाव से जीव अपने को तथा अपनी जननी को भूल गया है। किन्तु यदि वह पूर्ण निष्ठा के साथ सत्पथ में आगे बढ़े तो वह निश्चय ही पूर्णतालाभ कर पाएगा। उसको कोई भी उसके स्वाभाविक अधिकार से वञ्चित नहीं रख सकेगा। किन्तु भ्रान्ति के कारण सभी लोग सुखों का सुप्तभाव से चित्र विचित्र स्वप्नरूप में दर्शन करते हैं। जागकर लम्बे रास्ते को तय करने के परिश्रम को कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। किन्तु परिश्रम करने पर फल मिलना अवश्यम्भावी है। कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चेष्टा करने पर मनुष्य के लिए असाध्य हो। इस चेष्टा को ही साधना कहते हैं। चेष्टा न करना और केवल दैव की दुहाई देते रहना तो कापुरुष का लक्षण है।

जिज्ञासु—प्रारब्ध तथा पूर्व संस्कार एवं भगवान् के अनुग्रह के बिना क्या यह सम्भव है कि केवल साधना से ही सिद्धि प्राप्त हो जाय?

योगिराज—वत्स, किसका प्रारब्ध कैसा है, यह तो कोई नहीं जानता। केवल प्रारब्ध के नाम पर मौन बैठे रहना सद्विचार का चिह्न नहीं। "हमारा पूर्व कर्म अच्छा नहीं है तो फिर चेष्टा करने से क्या लाभ?"—यह मानसिक भाव दोषपूर्ण है। इसी प्रकार पूर्व कर्मों के अच्छे और प्रबल होने की कल्पना करके चेष्टा को अनावश्यक समझ लेना भी दोषपूर्ण है। पूर्व कर्म चाहे अच्छा हो या बुरा, थोड़ा हो या बहुत—यह सोचने से कोई लाभ नहीं। जो तुम्हारी पहुँच से बाहर है, उसकी चिन्ता व्यर्थ है। समय न गँवा कर तुरन्त नये कार्य में लग

जाओ। सुकृत कर्म कभी भी निष्फल नहीं होता। यदि सरलभाव से विधिपूर्वक चेष्टा की जाय, तो उसी के आकर्षण से संचित कर्म के भण्डार में से अनुरूप कर्मसंस्कार स्वयमेव सहायक होने लगते हैं। उन्हें विशेष रूप से आह्वान नहीं करना पड़ता। कुछ लोग अल्पश्रम द्वारा अल्पसमय में ही अधिक फल प्राप्त कर लेते हैं, उसका यही कारण है। कर्मानुसार ही फल-प्राप्ति होती है। हम जो कर्म आज कर रहे हैं, उसे इसी प्रकार के हमारे पूर्वकृत कर्मों के संस्कार शक्त बना देते हैं। जो एकदम आलसी बना रहता है, वह अपने पूर्वकर्म के फललाभ से भी वञ्चित रहता है। यदि पूर्व संस्कार प्रतिकूल हों तो भी चेष्टा निष्फल नहीं होती। चेष्टा यदि प्रबल हो तो उसके प्रभाव से पूर्व कुसंस्कार भी कट जाते हैं और यदि चेष्टा दुर्बल हुई तो उसके बल के अनुपात में ही पूर्व संस्कार क्षीण होंगे। इसलिए हर प्रकार से सच्चेष्टा का फल मिलता ही है—"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" अल्प भी शुभकर्म कल्याण तो करता ही है। यदि चेष्टा अत्यधिक हुई तो पूर्व के कुसंस्कार ध्वस्त होने के बाद भी उसका कुछ और भी फल दिखाई पड़ेगा। सारांश यह है कि पुरुषार्थ करना ही होगा अन्यथा पूर्वकृत कर्मों का भी फल नहीं प्राप्त होगा। भगवत्कृपा भी चेष्टा के अनुरूप ही होती है। वह अहैतुकी, नित्य और सर्वव्यापिका होती है तथा सदैव सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। किन्तु किन्हीं की इष्टसिद्धि (इच्छापूर्ति) उसके रहने पर भी किसी प्रकार नहीं हो पाती। सूर्य का स्वभाव है सदैव प्रकाश देना किन्तु इससे अन्धे को क्या लाभ? इसलिए प्रकाश होने पर भी उससे लाभान्वित होने के लिए नेत्रोन्मीलन अनिवार्य है अन्यथा प्रकाश का होना या न होना दोनों ही समान हैं। इसी प्रकार भगवान् तो स्वभाव से सर्वत्र सर्वसाधारण के लिए व्याप्त है। हाँ, उसे ग्रहण करने का अधिकार अर्जित करना पड़ेगा। सत्कर्म करने से उसकी कृपा की अनुभूति पाने में देर नहीं लगती। वत्स, पौरुष और भगवत्कृपा परस्पर सापेक्ष हैं जिस प्रकार कि एक पक्षी के दोनों पंख अपनी सार्थकता के लिए परस्पर आश्रित रहते हैं। पौरुषहीन के लिए भगवत् कृपा की प्रत्याशा आकाशपुष्प की तरह कल्पनामात्र है। भगवत्कृपा की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना तो आलस्य के लिए सहारा मात्र है। हाँ, इतना ठीक है कि भगवत्कृपा के बिना पुरुषार्थ मात्र से ही कार्य सिद्धि भी नहीं होती।

जिज्ञासु—पुरुषार्थ, साधना, व कृपा के परस्पर सापेक्ष होने से पुरुषार्थ न करके भगवत्कृपा की आशा में चुप बैठे रहने में क्या दोष है? आप कृपा पर बल न देकर साधना और कर्म के ऊपर इतना जोर क्यों देते हैं? जैसे चातक बादल की ओर टकटकी लगाए निश्चेष्ट हो जाता है और मेघजल के अतिरिक्त, अन्य जल ग्रहण ही नहीं करता, वैसे ही यदि मनुष्य भी सकल साधना त्याग कर केवल भगवत्कृपा पर ही निर्भर रहे तो दोष ही क्या है?

योगिराज—वत्स, जो तुम कह रहे हो वह निस्सन्देह बहुत ऊँची अवस्था की बात है। किन्तु वह अवस्था साधारण मनुष्यों के लिए स्वाभाविक नहीं। दीर्घकाल के संयम, श्रद्धा तथा अध्यवसाय के द्वारा अविच्छिन्न भाव से कठोर साधना करने पर किसी किसी भाग्यवान् पुरुष को ही यह दुर्लभ निर्भरता की अवस्था प्राप्त होती है। किन्तु प्रारम्भ में ही साधन त्याग से ऐसी अवस्था कभी भी आविर्भूत नहीं हो सकती। कर्म करना तो अनिवार्य है। कर्म किये बिना निष्कर्म अवस्था का विकास ही नहीं हो सकता। तुमने तो गीता पढ़ी है। समस्त गीता में कर्म का ही उपदेश है। केवल अष्टादश अध्याय के अन्त में कर्म त्याग कर शरणापन्न होने की बात आती है।

जिज्ञासु—कर्म और साधना की प्रधानता को प्रथम अवस्था में स्वीकार करने का क्या कारण है?

योगिराज—पुरुष जब तक स्थूल देहाश्रित रहता है, तब तक उसमें कर्तृत्व का अभिमान रहता है। इस अवस्था में उसका अधिकार कर्म ही है। देह, इन्द्रिय, मन आदि की क्रिया को ही कर्म कहा जाता है। स्थूल देह में आबद्ध जीव का कर्म से छुटकारा नहीं है। "कर्म नहीं करूँगा—" ऐसा सोचकर चुपचाप बैठे रहने पर भी उसके लिए कर्म का त्याग सम्भव नहीं। जब कर्म करना ही है, तो ऐसा कर्म करो जिससे कर्मबन्धन ही सदा के लिए कट जाय। इसे कर्म-कौशल का योग कहते हैं। इसीलिए आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रथमतः योग का ही आश्रय लेना पड़ेगा। देखो, जैसे कृपा, ईश्वर का धर्म है, वैसे ही पौरुष, पुरुष अर्थात् जीव का धर्म है। जीव के बिना ईश्वर की और ईश्वर के बिना जीव की सत्ता काल्पनिक है। इसीलिए पौरुष और कृपा परस्पर आश्रय पूर्वक कार्य करते हैं। तथापि स्थूल भावापन्न जीव के लिए कर्म ही प्रथम सोपान है। देहत्व बोध होने से अहंकार होने से कर्म की सृष्टि होती है। कर्ता के अभाव में कहाँ? और तब कर्म का फलभोग अर्थात् दुःख सुख भी नहीं। कर्तृत्व एवं भोग, दोनों ही लुप्त हो जाते हैं। जीवात्मा से स्थूल देह का भाव मिटते ही वह निष्क्रिय एवं दुःख-सुख से अतीत होकर चिरशान्ति लाभ करता है। इस स्थूल भाव का अतिक्रमण ही जीव का सर्व प्रधान कर्म है। किन्तु स्थूल होकर स्थूल का लङ्घन करना अपनी छाया के लङ्घन के समान असम्भव है। क्योंकि स्थूल देह में रहते कर्म त्याग सर्वथा असम्भव है। चाहे जिस मार्ग से चले, कर्म करना अनिवार्य है। चूँकि सब कर्मों से स्थूल भाव की निवृत्ति नहीं होती इसलिए कौशलयुक्त कर्म (योग) का अवलम्बन करना पड़ता है।

जिज्ञासु—आप तो सारे समय कर्म की ही प्रशंसा कर रहे हैं। तो क्या कृपा की कोई आवश्यकता नहीं?

योगिराज—हाँ, यह भी है। किन्तु कृपा की प्रत्याशा में निष्क्रिय बैठे रहना ठीक नहीं। कर्म करते रहने पर यथासमय कृपा का विकास अवश्यंभावी है। सर्वत्र व्यापकरूप से विद्यमान अग्नि भी यदि निष्क्रिय हो जाय तो उससे दहन अथवा प्रकाशन रूप कोई कार्य नहीं हो सकेगा। इन कार्यों के लिए अग्नि को प्रज्ज्वलित करना पड़ता है। ऐसा ही कृपा के सम्बन्ध में समझना चाहिए। लकड़ी में अग्नि है परन्तु उससे लकड़ी जलती नहीं। काष्ठ को परस्पर रगड़कर उस सुप्त अग्नि को प्रज्ज्वलित कर काष्ठ को जलाया जा सकता है। अव्यक्त अथवा निष्क्रिय अग्नि जला नहीं सकती इसलिए उसका होना, न होने के ही समान है। जलती हुई अग्नि के प्रभाव से चावल उबाला जा सकता है, उसी प्रकार कृपा से ही जीव की ऊर्ध्वगति सम्भव है। भगवान् जीव को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। यही उनकी कृपा है। इस स्वाभाविक आकर्षण शक्ति की सहायता न पाने तक बद्ध जीव की तनिक भी क्षमता नहीं कि वह भगवान् के चरणों में उपस्थित हो पाये। भगवत्कृपा ही उन्हें उपलब्ध करने का एकमात्र उपाय है। किन्तु अग्नि को कार्यक्षम करने के लिए जिस प्रकार काष्ठखण्ड को परस्पर घर्षित करना पड़ता है, उसी प्रकार कृपा का प्रभाव अनुभव करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। भगवत्कृपा के नित्य व सर्वव्यापक होने पर भी जीव, देहाध्यास के वश स्थूल आवरण से घिरा होकर, अभिमानग्रस्त होने के कारण इस कृपा का अनुभव नहीं कर पाता। यदि ऐसा कर पाता तो जीव अनायास ही भगवत्सन्निधान में उपस्थित होकर सदा के लिए सांसारिक शोक ताप से मुक्त हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं। होने का कोई उपाय भी नहीं। सतत भगवत्कृपा होने पर भी, कर्म को छोड़कर अन्य किसी भी उपाय से जीवोद्धार नहीं हो सकता—यह सत्य है; किन्तु अहंकारशील जीव के लिए यह कृपा सतत होने पर भी निष्फल है। स्थूल का आवरण जिस परिमाण में नष्ट होगा, उसी परिमाण में जीव कृपा के प्रभाव की उपलब्धि करेगा। संघर्ष को छोड़ स्थूल नाश का दूसरा कोई उपाय नहीं। संघर्ष द्वारा ही कृपा की अभिव्यक्ति होती है। जैसे काष्ठ को रगड़ने पर अग्नि का आवाहन नहीं करना पड़ता, वह स्वयमेव प्रकट हो जाती है और स्वभावानुरूप अपना कार्य करने लगती है, उसी प्रकार कौशल पूर्वक (यथाविधि) कर्म करने से कृपा के लिए बैठे रहना नहीं पड़ता। यथासमय भगवान् की कृपाशक्ति स्वयं प्रकाशित होकर अहंकार का विनाश कर देती है। क्योंकि स्थूलभाव की निवृत्ति होने के साथ ही साथ देहत्वबोध अर्थात् जड़ता एवं कर्तृत्वाभिमान विलीन हो जाता है अतएव योगरूप कर्म ही अध्यात्म जीवन को प्राप्त करने का प्रथम अवलम्बन है। जड़ से जड़ता का नाश करने पर ही चैतन्य उपस्थित होगा।

जिज्ञासु—यदि कर्म ही मात्र उपाय है तो क्या ज्ञान, भक्ति आदि व्यर्थ हैं?

योगिराज—नहीं, कर्म त्याग द्वारा यदि ज्ञान, भक्ति आदि प्राप्त करना

चाहोगे तो वास्तविक ज्ञान और भक्ति का सन्धान भी नहीं मिल सकेगा। जो मिलेगा, वह आभास मात्र होगा। जो आध्यात्मिक उन्नति का उपाय नहीं है—यही कहना उचित होगा। चाहे जो पथ स्वीकार करो, उस पथ का नाम तो केवल बाह्य चिह्न मात्र है। कर्म सर्वत्र प्रथम स्थान पर है। ज्ञानमार्ग में श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि एवं भक्तिमार्ग में नवधाभक्ति ये सब कर्म के ही अन्तर्गत हैं। वस्तुतः स्थूल से सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य केवल कर्म का ही अधिकारी है। सद्गुरु के निर्देशानुसार कर्म करने से आगे की अवस्थाएँ तो स्वतः विकसित हो जाती हैं। कर्म को प्रधानता देने का मात्र यही एक कारण है।

जिज्ञासु—कर्म का प्राधान्य कब तक रहता है? क्या चिरकाल तक कर्म ही करते रहना होगा? क्या कर्म-संन्यास की कोई सार्थकता ही नहीं?

योगिराज—चिरकाल तक कर्म क्यों करना होगा? क्रिया की भी परावस्था है, जिसकी स्वयमेव स्फूर्ति होती है। उस अवस्था का विकास होने तक कर्म अवश्य ही करते रहना होगा। इच्छा मात्र से कर्म-त्याग नहीं होता। वह तो यथासमय स्वयमेव हो जाता है। वासना के त्याग बिना कर्म संन्यास नहीं हो सकता। स्थूल के साथ स्थूल का संघर्ष ही कर्म है। यथाविधि सम्पन्न इसी संघर्ष के फलस्वरूप जब चैतन्य रूप अग्नि प्रकाशित होती है, तब स्थूलभाव एवं जड़त्व प्रबल नहीं रह जाता, अभिभूत हो जाता है। जिसे तुम जड़ पदार्थ कहते हो, उसके भीतर सर्वत्र चैतन्यरूप अग्नि सुप्तभाव से वर्तमान है। जब बाह्य तीव्र संघर्ष से अन्तःस्थित चैतन्य के तेज से जड़ अथवा स्थूलभाव विलीन हो जाता है। काष्ठ-घर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर जैसे अपने कारण और आधार काष्ठ को भस्म कर देती है, उसी प्रकार उपर्युक्त को भी समझो। इस प्रकार स्थूल तत्त्व के कट जाने पर स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। यथाविधि कर्म करने से निर्दिष्ट समय पर ज्ञान के उदय होने से कर्म-त्याग हो जाता है। कर्महीन व्यक्ति के लिए कर्म संन्यास की प्राप्ति असम्भव है। देहत्व का अभिमान रहने तक कर्म का पूर्णतः त्याग सम्भव नहीं, बलपूर्वक त्याग करने की चेष्टा मूढ़ता मात्र है। देह कर्म का ही रूप है—"शरीर केवल कर्म है।" इसलिए जब तक देह बोध है, तब तक अन्ततः लेशमात्र कर्म रहेगा ही। व्यवहार, कर्मभूमि है। परमार्थ के स्थितिकाल में कर्म के अतीत होने पर भी, व्यवहार अवस्था में कर्म सम्बन्ध कुछ न कुछ रहेगा ही। पर अभ्यासशील योगी के कर्म और साधारणजन के कर्म में भेद है। स्वभाव का अनुशीलन ही धर्म है। अस्वाभाविक कुछ भी उचित नहीं होता। कर्म जब स्वभाव से ही कट जाय, तभी उसका छूटना उचित है। उससे पूर्व कर्म त्याग की चेष्टा, कपट एवं मिथ्याचरण होता है, जो साधक की सिद्धिप्राप्ति में बाधक है।

जिज्ञासु—बाबा! शास्त्रानुशीलन बिना ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? आप तो कर्म से ही ज्ञान का उदय होना स्वीकार करते हैं।

योगिराज—वत्स कर्म न करने से भला ज्ञान का उदय कैसे होगा? केवल शास्त्र-पाठ से होने वाला ज्ञान, शुष्क एवं परोक्ष होता है। शुष्क ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। वह तो विशुद्ध ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में प्रायः काँटे की तरह है। कर्म द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है और इस प्रकार के विकास को ही प्रज्ञाचक्षून्मीलन कहते हैं। ज्ञान का विकास होने पर अहंकार के कट जाने से विषयासक्ति छूट जाती है। तब सकल पदार्थों का निर्भ्रान्त स्वरूप प्रकाशित होने लगता है और कुछ भी आवरण नहीं रह जाता।

जिज्ञासु—ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् पुनः किस अवस्था का आविर्भाव होता है?

योगिराज—ज्ञान के पश्चात् भक्ति का उदय होता है। ज्ञानलाभ होने पर एक ओर तो वैराग्य प्रतिष्ठित होता है तथा दूसरी ओर अनुराग का संचार होता है। अनात्मा व जड़ वस्तु के प्रति वैराग्य होता है और परमात्मा के प्रति अनुराग होता है। यही भक्ति है। चिन्मयावस्था का उन्मेष न होने तक जड़त्व तथा विषयों का आवरण भङ्ग नहीं होता और फलतः शुद्ध भक्ति का उदय भी नहीं होता। ज्ञानोदय के पूर्व की भक्ति में जड़ता का सम्बन्ध अवश्यम्भावी है। इसलिए वह न्यूनाधिक मात्रा में कामना व स्वार्थमय होती है। वह हेतु सहित तथा सोद्देश्य होती है। ज्ञानलाभ द्वारा आप्तकाम होने के पश्चात् ही विशुद्ध भक्ति का आविर्भाव होता है। अन्य आकांक्षाये तो दूर की बात रहीं, मुक्ति की भी आकांक्षा उसमें नहीं होती! भोग किवा मोक्ष की स्पृहा भी शुद्ध भक्ति में प्रतिबन्धक है। इसलिए बद्ध व स्थूल भावापन्न जीव के लिए शुद्ध भक्ति का उदय असम्भव है। ज्ञान एक प्रकाश के समान है, जिसमे वस्तु का साक्षात्कार होता है। अनन्त से प्राण का आकर्षण व मन की लगन लग जाती है। इसे ही भक्ति कहते हैं। कर्मान्वेषण व ज्ञानप्राप्ति ही भक्ति का आस्वादन है। अतएव भक्ति, ज्ञान की ही परिपक्वावस्था है।

जिज्ञासु—क्या भक्ति के पश्चात् और कोई अवस्था है।

योगिराज—हाँ, है और वह है प्रेम। भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था को प्रेम कहते हैं। वह परम आनन्दस्वरूप है। अनेक लोग इसे ही अद्वैतासिद्धि कहते हैं। इस अवस्था की पूर्णता ही महाशक्ति एवम् असीम तत्त्व में प्रवेश का द्वार है। इसके बाद है अनन्त महासागर—जहाँ शब्द और मन की भी गति नहीं। असीम व अनन्त सत्ता तत्त्व से अतीत होने पर भी वह तत्त्व रूप से वर्णित होती है। वहाँ द्वैत और अद्वैत कुछ भी नहीं। वह एक प्रकार से ईश्वर तत्त्व की अतीत अवस्था है—पूर्णतया महाशक्ति का स्वरूप व स्वभाव। 'बिना प्रेम से न मिले नन्दलाल'—बिना प्रेम के इस पूर्णत्व में प्रवेश नहीं होता।

जिज्ञासु—इसके लिए क्या पहले गुरूपदिष्ट कर्म का ही अवलम्बन करना होता है? प्रकृत धार्मिक जीवन की प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं?

योगिराज—हाँ, क्रमशः कर्म करते करते ज्ञान का उदय होने पर कर्म निवृत्ति होती है। ज्ञान होने पर भक्ति का विकास होता है एवं भक्ति के परिपक्व होने पर प्रेम का उदय होता है। बचपन के बाद यौवन, यौवन के बाद प्रौढ़त्व और तत्पश्चात् वृद्धावस्था जैसे क्रमशः स्वाभाविक नियम से आती है, वैसे ही क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेम भी स्वयमेव विकसित होते हैं। शैशव न होने पर जैसे यौवन नहीं होता, वैसे ही कर्म बिना ज्ञान लाभ नहीं होता। शैशव के पश्चात् जैसे युवावस्था का स्वयमेव पदार्पण होता है और शैशव शेष नहीं रहता, वैसे ही कर्म-निवृत्ति के पश्चात् ज्ञानावस्था आती है जिसमें क्रिया बोध नहीं रहता। बिना बीज बोये फल लाभ की आशा, वन्ध्या पुत्र का मुख देखने, कर्महीन के ज्ञानलाभ अथवा ज्ञानहीन के भक्तिलाभ की आशा के समान दुराशा मात्र है। बाल्य, यौवन जिस प्रकार विभिन्न होने पर भी एक ही जीवन के अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान आदि भी एक ही साधना प्रवाह के अन्तर्गत हैं और परस्पर अङ्गाङ्गि भाव से सम्बन्धित हैं। यही वास्तविक समन्वय है। साधनायुक्त जीवन होने पर ये सभी अवस्थायें स्वयमेव घटित होती हैं।

जिज्ञासु—अनेक लोगों का कथन है—"भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।" प्रथम भक्ति फिर भक्ति से ज्ञान और फिर ज्ञान से मुक्ति अर्थात् बन्धननिवृत्ति। आपकी बात तो इससे विपरीत ज्ञात होती है।

योगिराज—वस्तुतः ज्ञान से पूर्व की भक्ति, वास्तविक भक्ति नहीं होती है क्योंकि उसमें स्वार्थ की भावना रहती है। साथ ही वह अहंकारमूलक भी है। ज्ञानोदय से पूर्व जड़ सम्बन्ध व देहाध्यास के कारण उस अवस्था की भक्ति एक प्रकार से केवल प्रार्थनामात्र है। उसमें फल की ओर लक्ष्य रहता है, भले ही फल मोक्ष की प्राप्ति हो, तो भी वह शुद्ध भक्ति नहीं। और भी एक बात है—ज्ञान है वस्तु-तत्त्व का प्रकाशक। जब तक ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक भक्ति का आश्रय तथा विषय दोनों ही समान रूप से अप्रकाशित रहते हैं। जहाँ आश्रय और विषय दोनों ही अप्रकाशित हों, वहाँ दोनों से सम्बन्धित भक्ति की प्रकाशमानता का अंगीकार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। भक्ति का अधिष्ठान जीव आत्मज्ञान रहित है। भक्तिपात्र ईश्वर भी अप्रकट और अनादिभूत रहता है। यह अज्ञान की अवस्था है और ऐसी अवस्था में भक्ति नहीं हो सकती। जगत् में जिसे साधारणतया भक्ति कहते हैं, वह वस्तुतः अभाव निवृत्ति के लिए प्रार्थनामात्र है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञान बिना मुक्ति नहीं हो सकती)—यह बात ठीक है। परन्तु वह ज्ञान, शुष्क नहीं; यथार्थतः अपरोक्ष ज्ञान है। मुक्ति से पहले पराभक्ति

का उदय होना ही नहीं। जब पाप पुण्य विगलित हो जायें, सुख दुःख अतिक्रान्त हो जायें, तब कहीं किसी विरले भाग्यवान के हृदय में अहैतुकी भक्ति का उदय होता है। इसलिए ज्ञान कहें या भक्ति ही कहें, योग के आश्रय के बिना कुछ भी ठीक-ठीक भाव से नहीं होगा—न ज्ञान, न ही भक्ति।

जिज्ञासु—बहुसंख्यक लोगों का विश्वास है कि योग बहुत कठिन कार्य है। आजकल योग करने पर किसी किसी के मस्तिष्क या अन्य अंगों में विकृति आ जाती है।

योगिराज—योग कठिन है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु दुरूह होने पर भी सिद्ध योगी द्वारा उपदिष्ट योग मार्ग अति सरल है। उससे किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं रहती। ग्रन्थ मात्र पढ़कर योग करने से अथवा अज्ञ लोगों के उपदेश पर चलकर प्राणायाम आदि क्रियाओं से शारीरिक अपकार सम्भव है। जो योग के रहस्य और मानव के दैहिक और मानसिक उपादान की विशेषता से अवगत नहीं, उन्हें योग क्रिया का उपदेश देने का अधिकार नहीं। स्वाभाविक योग अति सरल है और उससे किसी भय या हानि की सम्भावना नहीं। इस प्रकार के योगी अति विरल होने के कारण ही योग इतना दुर्लभ है।

जिज्ञासु—योग के बिना वास्तविक उन्नति क्यों सम्भव नहीं? इस बात को और अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। किसी विशेष कर्म द्वारा योगलभ्य फल प्राप्त किया जा सकता है या नहीं—यह जानने की इच्छा है।

योगिराज—वत्स, योग का स्थान अन्य कोई भी कर्म नहीं प्राप्त कर सकता। एकमात्र योग को छोड़कर और किसी प्रकार के उपाय से चित्त और देह की स्थायी शुद्धि नहीं होती। देखो, प्रकृति में जितने भी कार्य होते हैं, वे निर्माण व क्रियाभेद से दो प्रकार के हैं। निर्माण तो हुआ उपादान एवं क्रिया हुई निमित्त। निर्माण का धर्म आपेक्षिक स्वधर्म है, क्रिया द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है, जिसे उत्पत्ति कहते हैं। एक दृष्टान्त द्वारा विषय को समझा देता हूँ। कल्पना करो कि राम और श्याम, दो बालक धूप में घूमने के बाद घर लौटे। धूप लगने के कारण राम तो बीमार पड़ गया किन्तु श्याम को कुछ नहीं हुआ। सूर्य का ताप तो दोनों को बराबर ही लगा परन्तु एक ज्वरग्रस्त हो गया और दूसरे को कुछ नहीं हुआ। इसका क्या कारण है? कारण में विभिन्नता न होने से कार्य में भी भेद नहीं हो सकता। इसलिए सूर्य के ताप के अतिरिक्त भी कुछ अन्य कारण हैं और वही ज्वर का असाधारण कारण है। धूप तो केवल उसे उत्प्रेरित करने वाली वस्तु हुई। यह असाधारण कारण और कुछ भी नहीं अपितु राम की देह की विशेषता तथा संस्कार विशेष की समष्टि है। कहा जा सकता है कि पित्त दुर्बल होने के कारण सूर्य के ताप से उसका पित्ताशय आक्रान्त हो गया और ज्वर

का आविर्भाव हुआ। निस्सन्देह, धूप न लगती तो ज्वर न होता, किन्तु दबा रहता। उत्तेजना का कारण उपस्थित होते ही वह संस्कार जाग पड़ा। यह उपादान की विचित्रता और निर्माण का विकार है। धूप लगने की क्रिया तो निमित्त मात्र है। अतएव यह समझना होगा कि ज्वर का समुचित कारण जानने के लिए केवल निमित्त का आविष्कार ही पर्याप्त नहीं। निमित्त तो गौण कारण है। वस्तुतः कार्य का मुख्य कारण तो उपादान की विशिष्टता ही है। जीव अभी स्थूल भावापन्न है-यह उसकी वास्तविक और स्वाभाविक अवस्था नहीं—यह तो वैकारिक अवस्था है। इस विकार का अपनयन ही जीव का स्वास्थ्य सम्पादन है। धातुओं का साम्य भाव ही स्वास्थ्य है और वैषम्य ही व्याधि। अब प्रश्न यह है—विकृत जीव प्रकृतिस्थ किस प्रकार हो? इस क्षेत्र में निर्माणगत परिवर्तन आवश्यक है। केवल क्रियागत एवं नैमित्तिक परिवर्तन से स्थायी फल नहीं मिलेगा। निर्माण के समय जो वस्तु न हो उसका क्रिया द्वारा भी विकास नहीं हो सकता। काम का उपकरण सामने होने पर कामवासना जाग उठती है, क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर क्रोध जाग उठता है इसका क्या कारण है? इसका एकमात्र कारण है-हमारे निर्माण अथवा उपादान में काम व क्रोध का निहित बीज। उपयुक्त अवसर पाते ही उसका स्फुरण हो जाता है। कामादि का निमित्त न रहने से यदि कामादि जागृत न हों, तो वह निष्कामत्व का प्रदर्शन नहीं। जब प्रबल उत्तेजक कारण के उपस्थित हो जाने पर भी कामादि का आविर्भाव न हो, तब समझो कि हमारी कामादि वासनायें निष्क्रिय हो गई हैं—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि ते एव धीराः।" यह बात ध्रुव सत्य है। अतएव यदि हमें आत्मशोधन करना है तो निर्माण एवम् उपादान की शुद्धि का लक्ष्य रखना होगा। यह न करके यदि हम केवल चलने-फिरने और व्यवहार का ही ध्यान रखेंगे और यह आवश्यक है भी; तो उतने से लोक दृष्टि में संयम लाभ होने पर भी हमारी मूलशुद्धि नहीं होगी। कभी न कभी आकर्षक बाढ़ के तीव्र वेग से संयम का बाँध टूट जायेगा। इस उपादान शुद्धि का एकमात्र उपाय है योग। जिसे तुम स्थूल देह कहते हो, वह केवल वासना समष्टि है। इसलिए जिस साधन से स्थूल भाव कटेगा, उससे ही वासना निवृत्ति भी होगी। वासना त्याग की कोई और प्रणाली नहीं है। स्थूल के साथ स्थूल का तीव्र संघर्ष न होने तक स्थूल की अन्तर्निहित चैतन्यरूप अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती। उसके प्रज्ज्वलित न होने तक स्थूल की निवृत्ति भी नहीं होती। यह संघर्ष ही यौगिक कर्म है। स्थूल का दाह और वासना का क्षय, दोनों अभिन्न हैं यह ज्ञानोदय आत्मसाक्षात्कार के साथ साथ ही होता है। दोनों समसामयिक हैं।

जिज्ञासु—आपने कहा संघर्ष को ही योग कहते हैं। आपके मत से किन दो वस्तुओं के परस्पर संघर्ष को योग नाम दिया जा सकता है।

योगिराज—स्थूल के साथ लिङ्ग के संघर्ष को ही लें। किन्तु विषय बड़ा जटिल है। वस्तुत: स्थूल के साथ लिङ्ग का संघर्ष प्रत्येक क्षण ही हो रहा है किन्तु यह योग नहीं है। तथापि कौशल रहने से यह योग भी है। यहाँ स्थूल और सूक्ष्म के रहस्य का विमर्श करने की आवश्यकता नहीं है। यह समझ लो कि स्थूल जड़ है और सूक्ष्म चैतन्य है एवं लिङ्ग व्यापक भाव से प्रयुक्त मन है। इस सूक्ष्म तत्त्व को आत्मा या परमात्मा किंवा ईश्वर भी कह सकते हो। लिङ्ग, जीव का बाह्यचिह्न है। हमारी देह ही स्थूल पद व्यपदेश्य है। बाह्यस्थूल पदार्थ विषय हैं। मन और इन्द्रियां के साथ विषय का सन्निकर्ष निरन्तर होता रहता है, जो स्थूल के साथ लिङ्ग के संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तब भी ध्यान रखना होगा कि लिङ्ग तटस्थ है अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल के बीच में स्थित है। बद्धावस्था में स्थूल से संयुक्त होने से लिङ्ग स्थूल है किन्तु मुक्तावस्था में, स्थूल से अयुक्त होने के कारण, वह सूक्ष्म है। अतएव स्थूल के साथ लिङ्ग संघर्ष वस्तुत: स्थूल का स्थूल से ही संघर्ष है। वासनायुक्त मन तो स्थूल ही है। किन्तु यह संघर्ष योग नहीं है। लिङ्ग के साथ शुद्ध आत्मा अथवा तत्त्व का ही संघर्ष योग है। पूर्वोक्त रीति से बद्धजीव का लिङ्ग निश्चय ही स्थूल भाव से आच्छन्न है। परमात्मा एवं मन्त्रादि रूप से भूतकञ्चुक से आवृत होने से स्थूल की ही तरह है। यह संघर्ष ही जीवात्मारूपी लिङ्ग व परमात्मारूपी तत्त्व का संयोग है अथवा मन एवं आत्मा का संयोग है। यद्यपि इसमें स्तर अवश्य हैं। लिङ्ग और सूक्ष्म के परस्पर घर्षण से चैतन्य की अभिव्यक्ति होने के साथ साथ लिङ्गावरण वासना तथा सूक्ष्मावरण भूत कञ्चुक नष्ट हो जाते हैं अर्थात् बाह्यावरण छिन्न हो जाता है। इसके फलस्वरूप शुद्धप्राय लिङ्ग और शुद्धप्राय परमात्मा जाग उठते हैं। यह है एक प्रकार से वास्तविक चित्त शुद्धि और देव साक्षात्कार। तब लिङ्ग एक प्रकार से शुद्ध सत्त्व है। उसमें मल का किंचित् लेशमात्र है और वह परमात्मा और अपर देवताओं के रूप में अभिव्यक्त है। यहाँ तक तो प्राकृतिक भाव है। इसमें प्रज्ञा का विकास होने पर भी इसकी अवस्था निर्मल नहीं है तत्पश्चात् दोनों के मध्य दूसरी बार संघर्ष होता है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे उपासना या निदिध्यासन कहते हैं। वास्तविक पक्ष में यह भी कर्म है। प्रथम संघर्ष बाह्यज या बाह्य कर्म है और दूसरा अन्तज या अन्त:कर्म है। दोनों ही कर्म, उपासना हैं। द्वितीय संघर्ष की चरम अवस्था में चैतन्यसमाधि होती है। अमल ज्ञान निर्मल होता है, लिङ्ग पूर्ण भाव से विशुद्ध हो जाता है एवं देव भाव ऐश्वर्य में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में लिङ्ग विशुद्ध आत्मा से युक्त हो अव्यक्त भाव में रहता है किन्तु ध्यान रहे, लिङ्ग कभी भी शुद्ध-आतमभाव में परिणत नहीं होता, यद्यपि दोनों के अत्यन्त स्वच्छ होने से उनका परस्पर भेद समझ में नहीं आता। परमात्मा के बीच जीवात्मा करीब करीब अभिभूत सा हो जाता है, इसीलिए

उसका भेद गृहीत नहीं हो पाता। किन्तु आत्मज्ञान और शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध होने पर जीव की सत्ता पहचान ली जाती है। लिङ्ग तो सूक्ष्म-तत्त्व विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इसमें आत्मस्वरूप का बोध भी नहीं और परबोध भी नहीं।

जिज्ञासु—शास्त्रों में भी इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। सांख्य और योग के आचार्यगण जिसे 'कैवल्य' कहते हैं, वह कुछ-कुछ ऐसी ही अवस्था है। आपने दूसरे संघर्ष के पश्चात् ज्ञान की निर्मलता की जो बात कही, वही उनके लिए ज्ञान-संप्रसाद है। सत्त्व व पुरुष में शुद्धि साम्य होने से जिस अवस्था के लक्षण बताये गये हैं, वह कुछ कुछ वही अवस्था मालूम होती है। लिङ्ग व सत्त्व, आत्मा व पुरुष दोनों का शोधन एक समान होने से कैवल्य अवस्था हो जाती है। वेदान्त में तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का शोधन इस प्रसङ्ग में ध्यान में आता है। अच्छा, क्या इस अवस्था में ज्ञान रहता है?

योगिराज—जिसे हमलोग साधारणतः ज्ञान, इच्छा आदि कहते हैं, वह इस अवस्था में नहीं रहता, रह भी नहीं सकता। क्योंकि लिङ्ग की क्रिया के बिना किसी भी वृत्ति का उदय नहीं हो सकता। लिङ्ग जब वासना व संस्कार रहित एवं स्थूल-सम्बन्ध-हीन होता है, तब उसमें क्रिया की सम्भावना नहीं रहती। शुद्ध परमात्मभूमि में अभिभूत होकर लिङ्ग में चेष्टा का अभाव हो जाता है। अतएव कैवल्य ज्ञान तथा इच्छा का सद्भाव कल्पनीय नहीं है। तथापि शुद्ध वासना एवं शुद्ध तत्त्व के अवलम्बन से लिङ्ग में ज्ञानादि का उदय होना संभव है। चित्त की वृत्ति लिङ्ग में क्रिया मूलक है। इसलिए जब लिङ्ग निष्क्रिय है, तब चित्त भी वृत्तिहीन रहता है—यही कहना उचित होगा। चित्त-वृत्ति-निरोध रूप मुख्य योग यही है। गौण योग में एकाग्रता अवश्य रहती है। फिर बताता हूँ—लिङ्ग तटस्थ है—जब यह स्थूल से घिरा रहता है, स्थूल सहित एक साथ मिला होता है तथा स्थूल पर अवलम्बित होता है। उस समय जो क्रिया इसमें होती है, उसी से विषय ज्ञान उत्पन्न होता है। शुद्धि के पश्चात् जब लिङ्ग सूक्ष्मगत हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म पर अवलम्बित होकर सूक्ष्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, तब इसमें जो क्रिया होती है, उससे आत्म ज्ञान उत्पन्न होता है। आनन्दघन लिङ्ग निष्क्रिय एवं असत् कल्प है। अतएव विषय ज्ञान और आत्म-ज्ञान, दोनों के लिए ही लिङ्ग और मन की क्रियायें आवश्यक हैं। विषय-ज्ञान में भी किञ्चिद् आत्म ज्ञान अस्पष्ट भाव से रहता है परन्तु इतना अल्प कि पकड़ में ही नहीं आता। इसी प्रकार आत्मज्ञान में किञ्चिद् विषयज्ञान अस्पष्ट भाव से रहता है। वैषम्यावस्था में सूक्ष्म, लिङ्ग तथा स्थूल मिश्रभाव से रहते हैं—इनमें से जिसका भी प्राधान्य रहता है, वही विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। साम्यावस्था में लिङ्ग के निरालम्ब होने से उसमें क्रिया नहीं रहती और ज्ञान, चेतना आदि निरुद्ध रहते हैं। तब स्वभाव मात्र शेष बचता है। स्वभाव स्वतन्त्र एवं सुप्रतिष्ठ

है, शेष सभी पराधीन हैं। इस जगत् में कोई भी वस्तु आलम्बन के बिना खड़ी नहीं रहती—वह स्वभाव में घुल-मिल जाती है। इसीलिए जगत् में सब कुछ सापेक्षिक (Relative) है—केवल स्वभाव ही निरपेक्ष पूर्ण है। स्वभाव को प्राप्त करने के लिए ज्ञान, भक्ति और प्रेम—यही तीन सोपान हैं। बद्धावस्था का ज्ञान, वस्तुत: ज्ञान नहीं है, वह तो अज्ञान है। योग के प्रभाव से यह अज्ञान निवृत्त होता है और प्रज्ञा का उदय होता है अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक अभिन्न सत्ता का साक्षात्कार होता है। इसकी प्रथम अवस्था में भेद अभेद रहता है—अर्थात् उस समय जीवों में विषयों का भेद तथा उनकी अन्तरात्मा में अभेद रहता है। निश्चय ही दोनों ज्ञान के विषयीभूत होते हैं और इस अवस्था में सर्वगत लाभ होता है। किन्तु यह अवस्था भी आत्मदर्शन देने वाली नहीं होती। जब तक आत्मज्ञान का उदय न हो तब तक ज्ञानवृत्ति प्रतिहत अर्थात निरुद्ध रहती है। आत्मज्ञान हो जाने पर ही ज्ञान निर्मल और निर्बाध होता है। तब बहिर्निवेश रहने तक, आत्मभित्ति से, विश्वदर्शन जगत् के यावतीय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। क्रमश: अभेद-भाव प्रबल हो जाता है और आत्म बोध के विषय बोध से अलग हो जाने से स्वच्छता प्राप्त होती है। इस अवस्था में अन्य सभी ज्ञान को अभिभूत कर प्रधानतया आत्म ज्ञान ही विराजमान होता है। ध्यान, विषयों की ओर से हटकर आत्मा की ही ओर लगा रहता है यही अभेदावस्था है। एतत्पश्चात् अभेद बोध भी कट जाता है—यावतीय विकल्प तिरोहित होते जाते हैं और तब आती है भेदा भेद से अतीत अवस्था जिसमें न तो सर्वज्ञान रहता है और न ही आत्मज्ञान। अर्थात् यह सब अतिक्रान्त होकर लिङ्ग की क्रिया निवृत्त होती है, परमात्मा के साथ जीवात्मा का मिलन होता है। अन्तत: फलस्वरूप जो शेष रहता है, वह न तो ईश्वर है, न जीव है और न ही जड़। वह विशुद्ध चैतन्य या स्वभाव है। यह पूर्ण, शुद्ध सनातनी महाशक्ति है। यह है तत्त्वातीत तत्त्व, व्योमातीत व्योम, गुणातीत होने पर भी गुणमयी होने पर भी नित्य निर्गुणा और वह अव्यक्त, अचिन्त्य परम रहस्य स्वरूपा है। आत्मज्ञान के पश्चात् होती है भक्ति एवं प्रेम की चरमावस्था। यही स्वभाव प्राप्ति का इतिहास है।

ऐश्वर्य, जीवत्व तथा जड़त्व—इन सबके एकत्र समरस होने से एक विचित्र विलास का उद्‌भव होता है। इस विलास की आरम्भ सूचना मिलती है भक्ति से, और अवसान होता है प्रेम में। इसके परे ही स्वभाव है, जो वर्णनातीत है। स्वभाव स्वतन्त्र है, जिस पर आश्रित होने से यथार्थ स्वातन्त्र्य का लाभ होता है। ईश्वर, जीव और जगत्—ये सभी, महाशक्ति के क्रीड़ास्थल हैं। यह महाशक्ति जिसे जैसे भी चलाती है, वे सब वैसे ही चलते हैं। इस महाशक्ति के अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र नहीं।

जिज्ञासु—जब स्वभाव ही सबको चलाने वाला है तो फिर जीव का दायित्व ही क्या? जीव की शुभाशुभ सामर्थ्य कहाँ? तब दूसरे के किये हुए कर्म के लिए जीव को सुख-दुःख का भोग क्यों करना पड़ता है? इस प्रकार तो यह जीव उस प्रबल शक्ति का दास है और तब उसका कर्म फल भोग कहाँ तक उचित है?

योगिराज—वत्स, स्वभाव ही सबको चलाता है—इसमें भला क्या सन्देह? फिर भी एक बात है। जीव अभिमानवश अपने को कर्ता मान लेता है और इसीलिए उसे कर्म-फल भी भोगना पड़ता है। देहात्म बोध के कारण यह अभिमान भी अवश्यम्भावी है। जब देहात्मबोध नहीं रहेगा, चैतन्य व जड़ की ग्रंथि खुल जायगी, कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य हो जायगी, तब यह अभिमान नहीं रहेगा। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक अभिमान वृत्ति जड़ से नष्ट नहीं होती। लौकिक अभिमान छूटने पर भी, सर्वज्ञता एवं आत्मज्ञता का अभिमान रह जाता है। लौकिक अभिमान क्रियाश्रित एवं स्थूल सम्बन्ध मूलक है। किन्तु अलौकिक अभिमान ज्ञानाश्रित है और सुख सम्बन्धमूलक है। सुख दुःख का अनुभव व भोग, स्थूल देह में ही हो सकने के कारण स्थूल देह को भोगायतन कहा जाता है। स्थूल देह, अहंकार मूलक क्रिया का आश्रय स्थल है। अतएव क्रियाश्रित कर्त्तव्य-बोध होने से भोग का उदय होता है। सर्वज्ञता का अभिमान सगुण ब्रह्म में उदित होता है और आत्मज्ञता का अभिमान निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश के समय अर्थात् मुक्तिलाभ के समय उदित होता है। यह अलौकिक अभिमान क्रिया पर आश्रित नहीं होता, इसीलिए इसके फलस्वरूप सुख-दुःख बोध और भोग की उत्पत्ति नहीं होती। यह ज्ञानाश्रित विशुद्ध अहंभाव मात्र है। यही आत्मबोध का स्वरूप है। प्रचलित व्यवहार के अनुसार इसे आत्मबोध नहीं कहा जाता। आत्मबोध ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। किन्तु यह वृत्तिरूप ज्ञान है, जो वृत्तियों को एकाग्र करके आत्मा का अवलम्बन करके उदित होता है। वृत्ति को छोड़, ज्ञान और कुछ नहीं। इस वृत्तिज्ञान का निरोध होकर जब सर्ववृत्ति का उपशम होता है, तभी यथार्थ अभिमान निर्वृत्ति-रूप कैवल्य तथा साक्षिभाव की प्राप्ति होती है। तभी यथार्थ बोध का विकास होता है। चैतन्य के प्रकाश में, ज्ञान व अज्ञान के पार, स्वभाव की चालकता का भान होता है। अज्ञान के वश होने से ही जीव का दायित्व है; अज्ञान कट जाने पर फिर उसका दायित्व कहाँ? अज्ञान के वश प्रकृति के कर्तृत्व को जीव अपना लेता है और पुरुष के स्वरूपानुगत साक्षित्व फल के साथ रञ्जित होकर भोक्तृत्व रूप धारण करता है। दोनों ही वासना के जड़ हैं। जीव अपने को स्वभावाश्रित समझता है, स्व-भावस्थ होने का बोध करता है; तब उसका भी कर्तृत्व नहीं रहता और भोग भी नहीं रहता। जब तक अहंकार विगलित न हो जाय, तब तक शक्ति लगाने पर भी पाप-पुण्य से अतीत

नहीं हुआ जा सकता। जीव, स्व-भाव का दास है—इसमें सन्देह ही क्या है? प्रथमत: जीव परिच्छिन्न स्वभाव का दास है, जो कर्म संस्कारों की समष्टि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं और अन्तत: ज्ञानोदय होने पर जीव नित्य स्व-भाव का दास है—जो परमानन्द की अवस्था है।

जिज्ञासु—कार्य किस प्रकार होता है? स्थूल देह के बिना कार्य नहीं होता तथापि मात्र देह की कोई सामर्थ्य नहीं है।

योगिराज—स्थूल जड़ को लिङ्ग जैसे चलाता है, वह वैसे ही चलता है। किन्तु वास्तविक सञ्चालन शक्ति लिङ्ग में नहीं है, वह आत्मा में है। आत्मा की संचालन शक्ति लिङ्ग को चलाती है और लिङ्ग चलित होकर स्थूल देह को चलाता है। इस लिए लिङ्ग के आत्मा में मिल जाने पर स्थूल देह निश्चल हो जाती है। स्थूल देह के निश्चल हो जाने पर ज्ञानादि का आविर्भाव नहीं होता। आत्मगत लिङ्ग में स्पन्दन लेशमात्र होता है, उसके फलस्वरूप आत्मज्ञान क्रमश: आविर्भूत होता है। पुन: लिङ्ग के निस्पन्द होने के साथ ही आत्मज्ञान भी विलुप्त हो जाता है। यही वास्तविक योग समाधि है—चैतन्य स्थिति। तब जैसे अन्त:करण में क्रिया नहीं होती वैसे ही देह भी निष्क्रिय हो जाती है। देह में वायवीय क्रिया और प्राणक्रिया भी मूलत: लिङ्ग क्रिया सापेक्ष है।

इसीलिये वास्तविक समाधि-काल में देह शव-वत् स्थित होती है। चैतन्य समाधि, चिन्मय राज्य में प्रवेश के लिए द्वाररूपा है। जड़ समाधि वस्तुत: समाधि नहीं है। जड़ समाधि में चैतन्य स्थिति लाभ नहीं करता—जड़ प्रकृति में ही प्रतिबद्ध होकर निष्क्रिय की तरह वर्तमान रहता है।

जिज्ञासु—आपका उपदेश सुनकर अब मैं समझ रहा हूँ कि साधना योग के बिना नित्य पथ पर पदार्पण नहीं किया जा सकता। योगी न होने तक वास्तविक ज्ञानी और भक्त होना असम्भव होगा। जब चित्त को एकाग्र व निरुद्ध करने का कौशल ही योग है और चित्त की एकाग्रता आदि ज्ञान और भक्ति की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं, तब योग का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ेगा। योगहीन ज्ञान, ज्ञान नहीं है; वह शुष्क ज्ञान मात्र है। इसी प्रकार योगहीन भक्ति भी वास्तविक भक्ति नहीं है, वह तो भक्ति की छाया मात्र है। जब एक सामान्य वस्तु के तत्त्व का आविष्कार योग के बिना नहीं होता, तब सभी तत्त्वों से ऊँचे परमतत्त्व की उपलब्धि बिना योग के कैसे हो सकेगी? मैंने कुछ इसी प्रकार से आपका अभिप्राय समझा है। किन्तु समस्या यह है कि सम्प्रति योगानुष्ठान का अधिकारी कौन है? एवं योग साधना के निर्देशक आचार्य ही कहाँ हैं?

योगिराज—वत्स, योग में मनुष्य मात्र का अधिकार है। तथापि सबका अधिकार समान नहीं है—उत्तमादि के भेद से अधिकारी का तारतम्य है जो

जितना सह सके, उस पर उतना ही भार दिया जाता है। हाथी का भार यदि भेंड़ पर डाल दिया जाय तो भेंड़ पिस ही जायगी और भेंड़ का भार हाथी ग्रहण ही नहीं करेगा। अल्प अधिकारी को प्रथमतः अल्प ही अधिकार दिया जाता है और क्रमशः उसकी सामर्थ्य के अनुसार अधिकार बढ़ाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे संयम और नैतिक उत्कर्ष अन्य विषयों में आवश्यक हैं, वैसे ही वह योग पथ की उन्नति के भी नींव स्वरूप हैं। जो कहते हैं कि कलिकाल में जीव का योग में अधिकार नहीं, वे योग के रहस्य को नहीं जानते। प्रचलित संस्कारों के कारण वे दैहिक व्यायाम और वायु की क्रिया विशेष (प्राणायाम) को ही योग समझ बैठते हैं। इसीलिए यह समझकर कि योग से रोग होने की सम्भावना है वे योग को व्यर्थ कहते हैं। यह धारणा भ्रान्त है। जिस योग से भवरोग चिरकाल तक के लिए शान्त हो जाता है, उससे रोगोत्पत्ति की शङ्का करना क्या हास्यास्पद नहीं है?

योग के उपदेशक सद्गुरु के अभाव के कारण ही योग के सम्बन्ध में ऐसी निर्मूल और भ्रान्त धारणा व्याप्त हो रही है। आजकल घर घर में योगी दिखाई पड़ते हैं। इन सब अभिमानी गुरुओं के यथारुचि मौखिक उपदेशों और लिखित ग्रन्थों से ही देश की दुर्गति हो रही है। ध्यान रखना, सच्चे योगी बहुत ही कम हैं। करोड़ों मनुष्यों में से भी एक सच्चा योगी ढूँढ निकालना अत्यन्त दुष्कर है। जो साक्षात् महाशक्ति से युक्त होकर सर्वशक्ति सम्पन्न हुए हैं, जिन्होंने उन्हीं के आदेश से जगदुद्धार का व्रत लिया है, वे ही योगी हैं। अन्य तो नाम मात्र के योगी हैं।

जिज्ञासु—आपने जो कहा, उससे योग का अनुष्ठान असम्भव सा प्रतीत होता है क्योंकि आपके आदर्श के अनुरूप योगी महापुरुष संसार में विरल ही हैं। छद्म वेष या सूक्ष्म भाव से विचरण करते हुए योगी-सिद्ध-पुरुषों को जब तक हम देख या पहचान न सकें तब तक उनके रहने पर भी हमें तो कोई लाभ नहीं।

योगिराज—महापुरुष का आश्रय ग्रहण कर, उनकी शक्ति से सञ्जीवित होकर उन्हीं द्वारा प्रदर्शित पद्धति के अनुसार साधना करने पर, सिद्धि लाभ अवश्य होता है। सिद्ध पुरुष के आश्रय बिना, केवल ग्रन्थ पाठ अथवा धर्मव्याख्या सुनकर साधना में प्रवेश नहीं करना चाहिए। इसलिए कठिन होने पर भी महापुरुष का आश्रय ग्रहण सर्वथा अनिवार्य है।

*

चतुर्थ अध्याय

साधना का मूल—महापुरुषाश्रय

जिज्ञासु—महापुरुष किसे कहते हैं? महापुरुष की शरण तो लेनी ही पड़ेगी किन्तु उनकी पहचान क्या है? क्या ऐसा कोई लक्षण है, जिससे महापुरुष को जानने में धोखा न हो? आजकल बाह्याडम्बर इतना अधिक है कि साधारण जन इस विषय में धोखा खा जाते हैं। बाबा, कृपया इस सम्बन्ध में अपना विचार अवगत करायें।

योगिराज—वत्स, क्या भ्रमर को पुष्प-विकास की सूचना देनी पड़ती है? जो स्वभाव में स्थित रहना चाहता है, स्वभाव ही उसको शिक्षा देता है। हम लोग स्वभाव को भूल कर ओछेपन में फँस गए हैं। इसीलिए जो सर्वथा सहज है, वह भी कठिन प्रतीत होता है। जब तक बनावट (कृत्रिमता) है, तभी तक लक्षण जानने की आवश्यकता है, अन्यथा नहीं। शिशु निज जननी को स्वभावतया ही पहचान जाता है। निर्मल मन वाला स्वयं ही जान लेता है कि कौन उसे प्यार करता है। इसके लिए किसी विचार विमर्श की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार फूल, खिलने की ऋतु आने पर स्वयमेव खिल जाता है और पक्षी, समय आने पर स्वतः गाने लगते हैं, वैसे ही स्वभाव प्रत्येक स्थिति में प्रेरक और परिचालक है, उसके लिए किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। जो जिस वस्तु के लिए तीव्र भाव से व्याकुल है, जिसे न पाने तक उसे चैन नहीं, सोने, जागने और स्वप्न में भी वह जिसकी प्रतीक्षा में रहता है; उस वस्तु के मिल जाने पर, उसे उसकी पहचान करने की आवश्यकता नहीं रहती। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के साथ ही, वह उसे पहचान भी जाता है। ठीक इसी प्रकार, जब जीव को आश्रय की आवश्यकता होती है और जब वह सचमुच ही महापुरुष के आश्रय के लिए अधीर हो उठता है, तब महापुरुष उसे अवश्य ही दर्शन देते हैं। महापुरुष को देखते ही, वह उन्हें अपने आश्रयदाता के रूप में असन्दिग्ध रूप से जान जाता है। उन्हें लक्षण की सहायता से नहीं पहचानना पड़ता। शुद्ध वस्तु स्वभाव सिद्ध है। वास्तविक परिचय तो स्वाभाविक ही है। बाह्य लक्षणों के आधार पर पहचान का प्रयत्न धृष्टता मात्र है।

जिज्ञासु—तब क्या लक्षण शास्त्र व्यर्थ है? क्या आपका मन्तव्य यह है कि बाह्य लक्षण मिलाना निरर्थक है? सत्य और असत्य के सादृश्याभास के कारण अनेक लोग असत्य को ही सत्य मान लेते हैं और धोखा खा जाते हैं। लक्षणों के समुचित ज्ञान से वे सत्य को पहचान लेते और धोखा न खाते।

योगिराज—देखो, लक्षण शास्त्र व्यर्थ नहीं है। मैं केवल यह बताना चाहता हूँ कि जिस समय जिसको जिस वस्तु की यथार्थत: आवश्यकता होती है, वह उस वस्तु को अन्त:करण से ही समझ लेता है, किसी अन्य को समझाने की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु जब तक समय नहीं आता, तभी तक नाना प्रकार के कृत्रिम उपायों की सहायता से समझने की चेष्टा होती है। ज्ञान के उचित अवसर के उपस्थित हो जाने पर सरल हृदय को कोई धोखा नहीं होता। यदि तुम अपने अन्त:करण से असद्भाव, कुटिलता, प्रवञ्चना और बुरे विचारों को निकाल दो, तब तुम स्वयं समझ सकते हो कि इस संसार में कोई भी तुम्हें नहीं ठग सकता। जिसके मन में हिंसा है, वही डरता है और उसी में हिंसा का प्रकाश होता है। जो स्वयं ही जगत् का अभयदाता है उसे किसका भय? जिसके भीतर अचल कमल की भाँति प्रेमतत्त्व स्थिर हो गया है उसके निकट तो हिंसक जीवों-सिंह, व्याघ्र, सर्पादि की भी हिंसावृत्ति लुप्त हो जाती है। वे भी प्रेम के वशीभूत होकर नाना भाव से प्रेम प्रदर्शित करते हैं। मैंने अपने व्यक्तिगत जीवन में सहस्रों बार इसका अनुभव किया है और अधिकारानुसार अनेक जिज्ञासुओं को प्रत्यक्ष दिखा चुका हूँ। तुम स्वप्न में भी किसी को धोखा मत दो, कोई तुम्हें भी नहीं ठग सकेगा। धोखा से बचाव का मात्र यही उपाय है। जीव जब सांसारिक दु:खों से व्याकुल हो जाता है और अपने सम्पूर्ण अन्त:कालुष्य को अश्रुजल से प्रक्षालित कर, सरल हृदय से व्यग्रतापूर्वक आश्रय की याचना करता है, तब निश्चय ही वह आद्याशक्ति महापुरुष के रूप में अभयाश्रय देने के लिए उसके समक्ष प्रकट होती है। उस समय उसे संसार की कोई भी शक्ति धोखा नहीं दे सकती। परन्तु चित्त में मलिनता रहने तक, परीक्षा द्वारा उसे शुद्ध करने हेतु नाना प्रकार के इन्द्रजाल का आविर्भाव होता रहता है। फिर भी समय आने पर धोखा खाने की आशंका नहीं रह जाती। क्योंकि ठगने वाली माया स्वयं ही माँ के समान उसके कल्याण हेतु महामाया का रूप धारण करती है और संसार के असीम दु:खों की ज्वालाओं से जलते हुए व्याकुल जीव रूपी शिशु को अपनी शीतल सुखद गोद में बैठाकर उसके दु:ख को हर लेती है।

जिज्ञासु—तो क्या बाह्य लक्षणों से उसे नहीं पहचाना जा सकता?

योगिराज—क्यों नहीं? जो ज्ञानी है, वह उसे अवश्य पहचान लेता है। परन्तु यह आसान नहीं है। यदि महापुरुष स्वयं अपना परिचय न देना चाहें अथवा पकड़ में न आना चाहें तो लक्षणों द्वारा उन्हें पहचानने की किसी में सामर्थ्य नहीं और तब वे लक्ष्य होते हुए भी अलक्ष्य होते हैं। वे अपने को छिपाकर रखना चाहें तो भी उन्हें कोई नहीं पहचान सकता। देखते हुए भी वे दिखाई नहीं पड़ते। हाँ, यदि वे स्वयं ही पकड़ में आना चाहें तो जीव उन्हें जिस रूप में पहचान ले, वे उसी रूप में प्रकट हो जाते हैं। तब लक्षण न जानने पर भी जीव उन्हें पहचान लेगा।

वस्तुतः प्रयत्न अथवा कौशल पूर्वक महापुरुष को पहचानने की चेष्टा हवा को पकड़ने के समान हास्यास्पद है। यदि ऐसा सम्भव होता तो अवतारादि को सभी लोग आसानी से पहचान लेते। कोई मतभेद होता ही न। किन्तु क्या ऐसा कहीं हो सका? तुम तो इतिहासज्ञ हो, स्वयम् इसे समझ सकते हो।

यदि महापुरुष बाह्यतः जड़वत्, उन्मत्तवत् एवं पिशाचवत् आचरण करें तो तुम्हारा ज्ञान क्या इतना उन्नत है कि तुम बाहरी दिखावे के भीतर छिपे महापुरुष के सामान्य और नित्य भास्वर रूप को पहचान पाओ। ज्ञानचक्षु न प्राप्त होने तक किसी भी वस्तु का असली स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता। जो अज्ञानी हैं, वे महापुरुष को कैसे पहचानेंगे जबकि वे स्वयं को ही नहीं पहचान पाते? यदि बल, दैहिक लक्षण, व्यवहार और आचार द्वारा कोई अज्ञानी किसी महापुरुष को पहचानने का प्रयत्न करे, तो प्रकट होने की अनिच्छा वाला महापुरुष अपने अंगों में यदि इन लक्षणों को प्रकट ही न होने दे तब पहचान का क्या उपाय होगा? महापुरुष व्यवहार और आचार के दास नहीं हैं। उनका कोई एक निर्दिष्ट आचार नहीं—वस्तुतः वे विधि-निषेध से परे हैं। वे स्वाधीन तथा लीलावपु होते हैं। उनके भावों में प्रविष्ट होकर उनके वास्तविक स्वरूप को समझ लेना क्या सहज है?

फिर भी एक बात है। जब वे सहज भाव में हों अर्थात् किसी के प्रति अनुकूल वा प्रतिकूल भाव में स्थित न हों, तब उन्हें लक्षण द्वारा पहचाना जा सकता है।

ये लक्षण केवल स्थूल देह में ही मिलते हों, ऐसा नहीं, स्थूल, लिङ्ग और कारण, सभी शरीरों में मिलते हैं। किन्तु साधारण जन के लिए स्थूल देह से अतिरिक्त वस्तु के लक्षणों से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। हाँ, साधना-शक्ति से अपनी सत्ता का विकास होने पर क्रमशः सूक्ष्मतर और विशुद्धतर लक्षण पहचान में आने लगते हैं और तदनुसार सिद्धान्त की स्थापना हो सकती है।

जो इच्छा मात्र से दूसरे के लिङ्ग शरीर को देखने के अभ्यस्त हैं, वे लिङ्ग देह की गति, वर्ण आदि की विशिष्टता को देखकर लिङ्ग शरीर वाले जीव की आध्यात्मिक उन्नति के स्तर को समझ सकते हैं। वे लिङ्ग शरीर से ही उस जीव के विषय में सब कुछ जान सकते हैं। किन्तु महापुरुष लिङ्गातीत और कारण देह से भी परे हैं। इसलिए जिनकी कारण देह और महाकारण देह तक देखने की क्षमता है, वे ही स्वयं लिङ्गातीत होकर महापुरुष को पहचानने और उनके दर्शन करने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु साधारण जीव तो स्थूल के बाद की किसी भी अवस्था का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, इसीलिए स्थूल अवस्था के बाद की जो लिङ्ग और कारण अवस्थायें हैं, उनकी विशिष्टता का ज्ञान उसके लिए सम्भव नहीं। इसलिए वह तो स्थूल लक्षणों द्वारा ही महापुरुष को पहचानने की चेष्टा कर सकता है।

जिज्ञासु—मनुष्य जब सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब क्या उसकी देह में किसी विशेष परिवर्तन या लक्षण का प्रकाश होता है? यदि हाँ तो क्या उनके द्वारा पहचानने में कुछ सहायता मिलती है?

योगिराज—तपश्चर्या द्वारा देह में आमूल परिवर्तन हो जाता है यहाँ तक कि देह के परमाणु तक बदल जाते हैं। जिसकी भूत शुद्धि हो चुकी हो, उसकी स्थूल देह भी साधारण लोगों की स्थूल देह से भिन्न हो जाती है। बार-बार उसका संग करना चाहिए-दीर्घकाल तक संग करने से भूत-शुद्ध पुरुष की देह में अनेक अलौकिक लक्षण दिखाई पड़ते हैं। देखो, जिसकी कुण्डलिनी चैतन्य हो गई है; जिसे सिद्धि या योग लाभ प्राप्त हो गया है, उसकी दृष्टि में एक विशेषता होती है। इस विशेषता द्वारा एक चित्र (फोटो) से भी यह जाना जा सकता है कि उसे योग-सिद्धि हुई है या नहीं। आँखें देखने मात्र से योगी, भोगी और रोगी मालूम पड़ जाते हैं। योगी का ललाट भी परिवर्तित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिसकी कुण्डलिनी जागृत हो गई और सुषुम्ना नाड़ी क्रियाशील हो गई हो, उसकी देह से सदा पद्म गन्ध निकलती है तथा उसकी श्वास भी पद्म-सुरभि से युक्त होती है। उसकी नाभि के नीचे कोई पात्र रखकर यदि नाभि पर जल डाला जाय तो नाभिस्पर्श से वह जल इत्र के समान सुगन्धित होकर उस पात्र में एकत्र हो जायगा। योगी सामान्यतया नासिका से श्वसन क्रिया नहीं करता। इतना ही नहीं, वह तुम लोगों की तरह बार-बार साँस नहीं लेता। बाहर की हवा में से केवल विशुद्ध अंश को वह अपनी नाभि द्वारा ग्रहण करता है और मलांश को छोड़ देता है। वह गृहीत निर्मल वायु ही उसके शरीर के भीतर बहुत समय तक रहती है, अन्दर ही घूमती-फिरती है। इसीलिए योगी बाहर के भावों से प्रभावित नहीं होता। चित्त में विभिन्न वृत्तियों का उदय और काम-क्रोधादि भावों का सञ्चार, ये सभी चित्त के साथ बाह्यवायु के संघर्ष के फल हैं। जिन्होंने बाह्यवायु के साथ सम्बन्ध पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है, उनका निर्विकारत्व और एकाग्रत्व किसी भी प्रकार नष्ट नहीं होता। बाह्य जगत् के साथ व्यवहार करने पर भी वे विषयों में लिप्त नहीं होते। बाह्य वातावरण उनके अन्तरालय में प्रविष्ट नहीं हो पाता। योगी की देह सिद्ध देह है। उनकी सामर्थ्य अत्यधिक है। वे इच्छामात्र से अपना शरीर संकुचितकर, परमाणु सदृश बनाकर अदृश्य हो सकते हैं और उसका विस्तार कर विराट् आकार धारण कर सकते हैं। इसे ही तुम अणिमा और महिमा कहते हो। केवल शरीर ही क्यों? वे शरीर के किसी भी अवयव या बाह्य वस्तु को छोटा बड़ा कर सकते हैं। इसी प्रकार वे शरीर को हल्का या भारी कर सकते हैं। वे देह को गीली मिट्टी के समान मुलायम कर सकते हैं और शरीर की सन्धियों (जोड़ों) को विघटित कर सभी अंगों को क्रमशः पृथक् पृथक् कर सकते हैं। नाभिरन्ध्र अथवा रोम-कूप द्वारा किसी भी बाह्य पदार्थ (चाहे वह

कितना भी भारी क्यों न हो) को आकर्षित कर अपनी देह में प्रविष्ट करा सकते हैं। वे एक ही प्रकार की बहुत सी देहों में एक ही समय में अलग अलग स्थानों पर प्रकट हो सकते हैं। योगी किसी भी दीवार या ठोस वस्तु को भेद कर पार जा सकता है। योगी के शरीर में इतनी अधिक विद्युत् संगृहीत होती है कि यदि सर्प, बिच्छू आदि जीव उसे काटने का प्रयत्न करें तो उसके प्रभाव से आप ही काल के ग्रास बन जाते हैं। यह तो योगी की इच्छा से न होकर स्वत: स्वभावतया होता है। विषधर का तीव्र विष भी योगी के शरीर पर प्रभाव नहीं डाल सकता। उसके दैहिकतेज से संघर्ष कर वह नष्ट हो जाता है। काटने पर सर्पादि स्वयं मर जाते हैं। ऊँचाई से सहसा गिरने पर भी योगी का शरीर पृथ्वी तक नहीं पहुँचता क्योंकि उसकी देह में जो निर्मल वायु होती है वह ऊर्ध्वगति होती है। गिरने के समय चञ्चल हो जाने पर वह स्वयमेव शून्य पथ में ऊपर की ओर उठने लगती है। योगी के नेत्रों में इतना तेज होता है कि वे यदि क्रोध से किसी को देख लें तो वह तत्क्षण भस्म हो जाता है। कठोर पत्थर और लोहा भी टूक-टूक हो जाता है। छोटे छोटे बालक बालिकायें अखण्ड ब्रह्मचारी योगी की आँखों में अनेक देवी-देवताओं के दर्शन करते हैं। गम्भीर भाव से ध्यानस्थ होने पर योगी के शरीर से तजोरश्मिपुंज नि:सृत हो चतुर्दिक् विकीर्ण होने लगता है। यहाँ तक कि गुफादि के अन्धकार में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो जाता है। योगी के ऐसे इतने लक्षण हैं कि सबका वर्णन सम्भव ही नहीं है। योगी निर्भीक, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण और मधुर प्रकृति के होते हैं। जो कुछ भी हो, इन सब लक्षणों के ज्ञान से महापुरुष को पहचानने में सहायता तो अवश्य मिलेगी परन्तु मात्र इन्हीं लक्षणों से उन्हें ठीक-ठीक पहचाना जा सके-ऐसा नहीं। इन लक्षणों को न देख पाने से यह समझ लेना कि "यह महापुरुष नहीं है"—उचित नहीं है।

जिज्ञासु—बाबा, बौद्धादिकों के ग्रन्थों में महापुरुष के बत्तीस लक्षण और चौरासी अनुव्यञ्जनों का वर्णन है। किन्तु वे सब बाह्य चिह्न हैं। तन्त्रशास्त्र और लक्षण ग्रन्थों में भी महापुरुष के चिह्नों का वर्णन है। तथापि वास्तविकता यह है कि अपनी दृष्टि का विकास और हृदय की सच्ची व्याकुलता ही महापुरुष की पकड़ का प्रधान उपाय है। जो भी हो; महापुरुष के आश्रय-ग्रहण की नितान्त आवश्यकता पर जो आप इतना बल देते हैं, इसका क्या अर्थ है? क्या यही गुरु बनाना है? गुरु की सहायता बिना क्या जीव धर्मपथ में आगे नहीं बढ़ सकता?

योगिराज—नहीं, गुरु द्वारा जीव में जब तक गुरु शक्ति का सञ्चार न हो जाय तब तक जीव किसी प्रकार के आध्यात्मिक कर्म का अधिकारी नहीं होता, वह मुक्ति की ओर नहीं बढ़ पाता। गुरु प्रदत्त शक्ति ही साधना का मूलधन है।

जिज्ञासु—इसका कारण क्या? गुरु न बनाने तक धर्मजीवन में क्यों नहीं प्रवृत्त हुआ जा सकता? अपनी उन्नति के लिए दूसरे पर निर्भर होने की

आवश्यकता क्यों ? यह बात विचित्र सी लगती है। जगत् में कितने ही श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं जो 'गुरुवाद' को स्वीकार नहीं करते किन्तु उन्होंने भी आध्यात्मिक उन्नति की है। ईश्वर के साथ क्या सभी जीवों का सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता ? गुरु की मध्यस्थता स्वीकार करने से नाना प्रकार के दोषों की सम्भावना हो सकती है। पोप की अधीनता से कैथोलिक समाज की जो दुर्गति हुई है, हमारे देश में 'गुरुवाद' के प्रभाव से वैसा ही या उससे भी अधिक अपकार हुआ है यह आपको मानना पड़ेगा। विवेकवान् विचारशील मनुष्य दूसरे के अधीन क्यों रहे ?

योगिराज—वत्स, तुम अभी बच्चे हो, इसलिए शीघ्र ही बहक जाते हो। किसी भी बात को गहराई से नहीं सोचते। मैंने गुरु और कृपा के विषय में अब तक जो कुछ कहा है, उसे यदि तुम अच्छी तरह समझने की चेष्टा करते तो यह प्रश्न ही न करते। तुम्हारी सब शंकाओं का समाधान मैं एक प्रकार से कर ही चुका हूँ। फिर भी विषय के जटिल होने से, उसे दूसरी तरह समझाता हूँ। गुरु न बनाने तक धर्म जीवन का लाभ नहीं होता-यह सर्वथा सत्य है। विशुद्ध आधार में प्रकाशमान चित् शक्ति की सहायता के बिना, जड़त्व से घिरा हुआ जीव, किस प्रकार आवरण कटाकर चैतन्यमय स्वरूप की उपलब्धि कर सकेगा ?

यह तो सत्य है कि जो ईश्वर में है, वही जीव में भी है किन्तु ईश्वर में वह शक्ति प्रकटतया कार्य करने में समर्थ और अभिव्यक्त है। जीव में वही शक्ति अव्यक्त, निष्क्रिय और जड़त्व-भार से शिथिल (अवसाद ग्रस्त) है। जीवशक्ति भी चित् शक्ति ही है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह अविद्या ग्रस्त है। उसे प्रबल करने के लिए बाहर से उसी प्रकार की शक्ति आकृष्ट कर उसके द्वारा इसे बल देना पड़ेगा। इस शक्ति की संज्ञा है—'कुल-कुण्डलिनी शक्ति'। यह शक्ति बद्ध (मायाग्रस्त) जीव में प्रसुप्तावस्था में वर्तमान है, इसे गुरुकृपा, क्रिया-कौशल आदि किसी भी उपाय से जगाना है। तभी धर्म जीवन प्रारम्भ होगा। कुण्डलिनी के सुप्त रहने तक जीव बँधा रहता है और उसके जागने पर जीव की मुक्ति हो जाती है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि सुप्त रहती है, उसी प्रकार जीव के शरीर में कुण्डलिनी सुप्त रहती है। काष्ठ में अन्तर्निहित अग्नि को चैतन्य (प्रकट) करने के दो उपाय हैं—

१. दो काष्ठ-खण्डों को परस्पर तीव्र घर्षण कराने से उनमें छिपी अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है।

२. बाहर से अग्नि लाकर उस काष्ठ-खण्ड को जलाया जाय। यदि काष्ठ के अन्दर अग्नि की सत्ता न होती तो बाहर की अग्नि का उस पर कोई प्रभाव न पड़ता और उसमें ज्वलन क्रिया न होती। बाहर की अग्नि अभिव्यक्त है। प्रकाश-काल आने पर बाहर की अग्नि के संसर्ग से इस काष्ठ में छिपी हुई अग्नि व्यक्त हो प्रकाश देने लगी—यह है सत्सङ्ग की महिमा और सत्सङ्ग का फल। जो चेतन

हैं, उनके संसर्ग में आने से अचेतन भी चेतन हो जाते हैं। अचेतन में अव्यक्त रूप से जो चेतन स्थित है, वह बाह्य चेतन के संसर्ग से प्रकट होता है। जिसमें अव्यक्त रूपमें भी चेतनता नहीं है, वह चैतन्य के संसर्ग से भी चेतन नहीं होगा।

चेतन के अभिव्यक्त रूप को ही 'गुरु' कहते हैं। जीव के अन्दर अवस्थित विशाल चैतन्य को बाहर करने के लिए ही गुरु की आवश्यकता है। एकमात्र गुरु ही उस अव्यक्त चैतन्य को व्यक्त कर सकते हैं। मनुष्य में सत्वगुण का एक विशेष विकास है—चाहे वह कितना भी छिपा हो। अतएव मनुष्य का वह छिपा हुआ अव्यक्त चैतन्य विकास करने योग्य है।

मनुष्येतर निम्न योनियों के जीवों में सत्त्व गुण की यात्रा मन्दभावापन्न है अर्थात् उनकी विचार शक्ति और विवेक शक्ति विकसित नहीं हो पाई है। स्थावर जीवों का सत्त्वभाव तो सर्वथा तमोगुण से आच्छन्न है, इसलिए उसकी बात ही छोड़ दो।

यही कारण है कि गुरु शक्ति का सञ्चार केवल मनुष्य-देह में ही होता है। इसीलिए मानव-देह की इतनी महिमा है।

जिज्ञासु—जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि दो तरह से प्रज्ज्वलित की जा सकती है, उसी प्रकार जीव में सुषुप्त प्राणशक्ति भी दो प्रकार से जागृत की जा सकती है—बाह्य-गुरु-शक्ति द्वारा अथवा आन्तरिक संघर्ष द्वारा। इसमें प्रथम तो हुई गुरु-कृपा और द्वितीय हुआ उद्यम या पुरुषार्थ। उद्यम का जो मार्ग है क्या उस पर बिना गुरु के नहीं चला जा सकता?

योगिराज—देखो, पुरुषार्थ में ईश्वरीय शक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—'पौरुषं नृषु'। पुरुषार्थ ईश्वर की ही विभूति है। पुरुषार्थ और गुरु कृपा परस्पर सहायक हैं—एक के बिना दूसरा कार्य नहीं कर सकता है। यह बात मैं तुम्हें बता चुका हूँ। तथापि जिसे हम कृपा कहते हैं उसमें कृपा की प्रधानता और पुरुषार्थ की गौणता होती है और पुरुषार्थ में पौरुष का प्राधान्य और कृपा का गौणभाव रहता है—यही भेद है। अव्यक्त शक्ति से कोई कार्य नहीं सधता। कार्य की सम्पन्नता हेतु शक्ति को जागृत करना ही पड़ेगा। चित् शक्ति के जागृत होने पर उसी की संज्ञा ईश्वर शक्ति या विभूति हो जाती है। चित् शक्ति के सुप्त रहने पर बद्ध (कैद) जीव-शक्ति ही कार्य करती है—यही है जड़-शक्ति। इन्द्रिय, मन, प्राणादि इस जड़ शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। जड़-शक्ति की परिधि से चित्-शक्ति भी आ जाती है, यह बात मैं पहले भी बता चुका हूँ। वस्तुतः जड़-शक्ति, चित्-शक्ति की विक्षिप्त व आच्छन्न अवस्था मात्र है। इन्द्रियादि के नियन्त्रण और अन्तःकरण की निवृत्ति होने पर एकाग्रता की पूर्णता प्राप्त होती है। तत्पश्चात् चित्-शक्ति जाग उठती है। जब वह फिर सो जाती है तब इन्द्रियादि पुनः सक्रिय होते हैं। क्षणमात्र के लिए भी चेतना का स्फुरण होने से वासना और संस्कार नष्ट

हो जाते हैं। घनाच्छन्न सूर्यवत् चित् शक्ति धुँधली-सी चमकती है तथा उसी में अविद्या पर्याप्तरूपेण नष्ट होती है। यह स्थिति उषःकाल में तमोनिवृत्ति जैसी होती है। तत्पश्चात् ज्ञान-रवि के उदय होने पर सब आवरण कट जाता है, तनिक भी नहीं बचता। योग के लिए जो भी अनुष्ठान किये जाते हैं, वे सभी पुरुषार्थ या कर्म हैं। किन्तु कृपा बिना, मात्र उद्यम से सिद्धिलाभ नहीं होता। पुरुषार्थ तभी तक है, जब तक अहङ्कार है। कृपा होने पर अहङ्कार निवृत्ति होती है और शान्ति का आगम होता है। कृपा न होने तक, अहङ्कार की स्थिति बनी रहती है और तब तक कर्म की भी निवृत्ति नहीं होती। अपनी छाया दौड़कर नहीं लाँघी जा सकती वैसे ही कृपा रूपी नाव न मिलने तक शुष्क उद्यम (पुरुषार्थ) से कर्म-निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग का मूल है—पुरुषार्थ, उसी प्रकार निवृत्ति मार्ग का मूल है—कृपा। पुरुष जब आद्या शक्ति (स्वभाव) का आश्रय लेता है तब पुरुषार्थ के बिना ही कार्य होता है। तब प्रकृति ही सब कुछ करती है, पुरुषार्थ और चेष्टा तब नहीं रहते। पुरुष उदासीन और निश्चेष्ट रहकर प्रकृति की क्रिया का दर्शनमात्र करता है। यह प्रकृति का आश्रय ग्रहण ही अहंकार त्याग की नींव है और यही कृपा मार्ग का आरम्भ भी है। आश्रय-ग्रहण, शरणागति और निर्भरता के बिना कृपा की प्राप्ति नहीं होती। कृपा बिना अभिमान रहित होकर शरणापन्न भी नहीं हुआ जाता। श्रद्धा और भावना-विहीन अनुष्ठान को त्याग कर सरल स्वाभाविक पथ को अपनाना चाहिये। सहज मार्ग पर न चलने से स्वभाव या स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती। परन्तु स्वभाव का आश्रय न होने तक श्रद्धा और भावना विहीन कर्म भी श्रेयस्कर है। किन्तु तब तक यहाँ विकार अवश्य रहेंगे। गुरु-चरणों का आश्रय ग्रहण करना ही स्वाभाविक पथ का अवलम्बन है। नदी का प्रवाह समुद्र की ही ओर होता है, उसमें नाव तैरा देने से वह अनायास समुद्र तक पहुँच जायगा। उसी प्रकार अन्तः को प्रभावित करने वाली जाग्रत चित्-शक्ति के आश्रय से जीव, चैतन्य-सागर तक पहुँच जायेगा। अहंकार की पूर्ण-निवृत्ति तक पुरुषार्थ आवश्यक है। अहंकार जिस मात्रा में कम होगा उसी अनुपात में पुरुषार्थ भी कम लगेगा।

अतएव पुरुषार्थ करने पर भी प्रकृति (अर्थात् कृपा) का आश्रय लेना ही पड़ता है। यदि प्रकृति अवलम्ब न दे तो जीव की सामर्थ्य नहीं कि वह आगे बढ़ सके। शृंखलापिहित कपाट वाले द्वार को प्रकृति ही अनावृत कर सकती है अर्थात् ईश्वरशक्ति (नारायण-नारायणी) की शक्ति के बिना काम नहीं बनेगा। पुरुषार्थ द्वारा द्वार तक पहुँचना सम्भव हो सकता है किन्तु प्रवेश नहीं। हाँ, द्वार तक पहुँच कर मस्तक नीचे करने मात्र से ही द्वार में प्रवेश सुलभ हो जाता है।

पुनः कृपा मात्र से ही इष्ट-सिद्धि नहीं होती, जब तक उनके साथ पौरुष भी न हो। कृपा के रूप में ईश्वर शक्ति के पूर्णतः प्रकट होने पर भी बद्ध जीव

की शक्ति—पौरुष—यदि कृपा से युक्त न हो तो फल सिद्धि नहीं होती। जीव को कम से कम मात्रा में कृपा ग्रहण और धारण करनी चाहिये, यह भी उसकी शक्ति या पौरुष पर निर्भर है। हम जिसे प्रार्थना कहते हैं, वह भी पौरुष ही है। कम से कम उतनी स्वेच्छा और पौरुष तो जीव के लिए अति आवश्यक है कि जिससे वह प्रार्थना कर सके और महाशक्ति तक अपना कष्ट निवेदित कर सके अन्यथा कृपा का कोई फल नहीं होगा।

तब भी एक बात है। तीव्र पुरुषार्थ करने से कृपा स्वयमेव आती है। स्वतः ही आश्रय ग्रहण हो जाता है। जो तीव्र पुरुषार्थ करते हैं, उन पर कृपा अवश्य होती है। कृपा प्राप्त होने पर पौरुष की भी अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। तीव्र कृपा होने पर आवश्यक पुरुषार्थ भी जीव में स्वतः आ जाता है, जितने से कि वह कृपा ग्रहण-धारण कर सके। उपर्युक्तानुसार यदि गुरु शक्ति दें तब, प्रथमतः जीव की स्थिति के अनुसार, उसके हृदय में स्वेच्छा और कर्म प्रकट होते हैं। फिर कर्म और पौरुष की निवृत्ति के पश्चात् इच्छा की भी निवृत्ति होने पर शान्ति का उदय होता है।

यदि किसी के अन्तःकरण में भला बनने की, कल्याण की और मुक्ति की इच्छा उत्पन्न हो तो इसे ईश्वर कृपा का ही निदर्शन समझो। यदि हमारे ऊपर ईश्वर-कृपा न हो तो, न उन्हें पाने की इच्छा हमारे मन में होगी, न आत्म-जिज्ञासा होगी और न ही शुभकार्य में प्रवृत्ति होगी। यह सब उनकी कृपा उसके पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही फल है। कितने जन्मों का ही निदर्शन समझना चाहिए। इस प्रकार की कृपा का प्रभाव यदि किसी के ऊपर लक्षित हो तो यह निश्चित ही समझो कि यह कृपा का परिश्रम, कितनी व्याकुलता, कितनी तीव्र आकांक्षा और सोत्कण्ठ वेदना तथा न जाने कितना निःशब्द अश्रुपात हुआ है, तब कहीं जाकर फल स्वरूपतः यह कृपा प्राप्त हुई है। वर्षा होती देखकर क्या तुम्हें यह भान नहीं होता कि इसके पूर्व कितनी असह्य गर्मी पड़ी होगी? सहसा अकारण कोई घटना नहीं घटती। यदि किसी पर कुछ ही दिनों में कृपा हो जाय और किसी पर आजीवन कठिन साधना करने पर भी कृपा न हो तो यह न समझ बैठो कि इसका कोई कारण नहीं। जिस पर कुछ दिन में कृपा हो गई है, वस्तुतः उसने अपने पूर्व जन्मों में उग्र और कठिन तप किया है, यह ज्ञान दृष्टि से निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है। दूसरा जो जीवन पर्यन्त घोर परिश्रम करने पर भी कृपा नहीं प्राप्त कर पाता, उसको अभी और तपस्या करनी शेष है—ऐसा समझो। इसमें कहीं, कुछ भी असत्य एवं वञ्चना नहीं है।

कोई अल्पायु में ही वैराग्य धारण कर लेता है और किसी को वृद्धावस्था पर्यन्त तृष्णा नहीं छोड़ती। इस विषय में यह निश्चित समझो कि वह वैराग्यवान् बालक होने पर भी वृद्ध है क्योंकि वह प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति की ओर उन्मुख

हो गया है और दूसरा विषयलोलुप अभी बालक ही है क्योंकि अभी तक उसकी विषय-तृष्णा नहीं मिटी तथा वह निवृत्ति पथ का अनुगामी नहीं हुआ। वह बालक तो शीघ्र ही मुक्त होकर संसार मण्डल से ऊपर चला जाएगा क्योंकि उसकी संसार-यात्रा प्राय: शेष हो गई है। उसकी तृष्णा भी समाप्त प्राय है और विषय लिप्सा शिथिल पड़ गयी है। वह प्रकृति के अनुकूल चल रहा। किन्तु वह वृद्ध अभी चिरकाल तक संसार में चक्कर लगाता रहेगा क्योंकि अनेक इच्छायें अभी अतृप्त हैं। अतृप्ति और ऋण रहते कोई मुक्ति नहीं पा सकता। जब भ्रमण करते हुए वह एक दिन श्रान्त होकर अपने भीतर झाँकेगा, तो यह देखकर चौंक जायेगा कि जिसका अन्वेषण वह बाहर कर रहा है वह तो उसके भीतर ही विद्यमान है। बस, यहीं से उसमें निवृत्ति का आरम्भ होगा-उसकी अन्तर्मुखी यात्रा आरम्भ होगी।

प्रवृत्ति का निरसन और निवृत्ति का आगमन, इन दोनों के मध्य ही गुरु प्रकट होते हैं। गुरु शक्ति के आविर्भाव बिना प्रवृत्ति का अन्त, निवृत्ति का आरम्भ और तत्पश्चात् निवृत्ति का भी अन्त नहीं होता। अन्तर्जगत् में प्रवेश की चाभी गुरु के हाथ में है। निष्काम कर्म में अधिकार नहीं होता और कर्म स्वाभाविक नहीं होता।

जिज्ञासु—क्या निष्काम कर्म पुरुषार्थ नहीं?

योगिराज—देखो, कर्ममात्र ही पुरुषार्थ नहीं, निष्काम कर्म मनुष्य के अपने किए से नहीं होता, इसलिए उसको पुरुषार्थ कहना ठीक नहीं, वह प्राकृतिक कर्म है। पुरुष के काम के पीछे अहंकार रहता है। निष्काम कर्म में अभिमान या कर्तृत्व का बोध नहीं रहता। वस्तुत: मध्य पथ (सुषुम्ना) के खुलने पर स्वाभाविक प्रेरणा से जो निवृत्ति कर्म होता है, वह है निष्काम कर्म। उससे बन्धन नहीं होता अपितु बन्धन कट जाता है और जगत् का कल्याण होता है। निष्काम कर्म बिना चित्त-शुद्धि और ज्ञानोदय असम्भव है।

इसी का दूसरा नाम है योग और यह है कर्म का कौशल। योग रूप निवृत्त कर्म को छोड़ बाकी सब कर्म कामना से प्रेरित होने के कारण बन्धन कारक हैं।

जिज्ञासु—इसलिए गुरु-शक्ति के प्रभाव से मध्यपथ खुलने पर योगरूप कर्म स्वत: होने लगता है। इसका अर्थ तो यह है कि योग बिना कर्म भोग कटाने का और ज्ञान-लाभ का कोई और उपाय ही नहीं। अत: आध्यात्मिक जीवन के लिए गुरु का स्थान अद्वितीय है। जिस पथ के खुलने पर वास्तविक कर्म हो सकें, वही पथ अनावृत कर देना गुरु का कार्य है। इसलिए गुरु बनाये बिना कर्म का अधिकार नहीं है।

योगिराज—मध्य पथ ही तो ब्रह्म पथ है। शेष कुपथ हैं-विषयमार्ग हैं। मध्य पथ में शक्ति का स्रोत ऊर्ध्वमुखी होता है। जो यह शक्ति इन्द्रिय-मार्ग से

अभी बाहर निकल रही है, वही चित् शक्ति के जाग्रत होने पर एकाग्र हो भीतर चित्प्रवाह में पड़कर उसी में लीन हो जाती है। जैसे होमाग्नि समिधा के पड़ने पर और जोर से जलने लगती है, वैसे ही देह में स्थित चिदग्नि भी इन्द्रियों की आहुति प्राप्त कर प्रबल होती है। वह ऊपर की ओर चलते चलते अनन्त चित्तसागर में आत्मसमर्पण करती है। यही चैतन्य जीव धारा अर्थात् जाग्रत कुण्डलिनी का चैतन्यसागर में विलीन होना है।

मध्य पथ में सर्वदा ब्रह्मतेज खेलता है। इसके दाहिने और बायें, विषयस्रोत बहते हैं (इडा और पिंगला)। ब्रह्मस्रोत अन्तर्गामी होता है और विषयस्रोत बाह्य-गामी। पहला ऊर्ध्वाकर्षण है और दूसरे हैं-मध्याकर्षण और अधराकर्षण। मध्याकर्षण में स्थित निम्नभावापन्न जीव की अधोमुखी गति को ऊर्ध्वमुखी कर देना ही गुरु का कार्य है। प्रवाह का कार्य प्रवाह ही करेगा यह स्वाभाविक है। गुरु केवल स्वभाव के साथ योग करा देता है।

*

पञ्चम अध्याय

गुरु-तत्त्व

जिज्ञासु—अब तक जो सुना उसमें ज्ञात हुआ कि सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करना या गुरु बनाना धर्म जीवन के लिए अत्यावश्यक है। इस सम्बन्ध में आपके उपदेशों को मैंने ध्यानपूर्वक सुना है। मेरे अनेक सन्देह तो दूर हो गए हैं किन्तु अब भी कुछ शेष हैं। गुरु बनाने की आवश्यकता अच्छी तरह समझने के लिए, गुरु का स्वरूप क्या है?—यह जानना आवश्यक है। गुरु तत्त्व का बोध हो जाने पर अनेक भ्रमों का निराकरण सरलतया हो जाता है।

योगिराज—वत्स, मैंने अब तक तुमसे जो कुछ भी कहा है उसे ध्यानपूर्वक सुनने और समझने का प्रयत्न करने पर वास्तविक सिद्धान्त स्वयमेव समझ में आ जायगा। तथापि, विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं और अधिक बता रहा हूँ।

शास्त्रानुसार, गु = अन्धकार (अज्ञान), रु = प्रकाश (ज्ञान) अर्थात् गुरु वह जो अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाय। जो इस संसार रूपी महावन में मार्गदर्शक है, दुस्तर संसार-सागर का नाविक है—वह है गुरु। असत्य, अज्ञान और मृत्यु-राज्य से सत्य, ज्ञान और आनन्दमय नित्यधाम में जाना, केवल गुरु कृपा पर ही निर्भर करता है।

गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृत जगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

अर्थात्, तीनों लोकों को आत्मरूप अनुभव कराने वाले, आत्मतत्त्व का ज्ञान देने वाले, साधन और साध्यरूप, शिव स्वरूप गुरु को प्रणाम है।

जो ज्ञानदीप से तत्त्व वस्तु दिखा दे—आत्मा, अनात्मा और परमात्मा के स्वरूप को अनावृत कर समझा दे; जो अन्धे को दृष्टि देकर अनन्त महाशक्ति की विराट् विश्व लीला दिखाते-दिखाते सदा आत्मस्वरूप दर्शन करने की योग्यता प्रदान करे, वह है गुरु।

जीव का जैसा स्वभाव है, वैसी ही वस्तु उसे प्रिय लगती है। स्वभाव में स्थित रहकर स्वाभाविक पथ पर चलकर ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। जीव (निज) स्वभाव से वियुक्त हो गया है। वह कब और क्यों स्व-भाव से वियुक्त हुआ—इस पर विचार करना व्यर्थ है। स्वभाव वियुक्त होकर वह विकृत हो पागलों की तरह आनन्द की खोज में चारों ओर दौड़ रहा है। किन्तु खोजने पर भी उसे

आनन्द की स्वर लहरी नहीं मिल रही है। यदि वह वस्तुत: आनन्द को पा लेता तो उसे खोजने की आवश्यकता ही न पड़ती, वह सदा के लिए तृप्त हो जाता। परन्तु ऐसा होता ही क्यों है? इसका एकमात्र कारण यह है कि जीव स्वभाव से वियुक्त होने के साथ ही (अर्थात् जब से वर्तमान जीवभाव का उदय हुआ है, तभी से) स्वाभाविक दृष्टि (शक्ति) से रहित है। जिससे वह किसी भी वस्तु के सही स्वरूप को नहीं देख पाता। पग-पग पर भ्रान्त होता है गाय को घोड़ा समझ बैठता है। जल की प्यास दूध से नहीं मिटती। वह दूध देखकर सोचता है कि इससे उसकी प्यास मिटेगी किन्तु उसकी समझ में यह नहीं आता कि यह प्यास बुझाने वाला शीतल जल नहीं है। वह भ्रान्तिवश जल के स्थान पर दूध पीकर प्यास बुझाना चाहता है। किन्तु दूध से उसकी प्यास नहीं मिटती। तब उसे दूसरी वस्तुओं में जल का भ्रम उत्पन्न होता है और वह उनसे प्यास बुझाने की चेष्टा करता है किन्तु पहले की तरह उसे निराश ही होना पड़ता है। भाग्यहीन जीव, जीवन भर प्यासा ही रह जाता है और उसे शान्ति पहुँचाने वाला जल कहीं नहीं मिलता। सोचकर देखो, सबका यही हाल है। किन्तु ऐसा क्यों है? भ्रम क्यों नहीं कटता? भ्रम की जड़ है अविद्या। जब तक अविद्या का नाश नहीं होता, तब तक भ्रम नहीं जाता। नित्य नवीन भ्रम उत्पन्न होते हैं। इसे स्थिर सत्य जानो। तुम स्वयं को चाहे जितना चतुर समझो किन्तु विश्वेश्वर को धोखा नहीं दे सकते। तुम्हारा जितना भी प्रयास है वह सब उस महा मायावी के विराट् इन्द्रजाल के ही अन्तर्गत है।

ज्यों ही जीव स्व-भाव से पृथक होता है, घोर अविद्या उसे घेर लेती है अज्ञान के प्रभाव से जीव इस समय मूर्च्छित है—आत्मविस्मृत है। उसे लौटकर पुन: अपने स्व भाव को प्राप्त करना होगा। तब वह स्वस्थ होगा। किन्तु वह लौटेगा कैसे? राजपुत्र आज कंगाल होकर दीनभाव से हाहाकार कर रहा है। उसकी वास्तविकता बताकर कौन उसके दु:ख को दूर करेगा। इसके लिए ऐसे दयालु, शक्तिशाली तथा सर्वज्ञ पुरुष की आवश्यकता है, जो उसे उसका पूर्व-स्मरण करा सके और निज स्वभाव में उसे लौटाने में सहायक हो। जो जाग रहा है वही सोये हुए को जगा सकता है। जो स्वयं सोया हुआ हो, वह भला अन्य सोये हुए को कैसे जगा सकता है? जो ज्ञानी, सदा जाग्रत, विभूति सम्पन्न और दयामय है, वही अज्ञानान्धकार से अन्धे हुए जीव की अन्धता को ज्ञानौषधि से दूर कर उसके ज्ञान चक्षु खोल सकता है। अज्ञानी ऐसा नहीं कर सकता। अतएव स्वयं परमेश्वर ही वास्तविक गुरु है। उसी की कृपा से जीव उसे पहचान पाता है—'सोइ जानइ जेहि देउ जनाई।'

जिज्ञासु—आप कहते हैं—परमेश्वर ही गुरु है। इसका भला क्या अर्थ है? सामान्यत: 'गुरु' शब्द से तो मनुष्य का बोध होता है।

योगिराज—'ईश्वर ही गुरु है'—इसका अर्थ है कि ईश्वर कृपा के बिना उसे कोई नहीं जान पाता है, न समझ पाता है और न ही पा सकता है।

वह शुद्ध चैतन्मय है। उसका रूप एकरस रहता है। वह वही है, उसके समान अन्य नहीं है। वह अद्वितीय और असंग है। अन्य कोई वस्तु, शक्ति या भार उसके समक्ष नहीं टिक सकता। ऐसे में जीव को ईश्वर के समक्ष कौन ले जा सकता है? उसकी इच्छा से तत्स्वरूपभूता कृपाशक्ति ही नीचे आकर जीव को शनैःशनैः उसी के स्वभाव में भावित कर लेती है और जीव को शुद्ध करके उसके स्वरूप में पहुँचा देती है। जिस स्वच्छ आधार में परमेश्वर की कृपाशक्ति प्रकाशित होती है, उसे ही 'गुरु' कहते हैं। इसलिए परमेश्वर ही एकमात्र गुरु है और निर्मल चैतन्य ही उसका स्वरूप है। थोड़ा भी समझने से यह ज्ञात हो जायगा कि पारमार्थिक दृष्टि से मनुष्यादि गुरु नहीं हो सकते।

जिज्ञासु—आप कहते हैं कि परमेश्वर ही एकमात्र गुरु है, वे ही ज्ञान शक्ति द्वारा जीव का उद्धार करते हैं। जीव उनकी दया से ज्ञान प्राप्त करके उसी ज्ञान के प्रकाश में सत्य वस्तु को यथार्थ भाव से देख पाता है।

योगिराज—हाँ, यही बात है। केवल देख नहीं पाता, देखकर पहचान भी पाता है-वह अपने ही हैं-यह जानकर प्रत्यक्ष उपलब्धि कर पाता है। बहुत अलग रहने के बाद अपनी प्राचीन परिचित वस्तु के मिलने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द होता है, वह कथमपि कथ्य नहीं है। यदि कोई उसे बताने की चेष्टा करता है, तो वह उसे नहीं जानता और यदि कोई उसे जानता है तो वह वैसी व्यर्थ चेष्टा नहीं करता। जैसे गूँगा व्यक्ति स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता वैसे ही इस आनन्द का वर्णन करना असम्भव है।

जिज्ञासु—अत्युत्तम। किन्तु आपके इस कथन कि भगवान ही एकमात्र गुरु हैं, के सम्बन्ध में मैं एक बात स्पष्टतः जानना चाहता हूँ कि इन दोनों में कौन अधिक सत्य है—'भगवान् ही गुरु है' या 'गुरु ही भगवान् है?' यह प्रश्न मैंने इन दोनों के सूक्ष्म भेद को समझ कर किया है।

योगिराज—तुम्हारे इस प्रश्न से स्पष्ट है कि तुम अभी तक गुरुतत्त्व को भलीभाँति नहीं समझ पाये हो। 'गुरु भगवान् है'-इसका कोई अर्थ नहीं है जब तक कि 'गुरु' शब्द का तात्पर्य ठीक से न समझा जाय। 'गुरु' से यदि शुद्ध चैतन्यमय समझो और 'भगवान्' से भी वही समझो, तब तो दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है। परन्तु कार्यतः ऐसा नहीं है। भगवान् अनन्त शक्तिमय है और उसके अनन्त रूप हैं। उनमें से निकले उनके अनुग्रहशक्ति रूप को ही गुरु कहते हैं। दुःख को दूर कर परमानन्द का विकास ही अनुग्रह है।

अस्तु, यह सब तो वाग् विलास मात्र है। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हारा मूल संशय क्या है?

जिज्ञासु—मेरी जिज्ञासा यह है कि जब भगवान् के अनन्त रूप हैं तब जीव और जड़ स्थावर और जङ्गम सभी तो उसी के रूप हैं। यदि ऐसा है और इस प्रकार गुरु भगवान् का रूप है, तो दोनों में भेद न रहने से गुरु की प्रधानता कहाँ रही?

योगिराज—भगवान् विश्व-रूप हैं-इसमें कोई सन्देह नहीं और इसलिए समस्त रूप भगवान् के ही विग्रह हैं तथापि गुरु के और अन्य रूपों में बहुत अन्तर है। हाँ, तात्त्विक रूप से अभेद ही है। अज्ञान-शक्ति की सत्ता के कारण अनेक भेद हैं और उन भेदों के अनुसार अनन्त प्रकार के जीवों की उत्पत्ति होती है। ज्ञान शक्ति शुद्ध रूप में चैतन्य स्वरूपा और अद्वितीय है। उसमें स्वतः कोई भेद नहीं है। न तो उपाधि सम्मिश्रण है और न ही विकार। ज्ञान, अज्ञान से स्वभावतः प्रबल हैं जैसे प्रकाश, अन्धकार से। इसलिए यद्यपि अज्ञान शक्ति में अनन्त विचित्रतायें हैं, वह अनादिकाल से अन्धकार के वशीभूत होकर, घनीभूत होकर प्रकाशित हो रही है तथापि ज्ञान के समक्ष अज्ञान प्रतिभाहीन है। चिरकाल पश्चात् भी ज्ञान की प्रधानता घटती नहीं। चैतन्य सर्वव्यापक है, पर गुरु रूप में उसका विशेष प्रकाश है जो निर्गुण है। गुण में स्थित अज्ञान-विकार से उत्पन्न कोटि-कोटि खण्ड-प्रकाश की अपेक्षा उपर्युक्त गुरु रूपी निर्गुण प्रकाश अनेक गुना श्रेष्ठ है। अतः भेददृष्टि से गुरु का स्थान देवताओं से भी उच्च है—

'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन।'

मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा अन्य सभी जीवों की बात ही क्या? गुरु तत्त्व से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं।

जिज्ञासु—आपके कथन से मेरा बहुत सा संशय दूर हो गया। किन्तु आपने एक सिद्धान्त मात्र का निर्देश किया, जिसका व्यवहार में कोई विशेष उपयोग नहीं।

योगिराज—क्यों नहीं? तुम्हारे मन में क्या शंका है?

जिज्ञासु—परमेश्वर गुरु हो सकते हैं परन्तु जीव का उससे क्या लाभ? जीव तो परमात्मा को पा नहीं सकता। वे जो भी हों, आप उनको चाहे कितना ही दयालु और शक्तिशाली कहें, वस्तुतः वे जीव के लिए अप्राप्य हैं।

आप कहते हैं कि परमेश्वर उपाय और उपेय दोनों ही है अर्थात् उसी की सहायता से उसके पास पहुँचा जा सकता है। उसे पकड़ पाने पर ही वह लक्ष्य तक पहुँचा पायेंगे अर्थात् स्वभाव में पहुँचा देंगे। किन्तु बद्ध जीव, निर्मल वस्तु तक पहुँचेगा कैसे?

योगिराज—इसीलिए तो वे उतर कर जीव के पास, उसकी पकड़ में पहुँच जाते हैं। अथवा जीव को ऊपर आकृष्ट कर अपने यहाँ ले जाते हैं। वे यदि नीचे न उतरते तो जीव उन्हें कभी न पाता, आत्मोद्धार का पथ ही न पहचान पाता। उनकी कृपा ही उनकी पहचान कराती है। यही कृपा है गुरु शक्ति।

जिज्ञासु—तब क्या गुरु और अवतार समान हैं? दोनों में क्या अन्तर है?

योगिराज—एक प्रकार से दोनों एक ही हैं। पर एक बात है। साधारणतया अवतार से जो समझा जाता है, गुरु तत्त्व उससे भिन्न होने पर भी प्रकारान्तर से अभिन्न है। शुद्ध स्वरूप से शक्ति का शनैः शनैः संसार में अवतीर्ण होना ही अवतार है। इस शक्ति प्रवाह में से ज्ञान-शक्ति की धारा नीचे उतरने पर गुरु शक्ति कहलाती है। शक्ति प्रवाह की शेष धाराओं का उतरना ही अवतार कहा जाता है। अवतार का उद्देश्य है जगत् का सापेक्ष्य साम्य संरक्षण।

धर्म संस्थापन के लिए समय समय पर अवतार होता है। धर्म इस जगत् का रक्षक है। जब प्रतिकूल शक्तियाँ धर्म को दबा देती हैं, तब स्वभाव की प्रेरणा से महाशक्ति में से उसका एक अंश बाहर निकल कर ग्लानि प्राप्त दूषित धर्म को उठाकर पुनः स्थापित करता है और जगत् की अति घोर अस्थिरता को दूर करता है। इस प्रकार से यही है अवतारवाद। गुणावतार, लीलावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि अनेक प्रकार के अवतार हैं। यहाँ इन सबके विमर्श की आवश्यकता नहीं है। जीव को स्वभाव में ले जाना अवतार का मुख्य उद्देश्य नहीं होता; यद्यपि गौणरूप से यह भाव भी रहता है। किन्तु गुरु का मुख्य कार्य ही यही है घर से वियुक्त पुत्र को पुनः घर पहुँचा देना (अर्थात् स्व-भाव-वियुक्त जीव को पुनः स्वभाव में स्थिर कर देना)। गुरु का कार्य है ज्ञान दान और यह कर्म ही गुरु की सार्थकता है। प्रधान और प्रासंगिक भाव से साधारणतः 'ज्ञान-दान' अवतार का कार्य नहीं है। परन्तु प्रयोजन होने पर अवतार भी गुरु भाव ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार शक्ति गुरु रूप में आकर इच्छा होने पर अवतार कार्य अर्थात् धर्मसंस्थापन भी कर लेती है। दोनों ही परमेश्वर की लीला हैं अतः इसमें असम्भव कुछ भी नहीं।

एक बात और। अवतार, केवल भगवान् ही हों-ऐसा नहीं। भगवान् के भक्त भी अवतार हो सकते हैं, नित्य मुक्त और सिद्ध जीव भी अवतार हो सकते हैं। उनकी शक्ति अनन्त होने से इनमें से चाहे कोई भी अवतार ले सकते हैं। यहाँ तक कि काम क्रोधादि वृत्तियाँ (शक्ति) भी अवतार ले सकती हैं। किन्तु परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी गुरु नहीं हो सकता।

जिज्ञासु—जब भगवान् ही गुरु, तो वे सम्पूर्ण विश्व के ही एकमात्र गुरु। इसलिए गुरु तो अनेक नहीं हो सकते। तब हम जो शास्त्रों में भिन्न भिन्न गुरुओं के नाम पाते है और संसार में भी अनेक गुरु देखते हैं—इसका क्या कारण है?

योगिराज—भगवान् ही सबके गुरु है, इनमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु गुरु तत्त्व एक के अतिरिक्त अनेक नहीं हो सकता। केवल गुरु-तत्त्व ही नहीं, कोई भी तत्त्व एक ही होता है, अनेक नहीं। क्या सोचा भी जा सकता है कि संसार

में किसी एक संतान के दो दो माता पिता हों? पिता भी एक ही होगा और माता भी केवल एक। इसी प्रकार मित्र और प्रियजन भी एक ही होते हैं, अनेक नहीं। किन्तु यह शुद्ध और तत्त्व वस्तु है—जिसे बताया नहीं जा सकता। आस्वादन तथा आत्मप्रकाश, मूर्ति या रूप बिना नहीं हो सकता। भिन्न देश, भिन्न काल, विभिन्न आधारों में एक ही तत्त्व विभिन्न दर्शकों के विभिन्न दृष्टिभेद के कारण विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। किन्तु इससे वस्तु की सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे एक ही श्वेतवस्तु उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न स्थानों में नील रक्त पीतादि अनेक वर्णों की दृष्टिगत होती है, वैसे ही तत्त्व का भी उपाधिगत भेद है। सौन्दर्य एक और अखण्ड है परन्तु वासना भेद से रंजित नेत्रों को खण्ड रूपों के अनन्त प्रकारों में भासित होता है। एवमेव गुरु भी एक और अद्वितीय है किन्तु नाम और रूप की विशेषता से, विभिन्न क्षेत्रों में, नाना भावों में प्रकाश पाता है। शास्त्रों और लौकिक व्यवहार में जो अलग अलग गुरुओं की कथायें हैं, उसका यही कारण है। जिस प्रकार रस तत्त्व एक होने पर भी खण्ड-रस असंख्य हो सकते हैं उसी प्रकार गुरु तत्त्व एक होने पर भी उसके आविर्भाव अनेक हो सकते हैं।

जिज्ञासु—आप कहते हैं कि गुरु तत्त्व तो एक ही है किन्तु उसके बाह्य रूप अनेक हैं। निश्चय ही यह उपाधियों की बहुलता के कारण है। इन उपाधियों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा है, एक के बिना अनेक नहीं हो सकते। उपाधियों की अनेकता उनकी एकता का संकेत करती है अर्थात्, एक व्यापक उपाधि खण्डित (सी) होकर अनेक उपाधियाँ बनती है। अतः यदि मूल में एक उपाधि न हो तो अनेक उपाधियाँ कहाँ से आयेंगी? इस तरह अनेक प्रकारता के पूर्व उपाधि की सत्ता को स्वीकार करना युक्ति युक्त है। इस मूल उपाधि के होने से ही तत्त्व वस्तु अनेक रूप धारण करती है। इन सभी रूपों का संयुक्त रूप ही परम रूप है। यही तत्त्वातीत सत्ता का प्रथम आविर्भाव है—यह एक और अद्वितीय है। बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब नहीं होता।

योगिराज—हाँ, तुमने ठीक ही कहा। एक से बहु का उदय होता है और बहु फिर एक हो जाता है। परन्तु जो अरूप है उसके सहसा बहुत रूप नहीं होते। सबसे प्रथम वह एक साधारण रूप में प्रकट होता है। ऐसा होना भी व्याधि के प्रकार पर निर्भर है। फिर, वही एक रूप, काल के प्रभाव से, बहुरूप हो जाता है। जगत् के सारे ही रूपान्तर उस एकमात्र मूल रूप की ही अनेक विकृति (छवि) है। यह मूल रूप ही भगवान् का नित्यरूप है। 'पञ्चरात्रगण' इसको 'नित्य-उदित-रूप' कहते हैं। इनसे निम्न श्रेणी के अधिकार वालों को यह रूप 'शान्ति उदित' भाव में प्रकट होता है। इसलिए भगवान् के, एक ही काल में अरूप और रूपवान्, निराकार और साकार रूप धारण करने में कोई सन्देह नहीं।

अवश्य ही यह रूप, इन्द्रिय ग्राह्य भौतिक रूपों से भिन्न है। साधारणत: योगी और भक्तगण भी प्रभु के इस परम रूप के दर्शनों का सौभाग्य नहीं पाते। देवर्षि नारद ने श्वेत द्वीप में भगवान् के जिस रूप का दर्शन किया था, उसी को वे परम रूप समझ बैठे थे। किन्तु भगवान् ने उनकी इस भ्रांति का स्वयं खण्डन किया था। इस विषय में बहुत कुछ कहना है और समय आने पर उसे कहूँगा। अन्तत: इतना ही स्मरण रखो कि गुरु-तत्त्व भी इसी प्रकार प्रथमत: एक ही मूलरूप में प्रकट होकर, फिर देश और काल के प्रभाव से धीरे धीरे उपाधि के विभिन्न विभागों के सहारे नाना प्रकार से आविर्भूत होता है।

जिज्ञासु—क्या गुरु का वह नित्य रूप सबको नहीं दिखाई देता? जो अन्तर्दृष्टि से गुरु दर्शन पाते हैं, वे भी क्या उस मूल रूप के दर्शन नहीं कर पाते?

योगिराज—गुरु का वह नित्यरूप प्राय: लोग नहीं देख पाते। जो साधक को दिखाई पड़ता है, वह गुरु का परम रूप नहीं है। संस्काररञ्जित नेत्रों से अपनी-अपनी वासना के अनुरूप सभी लोग विभिन्न रूपों में गुरु के दर्शन पाते हैं। एक ही गुरु अनादिकाल से सबको दिखाई देता है। गुरु अभिन्न होने से भी सभी अपनी अपनी भावना के अनुसार, उन्हें विभिन्न रूपों में देखते हैं। गुरु के मूल स्वरूप का दर्शन किसी को नहीं होता। तब भी जो साधक, भाव के ऊपर उठकर गुरु का दर्शन करते हैं, वे निश्चय ही गुरु के भावातीत और महाभावमय नित्यरूप के दर्शन करते हैं, किन्तु शब्दों द्वारा गुरु के उस परम स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। संसार में प्रकाशित रूपों में वही एकमात्र प्रभु प्रकाशमान है और अनावृत होने पर भी, दर्शकों को उसका मुक्त रूप नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि उसकी आँखों पर आवरण पड़ा है। उसके सर्वदा, सर्वत्र, एकमात्र और समक्ष वस्तु रूप में प्रत्यक्ष होने पर भी तद्विषयक संशय और भ्रांति का अन्त नहीं।

जिज्ञासु—तब तो बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सबके एक ही गुरु हुए।

योगिराज—नि:सन्देह यह सर्वथा सत्य है। केवल इतना ही क्यों? ब्रह्मा, विष्णु आदि के भी जो गुरु हैं, कपिल, व्यास, अगस्त्य, वामदेव, शुकदेव आदि के भी जो गुरु हैं, वही गुरु हमारे-तुम्हारे भी हैं। धर्म मात्र के प्रवर्तक भी वही हैं। प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म भी उन्हीं से नि:सृत हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति योग, समस्त विद्यायें, कला, शिल्प—यह सब कुछ उन्हीं से प्रसूत हैं। जैसे ज्ञान प्रकार का होने पर भी एक है, वैसे ही ज्ञान का आधार भी मूलत: एक है।

जिज्ञासु—यदि ऐसा है, तो क्या परमेश्वर ही आकर विद्याओं (ज्ञान) का प्रचार करते हैं। क्या यह नियम सर्वत्र समान रूप से प्रभावी है? क्या इससे अन्यथा कहीं भी नहीं होता?

योगिराज—वस्तुतः इससे अन्यथा कहीं भी नहीं होता। ज्ञान की प्रथम प्रवृत्ति साक्षात् भाव से परमेश्वर द्वारा ही होती है, क्योंकि वे ही आदि गुरु हैं। तब भी जो महापुरुष अपने स्वच्छ आधार में उनके प्रदत्त ज्ञान का संग्रह कर लेते हैं, वे निश्चय ही जगत् में उसका सञ्चार कर सकते हैं। कोई तो इन महापुरुषों को ही ज्ञानप्रदाता मान लेते हैं किन्तु वह ज्ञान इनका स्वयम् अनुभव-सिद्ध नहीं होता। दृष्टान्त के लिए कपिल और आसुरि का वृत्तान्त ही लो। यह तुम जानते ही हो कि कपिल को आदि विद्वान् कहा जाता है। वे सिद्ध पुरुष थे और पूर्वकल्प में उन्होंने साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु उनके कैवल्य प्राप्त करने के पूर्व ही प्रलयवशात् जगत् ने अव्यक्त रूप धारण कर लिया। प्रलय के अन्त होने पर प्रकृति के नवोन्मेष काल में कपिल भी ज्ञानमय रूप में सृष्टि के आदि में ही प्रकट हुए; अतएव उन्हें आदि विद्वान् कहा गया। वर्तमान् सृष्टि में जिसने भी ज्ञान-लाभ किया वे सभी कपिल से अवर हैं। कपिल ने आविर्भूत होकर, अर्थात् निर्माणकाया धारण कर जिज्ञासु आसुरि को कृपापूर्वक तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया, जिसे सांख्य शास्त्र (ज्ञान) कहते हैं। किन्तु ध्यान देना, कपिल वर्तमान् सृष्टि के आदि विद्वान् होते हुए भी नित्य-सिद्ध ज्ञानी नहीं हैं, जो केवल परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। इसलिए परमेश्वर ही एकमात्र गुरु है।

जिज्ञासु—निर्माणकाया किसे कहते हैं? निर्माणकाया न धारण करने पर क्या कपिल ज्ञान न दे पाते?

योगिराज—निर्माणकाया का विस्तृत वर्णन तो फिर कभी करूँगा-यहाँ वह अप्रासङ्गिक है। तथापि संक्षेपतः दो एक बातें यहाँ बताता हूँ। ज्ञान दो तरह से आविर्भूत होता है एक तो औपदेशिक (वाणी द्वारा) और दूसरा निःशब्द। योगशास्त्र में प्रथम ज्ञान को शब्द ज्ञान और दूसरे ज्ञान को पार्थिव ज्ञान या अनुपदिष्ट ज्ञान कहा गया है। उपदेश ही प्रथम प्रकार के ज्ञान का हेतु है, जबकि पार्थिव ज्ञान, उपदेश निरपेक्ष है। उपदेश की आवश्यकता न होने पर भी, गुरु के बिना ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। सामान्यतया गुरु सर्वप्रथम औपदेशिक ज्ञान देते हैं किन्तु जब शिष्य योग्यता अधिक हो जाने पर विकल्पमय शब्दराज्य से ऊपर उठ जाता है तब गुरु उसे पार्थिव अर्थात् अनौपदेशिक ज्ञान देते हैं।

औपदेशिक ज्ञान के लिए गुरु को देह की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु योगीजन विदेह होने पर भी, शुद्ध उपादान ग्रहण पूर्वक, संकल्प मात्र से देह निर्माण करके, उसमें अधिष्ठान पूर्वक प्रयोजनानुसार ज्ञान धर्म का उपदेश देते हैं। इसी देह को निर्माणकाया कहते हैं, निर्माणचित्त भी कहते हैं। इस अवस्था में देह और चित्त अभिन्न ही हैं क्योंकि निर्माणकाया कई प्रकार से रची जा सकती है किन्तु योगिजन ध्यान द्वारा जिस निर्माणकाया की रचना करते हैं उसमें कार्यसिद्धि का हेतु नहीं रहता, जबकि अन्य कायाओं में कर्म का हेतु रहता है।

तत्त्वोपदेशार्थ निर्माणकाया ही श्रेष्ठ है। महर्षि सिद्ध जन, निर्माणकाया धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं। पाञ्च-भौतिक देह से तत्त्वोपदेश साधुतया नहीं होता। उसमें नाना प्रकार के प्रतिबन्धक हैं। इसलिए निर्माणकाया की आवश्यकता होती है। जो योगी हैं, वे शरीर में रहते हुए भी अनेक बार, विशुद्ध अस्मिता में से निर्माणकाया-आकर्षण करके उपदेश देते हैं।

कभी-कभी निर्माण-काया नहीं प्रकट होती अपितु आकाशवाणी द्वारा उपदेश प्राप्त होता है। अनेक बार श्रुति की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।

जिज्ञासु—जिस ज्ञान से आत्मस्वरूपोपलब्धि और दुःख निवृत्ति होती है, वह कौन ज्ञान है?—शब्द ज्ञान या पार्थिव ज्ञान?

योगिराज—योगिजन जानते हैं कि तारक-ज्ञान या विवेक ज्ञान से बन्धन-मुक्ति होती है और संशय का नाश होता है। उपदेश द्वारा यह ज्ञान ठीक ठीक नहीं दिया जा सकता। इसीलिए तारक-ज्ञान को अनौपदेशिक ज्ञान भी कहते हैं। यह जीव के हृदय से स्वतः प्रकट होता है। यह अपरोक्षानुभूति है और इसमें कोई उपदेष्टा नहीं होता। तब भी जो शास्त्रज्ञ हैं और शब्द के मूल रहस्य को जानते हैं, उन्हें यह ज्ञात है कि यह शब्दानुविद्ध है। वे शब्द के सूक्ष्म स्तर को देख पाते हैं। वहाँ ज्ञान मात्र ही शब्दानुविद्ध जाना जाता है।

पार्थिव ज्ञान में कोई क्रम नहीं होता। इसके द्वारा जीव को समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। शाक्य-मुनि (बुद्धदेव) को बोधिलाभ से एकदम पहले यही पार्थिव ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसे ही दिव्य चक्षु भी कहते हैं। इनके द्वारा उन्होंने—

'ददर्श निखिलं लोकमादर्शे इव निर्मले।'—न्यायेन, इस समस्त विश्व को एक नगरीतुल्य देखा। दिव्यचक्षु द्वारा समस्त विश्व को उन्होंने एक साथ ही निर्मल दर्पण बिम्ब की तरह देखा। भगवान् द्वारा प्रदत्त दिव्यचक्षु से अनन्त विचित्रता से भरे जगत को देखा था, वह उसका विश्वरूप दर्शन भी पार्थिव ज्ञान का बाह्य रूप था।

आत्मदर्शन से पूर्व इस प्रकार का जगद्दर्शन भी होता है। जो यह दृष्टि देते हैं, वही गुरु हैं।

शब्दज्ञान और पार्थिव-ज्ञान दोनों ज्ञान, गुरु ही देते हैं। प्रतिभा के पश्चात् जो आत्मदर्शन होता है, वह भी गुरु कृपा से ही होता है। स्वभाव ही गुरु है, परमेश्वर ही गुरु है—उसका आश्रय न लेने से ज्ञान का उदय नहीं होता।

यह ध्यातव्य है कि गुरु का श्रेष्ठ रूप अव्यक्त है। इसी अव्यक्त अनन्त स्वरूप से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान का विशुद्धतम रूप है। गुरु का जो स्वप्रकाशमय, अखण्ड और शुद्ध व्यक्त रूप है जो विशुद्ध सत्ता से प्रकाशमान

है—उससे जो ज्ञान निकलता है, वह अति विशुद्ध ज्ञान है। तब भी जीव, जब तक भावातीत नहीं हो पाता तब तक इन दोनों प्रकार के ज्ञानों का स्फुरण उसमें नहीं होता।

भगवान् के किसी विशेष रूप अथवा किसी दिव्य वाणी द्वारा भावरूप से अन्तरात्मा में जिस ज्ञान का उदय होता है, वह तृतीय कोटि का ज्ञान है। यह भी साधारण लोगों के भाग्य में पहले नहीं आता।

जब स्थूल देह में भगवत्सत्ता का आवेश होता है जब किसी स्थूलाभिमानी साधन शुद्ध जीव में, उसकी उपाधि की सामर्थ्य के अनुसार भगवत् शक्ति का प्रकाश होता है, तब ऐसे जीव से जो ज्ञान मिले, वह चतुर्थ कोटि का ज्ञान है। यही ज्ञान प्रथम अवस्था में लोगों को सामान्यतया प्राप्त होता है। पर इस अवस्था को प्राप्त जीव—भगवद्भाव में आविष्ट जीव भी इस संसार में विरले ही हैं। साधारणत: ये लोग ही गुरु कहे जाते हैं। किन्तु ध्यान रहे कि गुरु रूप में उपदेश देने वाला मनुष्य वास्तविक उपदेशक न होकर, उसके अन्तर में बैठा हुआ परमेश्वर ही वास्तविक उपदेष्टा है। जीव कभी भी जीव का उपदेष्टा नहीं हो सकता।

जिज्ञासु—उपनिषद् कहती हैं कि प्रत्येक शरीर में दो आत्मा हैं—एक तो भोक्ता जीव और दूसरा भोग निर्मुक्त शुद्ध, द्रष्टा एवं साक्षी अर्थात् परमात्मा। अन्तरात्मा रूप में प्रत्येक आधारी जीव के साथ साथ नित्य सखा परमात्मा रहते हैं।

जब सर्वत्र पमरात्मा हैं तब अपने अन्दर उन्हें न खोजकर अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता? वे सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं—ऐसी स्थिति में—

'अर्के चेन्मधु विन्देत् किमर्थं पर्वतं ब्रजेत्?'

योगिराज—तुमने ठीक ही कहा। किन्तु परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने पर भी उसका प्रकाश सर्वत्र एक समान नहीं है। केवल सत्तामात्र से इष्टसिद्धि नहीं। अतएव निर्गुण और निष्क्रिय सत्, एक प्रकार से असत् ही है। इसलिए सत् को प्रकट करना होगा तभी उसके द्वारा कार्य सम्पन्न होगा। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ अग्नि न हो। छिपे हुए रूप में वह सर्वत्र उपस्थित है। किन्तु उससे प्रकाश ऊष्मा कुछ भी नहीं मिलती। ऊष्मा या प्रकाश पाने के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि चाहिए। किसी भी प्रकार व्यक्ति को अपना दीपक जलाने के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित करना ही पड़ेगा।

जिज्ञासु—किन्तु जिसे ऊष्मा या प्रकाश नहीं चाहिए?

योगिराज—यदि किसी को ऊष्मा या प्रकाश नहीं चाहिए तो उसके विषय में कोई शंका ही नहीं। किन्तु जीव की तो यह अवस्था नहीं। वह

अन्धकार में पड़ा है। उसका तमोनिवारण करना पड़ेगा। जो प्रकाश इस जगत् में सर्वत्र उपस्थित है, उससे अन्धेरा दूर नहीं होता क्योंकि वह तो अन्धकार में भी उपस्थित है। उसके साथ कोई विरोध नहीं है। अन्धकार दूर करने के लिए प्रज्ज्वलित दीप की आवश्यकता है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक विशुद्ध चैतन्य द्वारा जीव के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती चाहे वह अन्तरात्मा या परमात्मा के रूप में जीव के अन्दर ही स्थित हो। उस विशुद्ध चैतन्य, जिसमें ज्ञान विद्या रूप में प्रकट और प्रज्ज्वलित हो, से ज्ञान लेकर अज्ञान का विनाश करना पड़ेगा। जिस आधार में ज्ञान उज्ज्वलभाव से देदीप्यमान है, उसी को गुरु कहते हैं। जैसे एक प्रदीप्त दीप से अन्य दीप भी प्रज्ज्वलित हो जाते हैं, वैसे ही उस ज्ञान के उज्ज्वल आधार के स्पर्श से जब बद्ध जीव के अन्दर प्रसुप्त अग्नि उद्दीप्त हो उठे तब जीव की अन्तरात्मा जागी हुई कही जाती है। तब अपने अन्तर में ही गुरु दर्शन होते हैं। जो जीव के नित्य साथी, स्थायी मित्र और सृष्टि के आरम्भ से ही उसके कर्म और भोग को चुपचाप देखते चले आ रहे हैं, वे ही जीव की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख गुरु रूप में प्रकट हो जाते हैं। तब बाहर के गुरु के रूप में ही अन्तर्गुरु के दर्शन होते हैं।

तब भी ध्यान रहे कि गुरु के आधार की जो शक्ति प्रकाश देती है, वही शक्ति जीव के आधार को भी उज्ज्वल करती है। आधार भेद से अग्नि के पृथक् भावों में प्रकाशमान होने पर भी अग्नि की सत्ता एक ही है, अन्य, नहीं। प्रज्ज्वलित अग्नि ही गुरु है।

जिज्ञासु—साधारण जीव में प्रसुप्त अग्नि तो है ही, क्या प्रदीप्त अग्नि नहीं है।

योगिराज—प्रदीप्त अग्नि भी है किन्तु उसके रहने से क्या? क्योंकि जीव को ज्ञात ही नहीं कि उसमें प्रदीप्त अग्नि है। सहस्रार में वह अग्नि नित्य प्रकाशमान होकर विराजमान है। किन्तु बहिर्मुख जीव को उसका बोध नहीं है। इसलिए जीव को अन्तर्मुख होकर उस प्रसुप्त अग्नि को ही जानना पड़ता है। तत्पश्चात् उस जाग्रत अग्नि की सहायता से जीव सहस्रार के ज्योतिर्मय धाम की ओर चलता है।

*

षष्ठ अध्याय

दीक्षातत्त्व—मन्त्र व देवता

जिज्ञासु—गुरु साक्षात् परमेश्वर है, यह समझ गया। जिस स्वच्छ आधार में परमेश्वर की स्वरूप शक्ति प्रकाशित होकर कार्य करे, उसी आधार को गुरु कहते हैं—इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। अब जिज्ञासा यह है कि गुरु किस प्रणाली से शिष्य के अन्त:करण में ज्ञान शक्ति का संचार करते हैं?

योगिराज—जिसे तुम ज्ञान शक्ति का संचार कहते हो, उसे प्रकारान्तर से शिष्य के हृदय में स्थित सुप्त ज्ञान शक्ति का उद्‌बोधन भी कह सकते हो। इसी को गुरु कृपा कहते हैं। इस कृपा की प्रणाली या पद्धति को शास्त्रकारों ने दीक्षा का नाम दिया है। दीक्षा बिना जीव का पशुत्व नहीं मिटता—पाप का नाश नहीं होता, विशुद्ध अवस्था की उपलब्धि होने की सम्भावना नहीं। जिसकी दीक्षा नहीं हुई, उसकी देह अशुद्ध है। अशुद्ध देह से देवताओं की पूजा-अर्चना का अधिकार नहीं। बिना दीक्षित हुए मर जाने पर जीव को सद्‌गति प्राप्त होने की सम्भावना भी बहुत कम है। शास्त्र में अनेक प्रकार की दीक्षा का वर्णन होने पर भी दीक्षा का आशय एक ही है।

जिज्ञासु—दीक्षा न होने तक इष्ट देवता या भगवान् का साक्षात्कार क्यों नहीं हो पाता? यदि हृदय में भक्ति हो, तब दीक्षा न होने से भी क्या हानि? नैतिक उत्कर्ष, व्याकुलता एवं सरल विश्वास रहने से भगवत्कृपा न पाने का तो कोई कारण समझ में नहीं आता। यदि यह सत्य है तो दीक्षा अनुष्ठान, एक कुल-प्रथा या आचार के अतिरिक्त और है क्या?

योगिराज—गम्भीर प्रथायें भी, समय व्यतीत होने पर, गम्भीरता छूट जाने पर प्रथा मात्र रह जाती हैं। तथापि उनका मूलतत्त्व नष्ट नहीं होता। यह पहले ही बता चुका हूँ कि एक मात्र परमेश्वर ही जगत् के आदि गुरु हैं। उनसे अनेक ओर, अनेक रूपों में ज्ञान धारा प्रवाहित हुई है। जिस किसी धारा में उनकी कोई विशिष्ट शक्ति प्रकट हुई है, उसी धारा में अविच्छिन्न रूप से चैतन्य का प्रकाश रहता है। गुरु की शक्ति शिष्य में संचरित होती है, फिर शिष्य की शक्ति उसके शिष्य में—इस प्रकार क्रमश: प्रत्येक आधार में शक्ति-धारा प्रवाहित होती रहती है। गुरुशिष्य की इसी परम्परा को शास्त्रों में सम्प्रदाय कहा गया है। गुरु दीक्षा द्वारा शिष्य को इसी सम्प्रदाय से जोड़ देते हैं। तब सम्प्रदाय क्रम से जो शक्ति-प्रवाह चलता रहता है, वह शिष्य के हृदय में अभिव्यक्त होता है। इसलिए

सम्प्रदाय विहीन मन्त्र एवं क्रिया सभी विफल हैं। दीक्षा के फलस्वरूप जीव केवल परमेश्वर की शक्ति-विशेष का लाभ करता हो ऐसा नहीं है। उस शक्ति का प्रकाश जिस जिस आधार में भी हो उन सभी से वह युक्त हो जाता है।

जिज्ञासु—दीक्षा वस्तुत: एक ही बार होती है या अनेक बार?

योगिराज—प्रकृत दीक्षा एक बार छोड़कर अनेक बार नहीं होती। किन्तु यह कहना भी अनुचित नहीं है कि स्तर स्तर पर, नये नये रूपों में शक्ति का उन्मेष होने पर, वही दीक्षा अनेक बार भी होती है। इसे क्रम दीक्षा कहते हैं। किन्तु दीक्षा का मुख्य लक्षण सब में अन्तिम स्तर में ही प्रकाशित होता है। ज्ञानशक्ति एक बार के अतिरिक्त दूसरी बार अभिव्यक्त नहीं होती। इसलिए बार बार दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं। तब भी यह ध्यान रखना होगा कि साधारण मनुष्य की जैसी मानसिक अवस्था है, उसमें पहली ही अवस्था में विशुद्ध ज्ञान के संचार की सम्भावना नहीं। इसलिए कर्म को साथ मिलाकर ज्ञान का उपदेश दिया जाता है। गुरूपदिष्ट कर्म-साधना द्वारा शिष्य ज्ञान की पूर्णता लाभ करता है। ज्ञान की पूर्णता परमेश्वर की कृपा दृष्टि पर निर्भर है। यह होते ही पूर्णाभिषेक सम्पन्न होता है। जीव पाश मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है यही है प्रकृत दीक्षा इसके तुरन्त पश्चात् ही मुक्ति हो जाती है। यह कहना निष्प्रयोजन है कि यह दीक्षा सभी को जगद्गुरु से प्राप्त होती है।

जिज्ञासु—चरम दीक्षा की बात नहीं करूँगा क्योंकि उसे तो परमेश्वर स्वयं सबको मुक्ति दान से पूर्व देते ही हैं। किन्तु जिस दीक्षा में मुख्यत: कर्म का ही उपदेश हो और जो परमेश्वर भावापन्न जीवरूपी गुरु द्वारा दी गई हो, उसके विषय में मैं जानना चाहता हूँ।

योगिराज—ठीक है, तुम्हें जो पूछना हो नि:संकोच पूछो।

जिज्ञासु—दीक्षा के प्रसङ्ग में **मन्त्र और देवता के विचार की सार्थकता** क्या है? यह मेरी समझ में नहीं आया। मन्त्र की क्या आवश्यकता? देवता के साथ मन्त्र का सम्बन्ध क्या है? शिष्य के अधिकार के निर्णय का प्रयोजन क्या है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न, दीक्षा-तत्त्व के विमर्श के समय मन में उठते हैं।

योगिराज—वत्स, दीक्षा का स्वरूप एक होने पर भी आधार भेद होने से दीक्षा-प्रकार अनेक हो जाते हैं। इसी प्रकार इष्ट देवता और मन्त्र दोनों ही परमार्थत: अभिन्न होने पर भी, साधक की साधना भूमि की विशिष्टता के अनुसार भेद करना पड़ता है।

जिज्ञासु—इष्ट देवता और मन्त्रतत्त्व के विषय में पूछने से पूर्व, मैं दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ और भी जानना चाहता हूँ। मेरा प्रश्न यह है कि जब दीक्षा, शक्ति संचार मूलक है और शक्ति वस्तुत: अभिन्न है, तब मन्त्र और देवता के विचार की आवश्यकता ही क्या? और वह विचार किस प्रकार किया जाता है?—यह भी मैं जानने का इच्छुक हूँ।

योगिराज—वत्स, सभी मनुष्यों का अधिकार समान नहीं है। इसलिए विचार की व्यवस्था है। यदि सबका अधिकार समान होता तो निश्चय ही विचार की आवश्यकता न होती। देखो, जो अच्छे डॉक्टर हैं, वे रोग परीक्षण के समय रोग की विशिष्टता को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करते हैं। तत्पश्चात् उस रोग की विशिष्टता के अनुसार औषधि विशेष का प्रयोग करते हैं। रोग का सामान्य लक्षण देखने पर भी, उसके विशिष्ट लक्षण को बिना जाने औषधि की उपयुक्तता का सही निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार विचारशील आचार्य, मनुष्य के अधिकार और योग्यता की परीक्षा करके तदनुसार उसे साधना-विधि बतलाते हैं। यही अधिकार विचार ठीक ठीक न हो पाने से ही आजकल अनेक स्थलों में साधना के प्रत्यक्ष फल का अनुभव नहीं होता। यदि रोग का निदान ठीक हो, औषधि चयन ठीक हो, नियमानुसार औषधि व्यवहार हो, पथ्य अनुकूल हो और रोगी किसी भी प्रतिकूल आचरण द्वारा शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन न करे, तभी औषधि का प्रत्यक्ष लाभ दृष्टिगोचर होगा। ठीक ऐसा ही, साधना क्षेत्र में भी होता है। यदि साधक के चित्त में निहित पूर्वजन्मों के साधना संस्कार और अन्यान्य विशेषताओं का विचार करके उसके अधिकार का निरूपण किया जाय और यदि इस अधिकार के अनुरूप शक्ति का उद्बोधन और साधना क्रम का निर्देश किया जाय यदि साधक उस निर्दिष्ट पथ पर यथाविधि दीर्घकाल तक श्रद्धा, संयम और उत्साह के साथ निर्विछिन्न भाव से साधना-रत रहे तथा शास्त्रवर्जित असदाचरण न अपनाये, तब उसे अपनी साधना का प्रत्यक्ष फल अवश्य मिलेगा। इनमें से अभ्यास और नियम का समयानुसार उचित पालन, साधक का परम कर्तव्य है और अधिकार निर्वाचन एवं तदनुसार साधना मार्ग का निर्देश गुरु के कर्तव्य हैं। दीक्षा के सम्बन्ध में तुम्हारा जो प्रश्न है, वह गुरु के कर्तव्यों में आता है। यह विचार कैसे किया जाता है, मैं तुम्हें संक्षेपतया समझा देता हूँ। मनुष्य के क्रम-विकास का इतिहास केवल एक ही जन्म का नहीं है। तुम आज जिस अवस्था में हो, वह जिस प्रकार पिछले अनेक दिनों के ज्ञान और विशिष्टता पर निर्भर करता है, उसी प्रकार तुम्हारा वर्तमान जन्म भी पूर्व जन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप है। कर्म संस्कार होने से ही देह की उत्पत्ति होती है। देह का विश्लेषण करने पर उसके संस्कार स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। जैसे वृक्ष सूक्ष्म भाव से बीज में निहित होता है और बीज का विश्लेषण करने से ही भविष्य में होने वाले वृक्ष के समस्त इतिहास का पता चल जाता है वैसे ही गर्भाधान के समय पिता माता के वीर्य-रजः संयोग से जो बीज उत्पन्न होता है उसमें भविष्य देह का विकास होता है। उस देह के जीवन का इतिहास उस बीज का विश्लेषण करने से मिल जाता है। तन्त्रशास्त्र में जो नाद, बिन्दु और बीज का रहस्य वर्णित है, वह वस्तुतः स्वरूपतया पितृभाव, मातृ-भाव और दोनों के संगठन जनित सन्तानभाव का ही रहस्य है। सृष्टि का मूल तत्त्व समझ लेने

पर, इन विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान होकर तुम्हारा इन सब पर पूर्ण अधिकार हो जायेगा। उस बीज से जैसे भविष्य का वैसे ही भूतकाल के भी इतिहास का ज्ञान हो जाता है। योगी भी देह बीज का निरीक्षण करके एक ओर तो देह के माता-पिता का इतिहास और दूसरी ओर सन्तान के पूर्वजन्मों का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। मानव-चित्त में जो सब साधना संस्कार निहित हैं उसका सम्यग् निदर्शन इसी बीज-अवस्था में हो पाता है। गुरु का प्रथम कर्तव्य है कि इन साधना संस्कारों को जानकर उसके अनुकूल साधना प्रणाली का निर्देश करे। मान लो, कोई मनुष्य पूर्व जन्म में गोपाल मन्त्र जपकर अत्यधिक उन्नति कर, पूर्णज्ञान लाभ से पूर्व ही मर गया, यदि वह पुनः मनुष्य योनि में जन्म ले तो उसके साधना-पथ का निर्देश करते समय गुरु का कर्तव्य है कि उसके पूर्व-संस्कार का पता लगाकर, उसे उसके गोपाल-साधना पथ में ही स्थापित कर उसे बढ़ने की शक्ति प्रदान करे। कर्म फल कभी नष्ट नहीं होता। पूर्व जन्मों के संचित साधना संस्कारों का लाभ उठाने के लिए वर्तमान जन्म में उनके अनुरूप ही कर्मानुष्ठान आवश्यक है अन्यथा नाश न होने पर भी वह चित्त में निष्क्रिय भाव से पड़े रहते हैं तथा निष्फल न होने पर भी किसी काम में नहीं आते। जो योगी और सूक्ष्मदर्शी हैं, वे मनुष्य के इन पूर्व संस्कारों का पता लगाकर उनके अनुरूप साधना के उपदेश द्वारा शिष्य की साधना की क्रमिक पुष्टि की व्यवस्था करते हैं। पूर्व जन्म में यदि तुम्हारी गोपाल साधना चौथाई ही पूरी हुई हो और इस जन्म में उसी पथ पर चलने लगो तो उतना ही चलने पर आधे से अधिक का लाभ होने लगेगा। क्योंकि एक ही प्रकार का होने से पूर्व जन्म के साधना-संस्कार, इस जन्म की साधना द्वारा तीव्र होकर और भी पुष्ट हो जायेंगे।

इस प्रकार सिद्धिलाभ होने से पूर्व, देहत्याग होने पर भी, पूर्व-पथ पर चलते रहने से इस जन्म में क्रमशः साधना का विकास होता है। इस विकास की भी एक मात्रा है, जिसके पूर्ण होने पर साधना या उपासना रूप कर्म सम्यग् ज्ञान में बदल जाता है। जो गोपाल-उपासना के अभ्यास द्वारा प्रत्येक जन्म में थोड़ा-थोड़ा करके संस्कार-सञ्चय करते रहे हैं, उनकी गोपाल साधना उत्तरोत्तर बढ़कर एक दिन सिद्धि या ज्ञान में अवश्य बदलेगी। बहुधा यह सुना जाता है कि कोई-कोई साधक अल्प-श्रम से ही सिद्ध हो गया। यह असम्भव नहीं है। किन्तु वास्तव में कर्म की मात्रा पूरी न होने तक कोई भी सिद्धि या ज्ञानलाभ नहीं कर पाता। वर्तमान जन्म में अल्प-श्रम से ही यदि किसी की सिद्धि लाभ की बात सुनाई पड़े, तो समझ लो कि उसके पूर्व-जन्मों के साधना संस्कार के आधिक्य से ही वर्तमान जन्म में उसे बहुत साधना की आवश्यकता न थी। पूर्व साधना पथ पर स्वल्प श्रम करने से ही सम्पूर्ण पूर्व संस्कार पुनर्जागृत होकर वर्तमान जन्म के कर्म जनित संस्कारों से मिलकर ज्ञान का विकास करते हैं।

इस प्रकार किसी को स्वल्प श्रम से अधिक फल प्राप्त करते देखकर बाह्य दृष्टि वाले कहने लगते हैं कि भगवान् बहुत पक्षपाती हैं। इससे ज्ञात होता है कि साधना के उपदेशक का उत्तरदायित्व कितना अधिक है! पूर्व संस्कारों का विचार न करके उपदेश देने से वह अनेक स्थलों पर निष्फल भी हो सकता है। इसलिए वास्तविक योगी को छोड़, अन्य कोई गुरु कहलाने योग्य नहीं। यह जो विचार की बात कही, उसमें कम से कम पिछले तीन जन्मों के संस्कार का विचार करना उचित होता है क्योंकि उससे व्यक्ति विशेष के बारे में, अनुकूल संस्कार की समष्टि का ठीक ठीक ज्ञान प्रायः हो जाता है। बालक की प्रकृति का विचार करके उसके अनुरूप मन्त्र और देवता की व्यवस्था, जो तन्त्र शास्त्रादि में पाई जाती है, उसका तात्पर्य भी यही है। किन्तु योग दृष्टि न होने से केवल ग्रन्थों में बताये गए नियमों के अनुसार मानव की प्रकृति के विचार-निर्देश में त्रुटि की सम्भावना है। जैसी ज्योतिष शास्त्र में सांकेतिक प्रणाली है, वैसी ही तन्त्रशास्त्र में भी है। किन्तु शास्त्र का गुह्य तन्त्र न जानने तक एवं अपनी दृष्टि को साधना द्वारा निर्मल न कर पाने तक, कभी भी शुद्ध गणना नहीं होती। जिस प्रकार वर-कन्या के विवाह के पूर्व उनके उपादानों के मिलान का विचार किया जाता है, उसी प्रकार उपादानों के मेल के अनुसार ही मन्त्र और देवता निर्वाचित किये जाते हैं। जैसा स्वभाव वैसा देवता। किन्तु किसी के स्वभाव का संशयरहित परिचय एक मात्र योग-दृष्टि से ही प्राप्त होता है। अतएव दीक्षादान के समय प्रकृति और संस्कारों का विचार अत्यावश्यक है।

जिज्ञासु—अच्छा, विचार की आवश्यकता तो मान लिया; परन्तु देवता का निर्वाचन होने मात्र से ही साधक का उपासना कार्य चल सकता है-तब मन्त्र-विचार की क्या आवश्यकता? मन्त्र के साथ देवता का क्या सम्बन्ध?

योगिराज—देवता-निर्वाचन के पश्चात् मन्त्र विचार में शेष ही क्या रहा? मन्त्र और देवता में कोई पार्थक्य नहीं। देवता के स्वाभाविक नाम को ही अर्थात् जिस नाम के ग्रहण से देवता का आविर्भाव या अन्य क्रीड़ा हो, उसे ही मन्त्र कहते हैं। नाम न जानने से, अनन्त सत्ता के गर्भ से अपनी इष्ट मूर्ति का आकर्षण करके आवाहन का अन्य कोई उपाय नहीं है। नाम के साथ रूप का नित्य सम्बन्ध है। नाम-ग्रहण से रूप स्वयमेव प्रकट होता है। देवता है वाच्य और मन्त्र है उसका वाचक। दोनों में वाच्य वाचक सम्बन्ध है।

जिज्ञासु—गुरु, दीक्षा के समय मन्त्र ही देते हैं, इष्ट देवता का रूप तो दिखाते नहीं। तब क्या इष्ट मूर्ति ध्यान द्वारा कल्पना से बनानी पड़ती है?

योगिराज—वत्स, निश्चय ही गुरु केवल मन्त्र देते हैं किन्तु वह मन्त्र केवल अक्षरों का संयोग नहीं है। यदि ऐसा होता तो उससे विवेकशील

विचारवान् का भला क्या लाभ? वस्तुतः मन्त्र है—चैतन्य स्वरूप चित्शक्ति का विशिष्ट प्रकाश। वह शब्द द्वारा प्रकट होने पर भी स्वरूपतः जड़ पदार्थ नहीं है। थोड़ा सा भी अनुशीलन करने से मन्त्र की प्रबल शक्ति का पता लग जाता है।

गुरु जब शिष्य के कान में मन्त्रोच्चारण करते हैं, तब वे शिष्य में शब्द वाहिक ज्ञान और चैतन्य शक्ति का संचार करते हैं—यही देवता का स्वरूप है। सद्गुरु प्रदत्त मन्त्र केवल शब्द ही नहीं है, वह चैतन्य की घनीभूत मूर्ति है और देवता का आत्मप्रकाश है। गुरु इसका प्रत्यक्ष करके, प्रत्यक्ष अनुभूति के साथ शिष्य के हृदय में संक्रमण करते हैं। इसीलिए इस चैतन्य और सिद्ध मन्त्र को जपते जपते शिष्य के अन्तःकरण में दिव्य चैतन्य मूर्ति का आविर्भाव होता है। स्वाभाविक रूप से अभ्यास करने पर कल्पना की सहायता नहीं लेनी पड़ती। मन्त्र को कण्ठस्थ कर अपने मन से मूर्ति का रूप चिन्तन कर लेना कल्पना की क्रीड़ा है—प्रकृत उपासना का अंग नहीं। मन्त्र और देवता अभिन्न हैं—केवल प्रकाश काल के समय, तारतम्य वश भिन्न प्रतीत होते हैं। मन्त्र के साथ साधक के मन के संघर्ष से देवता की मूर्ति अन्तःकरण में स्वयमेव आविर्भूत होती है, उसके लिए भावना नहीं करनी पड़ती। मन्त्र चैतन्य न होने से केवल शब्द द्वारा इस प्रकार के ज्ञान का विकास स्वतः नहीं होता। नये साधक के लिए मन्त्र को चैतन्य करके जप करना अति कठिन है। इसलिए गुरु ही विचारपूर्वक मन्त्र निर्वाचन करने के पश्चात् उसे प्रत्यक्ष और सिद्ध करके अर्थात् चैतन्य सम्पादन करके शिष्य को प्रदान करते हैं। जो स्वयं असिद्ध और अज्ञानी हैं, वे गुरु कहलाने के अधिकारी नहीं है।

जिज्ञासु—मन्त्र से आपका आशय नाम से है या बीज से? बीज तो निरर्थक, अक्षर-संयोग मात्र है।

योगिराज—वत्स, मेरा आशय प्रधानतः बीज से ही है। बीज ही मूलमन्त्र है। शाखा, पत्र, फल-सभी बीज के अन्दर हैं। बीज के अभाव में वृक्ष भी नहीं होगा और तब ये सब सुन्दर वस्तुयें भी नहीं होंगी। देवतत्त्व के विचार से भी बीज ही प्रधान वस्तु है। बीज का महत्त्व और शक्ति, अपार अनन्त हैं। बीज मन्त्र के प्रभाव से ही देव-देवियों से लेकर समस्त जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। यह मैं एक एक करके प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ। बीज सर्वशक्तिसम्पन्न है। इसके साथ किसी अन्य की तुलना है ही नहीं। किसने कहा कि बीज का अर्थ नहीं है? ब्रह्मादि देवगण भी जिसके अर्थ का रहस्य नहीं पा सकते, क्षुद्र मनुष्य उसके सम्बन्ध में आलोचना करे—इससे बढ़कर धृष्टता और क्या होगी?

जिज्ञासु—प्रणव के साथ बीज का क्या सम्बन्ध है? बीज के बिना केवल प्रणव अथवा प्रणव बिना केवल बीज द्वारा साधना सम्भव है क्या?

योगिराज—वत्स, यह सब अत्यन्त गुह्य विषय है। तथापि तुम्हारे आग्रह की निवृत्ति के लिए संक्षेप में एक दो बातें बताता हूँ। प्रणव के साथ बीज का घनिष्ट सम्बन्ध हैं। एक के बिना दूसरा कार्य सम्पादन नहीं कर सकता। प्रणव बीज का ब्रह्मरूपी सेतु है। जैसे छिलके के बिना केवल चावल या चावल के बिना केवल छिलका अंकुरित नहीं हो सकता, वैसे ही प्रणव के बिना केवल बीज या बीज के बिना केवल प्रणव, फल नहीं देते। दोनों का एक दूसरे से सम्पृक्त होना अनिवार्य है। तथापि बीज में प्रणव का उपादान अधिक परिमाण में होने से, प्रणव को ग्रहण न करने पर भी, यथासमय वह स्वयमेव प्रकट हो सकता है। किन्तु केवल प्रणव निष्फल है। तब भी पूर्व संचित बीज के विकास में प्रणव सहयोगी होता है। धूप, जल, वायु आदि के पूर्ण मात्रा में रहने पर भी बीज के बिना वृक्ष नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार बीज न होने से केवल प्रणव द्वारा परमामृत का स्वाद नहीं मिल सकता। प्रणव का कार्य है—प्रस्फुटित करना, प्रकाशित करना, अव्यक्त सत्ता को अभिव्यक्त करना, किन्तु जिसे प्रस्फुटित करना है, प्रकाशित करना है, वह तो चाहिए ही। वही है सत्त्व या शक्ति-जो बीज मन्त्र का वाच्यार्थ है। यही विशुद्ध मन्त्र में से उद्भूत चैतन्य—देवता तत्त्व है।

जिज्ञासु—बाबा, क्या प्रणव का अधिकार सबको है?

योगिराज—नहीं। स्त्रियाँ एवं शूद्रादि, साक्षात् भाव से प्रणव साधना के योग्य नहीं हैं। क्यों योग्य नहीं हैं? यह प्रत्यक्षतया दिखाया जा सकता है। दीर्घकालिक संघर्ष के फल से ब्राह्मणादि की देह प्रणव-तेज से स्वभावतः तेजोमय होती है। उसी से वे प्रणवग्रहण के अधिकारी हैं। जिस अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रणव का अधिकार न होने से शूद्रादि को बहुत समय लगता है, वह अवस्था ब्राह्मणादि प्रणव-साहाय्य से शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। शूद्रादि प्रणय मन्त्र को धारण नहीं कर पाते। अतः जो लोग शूद्रों को प्रणयमन्त्र दान करते हैं वे वस्तुतः उनका अनिष्ट करते हैं। स्त्री मात्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। स्त्रीदेह की विचित्रता के कारण ही वह ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी प्रणव ग्रहण के योग्य नहीं। स्त्री देह में जन्म धारण करने से कुण्डलिनी शक्ति का स्थान अन्य प्रकार का है। तब भी ध्यान रखो कि पूर्वजन्म के अर्जित साधनासंस्कार रहने से यथासमय शरीर के भीतर से ही प्रणव उद्बुद्ध हो जाता है और बीज मन्त्र स्वयमेव प्रणव द्वारा पुटित हो जाता है। निश्चय ही यह अवस्था विरल है। किन्तु असम्भव नहीं। मतङ्ग आदि ऋषि और मैत्रेयी, गार्गी आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के दृष्टान्त का स्मरण कर सकते हो।

बीज से प्रणव का आविर्भाव हो सकता है। इसलिए प्रणव न देकर क्षेत्र विशेष में बीज मात्र देने की व्यवस्था है। किन्तु साधारण दशा में प्रणव मात्र द्वारा

कोई विशेष लाभ नहीं होता। उससे पूर्व वर्णित निर्वाण या सत्ता बोध के लोप होने तक की सम्भावना रहती है।

जिज्ञासु—क्या प्रणव या अन्यान्य मन्त्र प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं?

योगिराज—हाँ-हाँ, क्यों नहीं? नाभि से प्रणव आदि सभी मन्त्र उदित होते हैं। मूलाधार से भी कह सकते हो। कुण्डलिनी के स्वल्प भी जागृत होने पर, एक नादमयी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी से होकर ऊपर की ओर उठने लगती है। तभी सहस्त्रार से एक और धारा प्रवाहित होकर नीचे की ओर चल पड़ती है। अन्तर-आकाश में आज्ञा-चक्र के बिन्दु स्थान पर वे दोनों विरुद्ध प्रवाह सम्मिलित होकर, एक सुस्निग्ध उज्ज्वल कमनीय ज्योति का आकार धारण करते हैं। वही ज्योति बाहर प्रतिबिम्बित होने से नेत्रों के समक्ष चमकने लगती है। जो योगी नाभि-धौती और किरात-धौती के अभ्यस्त हैं, उनकी नाभि कुण्ड से, धौती के समय एक ज्योति प्रवाह स्तम्भाकार होकर बहिर्गत हो वक्र भाव से स्वतः ही शिर की ओर चलकर देह के अन्दर प्रविष्ट होता है। बाहर से वह ज्योति अत्युज्ज्वल विद्युत् सी धनुषाकार दिखायी देती है। मंत्रशक्ति के तीव्र भाव से बाह्याकाश में तीव्र ज्योति के रूप में प्रकाशित होने पर समीप स्थित दुर्बल जन के मूर्छित हो जाने का भी भय होता है। वत्स, जो कुछ भी अन्तराकाश में या दहर-कमल में प्रकाशित होता है, उसे बाहर लाकर, इन्द्रियगोचर करके, जीव स्वयं भी देख सकता है और अन्य को भी दिखा सकता है। परन्तु यह सब अति गोपनीय तत्त्व हैं, जिन्हें, अनधिकारी को दिखाना उचित नहीं।

जिज्ञासु—हृदय कमल, नाभि कमल आदि का जो वर्णन हम शास्त्रों में पढ़ते हैं, वह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष सत्य है। दया करके आपने जब मुझे नाभिकमल प्रत्यक्ष दिखाकर कुण्डलिनी और षट् चक्र के तत्त्व के सम्बन्ध में उपदेश दिया है, उसी दिन से मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है। अब भी मेरे नेत्रों में उसी अपूर्व दृश्य का चित्र उपस्थित हो जाता है।

योगिराज—वत्स, मैंने तुम्हें नाल सहित कमल, नाभि से निकाल कर दिखाया था। प्रयोजन पड़ने पर कभी हृदय कमल को भी बाहर करके दिखा दूँगा। नाभिकमल का रंग बालसूर्य की तरह रक्ताभ है किन्तु हृदय कमल का रंग वैसा नहीं है। प्रत्येक कमल बाहर किया जा सकता है और यह तर्क का विषय नहीं अपितु प्रत्यक्ष सत्य है। आजकल पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकों के दो चार पृष्ठ पढ़कर हम लोग सर्वज्ञ ईश्वर-कल्प ऋषिगणों के वचनों में श्रद्धा नहीं रखते—इससे अधिक दुःख का विषय और क्या होगा? यह केवल पाश्चात्य शिक्षा का ही दोष नहीं। देश में कर्मी और तत्त्वदर्शियों का अभाव हो चला है। साधना के गूढ़ तत्त्वों को प्रत्यक्ष करके दिखा देने और समझा देने की क्षमता

किसी में भी नहीं रह गई। यदि वह क्षमता किसी में होती तो धर्म के नाम पर इतना कपट और धोखा न फैलता और लोगों के मन में अविश्वास न होता। तुम जिस बात का उपदेश करो, यदि स्वयम् उसकी उपलब्धि नहीं की है और दूसरों को उसे प्रत्यक्ष दिखा सकने की क्षमता तुम नहीं रखते, तो तुम्हारे उस उपदेश का मूल्य ही क्या। यदि तुम कहो कि ऋषियों के वचनों का अनुसरण करके उपदेश देते हो, तो ठीक है। किन्तु तुमने स्वयं उन ऋषि वचनों को भली भाँति समझ लिया है, इसका क्या प्रमाण है? ऐसा होने पर निःसन्देह यह चेष्टा प्रशंसनीय है। तथापि यदि ऋषिवचनों को अच्छी तरह समझकर; उन्हें अपने अनुभव में ढाल कर तब उपदेश दो तो निश्चय ही उसमें और अधिक बल होगा।

जिज्ञासु—आपने जो ज्योति की बात कही थी, वह ज्योति, क्या मन्त्र का ही प्रकाश है?

योगिराज—निश्चय ही। कुशलतापूर्वक क्रिया करने से मन्त्र स्वयमेव ज्योति के रूप में प्रकट होता है। यह है दिव्य ज्योति। दीर्घकाल तक अभ्यास करने से ज्योति में रूप अथवा मूर्ति के दर्शन होते हैं। वह रूप की अङ्गप्रभा मात्र है अथवा ज्योति ही घनीभूत होकर मूर्तिरूप में लक्षित होती है। वाष्प और हिम में जिस प्रकार भेद नहीं है, उसी प्रकार ज्योति और रूप में भेद नहीं है। दोनों ही तत्त्वतः अभिन्न हैं। व्यवधान काल में जब तक ज्योति किरणों के अणु (प्रोटान) पृथक्-पृथक् हैं, तब तक वह ज्योति के रूप में दृष्टिगत होती और जब अणु (प्रोटान) परस्पर घनीभूत हो जाते हैं, तब वही ज्योति मूर्ति का रूप धारण कर लेती है। दोनों भावों में चैतन्यमयी ही प्रकाशित होती है। ज्योति को निराकार और मूर्ति को साकार तत्त्व मान सकते हो किन्तु इतना ध्यान रहे कि साकार और निराकार में भिन्नता नहीं है। जो साकार है, वही निराकार भी। (वस्तुतः निराकार, आकाररहित नहीं है)। इसीलिए साकार के माध्यम से निराकार की भी उपलब्धि हो सकती है। साकार के मध्य ही फँसे रहने की आशंका नहीं। और भी, जिसे निराकार कहा जाता है उसमें भी अनन्त आकार हैं। सम्पूर्ण आकारों के समसूत्र में अवस्थान करने से किसी भी आकार की अभिव्यक्ति नहीं होती—इसी साम्यावस्था को निराकार कहते हैं। वह अनन्त आकारों के समन्वय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिसके आकार का निर्णय नहीं, सीमा नहीं, परिच्छिन्नता नहीं, वही है निराकार। इसीलिए देवता को निराकार, ज्योति या चैतन्यस्वरूप कुछ भी कह सकते हो अथवा ज्योतिर्मय-आकार-विशिष्ट साकार भी कह सकते हो। साधक या भक्त की इच्छानुसार ही आकार बनता है। जब निराकार, अनन्त आकारों की साम्यावस्था है, जिसका कोई विशेष आकार निर्दिष्ट नहीं है, तब उपासक की आकांक्षा के अनुसार निराकार से उस इच्छित प्रकार के आकार की अभिव्यक्ति क्यों न होगी? मन्त्र

से ही ज्योति और रूप दोनों का विकास होता है, मन्त्र ही देवता का स्वरूप है—वाच्य और वाचक में वास्तविक भेद कुछ भी नहीं।

जिज्ञासु—क्या देवमूर्ति सत्य ही प्रत्यक्ष हो जाती है? अनेक लोग देवता के दर्शन की बात कहते अवश्य हैं किन्तु वह केवल कल्पना मात्र ही नहीं—इसमें प्रमाण क्या है? स्वप्नावस्था में कितने रूप दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वे सब मिथ्या हैं—यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार ध्यानावस्था में जो दर्शन होते हैं वे भी तो मिथ्या हो सकते हैं? तीव्र ध्यान करने से ध्यान के अनुरूप ही मूर्ति के दर्शन हो सकते हैं किन्तु उसकी सत्यता का प्रमाण क्या है?

योगिराज—इसीलिए तो बीजमन्त्र की आवश्यकता है। बीज में यदि शक्ति हो तो क्षेत्र में पड़ने पर अंकुर आदि के क्रम से, अन्य कोई प्रतिबन्धक न होने पर, वृक्ष बनता है। वैसे ही बीज को चैतन्य करके अर्थात् शक्ति संयुक्त करके बीजमन्त्र जपने से देवता का आविर्भाव निश्चित रूप से होगा। देवता के अवयवों या रङ्ग आदि का ध्यान करके मूर्ति का आविर्भाव करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह एक व्यावहारिक सत्य है। केवल छवि का ध्यान करने से सत्य वस्तु का आविर्भाव सरलता से नहीं होता। जिस दृष्टि से हम, तुम और जगत् सत्य दिखाई पड़ते हैं उसी दृष्टि से देवता की भी सत्यता है।

जिज्ञासु—क्या साधक देवता से साधारण भाव से बातें कर सकता है? क्या देवता साधक के लौकिक-अलौकिक कार्य करने में समर्थ है? यदि ऐसा है तो देवता को काल्पनिक नहीं कह सकते।

योगिराज—वत्स, समस्त जगत् तो माया का खेल है। इस समय जो भी देख रहे हो, सोच रहे हो, बोल रहे हो, वह सब मिथ्या भी है और सत्य भी। जिस भाव से जागतिक पदार्थ सत्य हैं, उसी भाव से देवता भी सत्य हैं। आविर्भूत होने पर देवता चलता-बोलता है। यदि भक्त कुछ पूछता है तो उसका उत्तर देता है। भक्त को सन्मार्ग पर चलाता है, उसका मनोरंजन करता है, उसकी कामना पूर्ण करता है और उसके कल्याण के लिए सब कुछ करता है। जिस तरह हम बोल रहे हैं, वाद प्रतिवाद कर रहे हैं, वैसे ही देवता के साथ भी वाद प्रतिवाद होता है, हास्यादि होता है। इसमें अविश्वास का कोई कारण नहीं। भक्त, देवता का स्पर्श करता है, गोद में ले सकता है, प्रेमपूर्वक चुम्बन कर सकता है और पुत्र भाव से उसकी गोद में सिर रखकर सो भी सकता है। भक्त, देवता को जिस भाव से सजाना चाहे, वह उसी भाव से सज जाता है। देवता सर्वतो भावेन भक्त के अधीन है।

जिज्ञासु—बाबा, देव दर्शन के पश्चात् क्या जीव को कुछ और माँगना शेष रह जाता है?

योगिराज—जिसका जो इष्ट है, यदि वह उसे मिल जाय तब भला माँगने के लिए क्या शेष रह जायेगा? किन्तु इष्ट प्राप्ति का एक क्रम है। जब तक प्राप्ति की पूर्णता न हो जाय, प्रार्थना अवशिष्ट रहती है। परन्तु चरमावस्था प्राप्त होने पर प्रार्थना छूट जाती है।

मन्त्र से स्फुरित ब्रह्मतेज देवता है। आराधना काल में साधक को स्वयं देवता बनना पड़ता है। स्वयं तेजोमय होकर उसी तेज को बहिर्गत करके अर्थात् अपने को अपनी सत्ता से पृथक् करके अपना ही दर्शन करना पड़ता है। यदि न्यासादि यथाविधि सम्पन्न हो, तब साधक का शरीर और चित्त, दोनों ही मन्त्रमय हो सकते हैं किन्तु ऐसा योगाभ्यास से ही सम्भव है। चिरकाल से साधुवृत्ति से रहकर योगाभ्यास करने पर स्वसत्ता देवतामय हो जाती है। देवता की ज्योति, रूप, शक्ति और सत्ता, सभी साधक के साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं। मन्त्र शक्ति के माहात्म्य से और क्रिया के प्रभाव से साधक स्वयं ही साध्य रूप में प्रकाशित होता है, तथापि दोनों में तनिक भिन्नता रहती है। भक्त उस भेद का यत्नपूर्वक पोषण करता है। उसके न रहने से बोधहीन, सुषुप्तिवत् और घोर मोह से आच्छन्न होने का भय रहता है। "देवो भूत्वा देवं यजेत्"—यह बात सर्वथा सत्य है। साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि देवता की पूजा करने में, उपासक और उपास्य का भेद तिरोहित हो जाता है। जब तक बोध रहता है तब तक भेद भी पूर्णत: नहीं छूटता और इसीलिए भक्त का भजन कभी भी नहीं छूटता। कर्म पूर्ण होने पर, वह ज्ञान में तो अवश्य परिवर्तित हो जाता है किन्तु ज्ञान के प्रभाव से भी पराभक्ति की निवृत्ति नहीं होती। वस्तुत: ज्ञान की पूर्णता से ही भक्ति का उन्मेष और विकास सम्भव है।

जिज्ञासु—बाबा, क्या मन्त्र बिना योगलाभ नहीं हो सकता? लययोग, हठयोग, राजयोग आदि की ही तरह मन्त्रयोग भी योग का एक प्रकार मात्र ही है। फिर मन्त्र की इतनी महिमा क्यों?

योगिराज—नहीं, वत्स, नहीं। मन्त्र बिना योगलाभ नहीं हो सकता। मन का त्राण करने के कौशल को ही मन्त्र कहते हैं। मन की जड़ता का नाश करके चैतन्य सम्पादन करना ही मन्त्र का कार्य है। चाहे किसी उपाय से मन चैतन्य करने की चेष्टा करो, मन्त्र की सहायता लेनी ही पड़ेगी। क्योंकि ब्रह्म-पथ या सुषुम्ना मार्ग न खुलने तक कोई भी उपाय सफल नहीं होता।

*

सप्तम अध्याय

साधना-जीवन का विश्वास और विचार

जिज्ञासु—बाबा प्रकृत विश्वास किसे कहते हैं? विश्वास का स्थान साधना-जीवन में क्या है? कोई कहता है कि विश्वास करना ठीक नहीं, उससे मन की दुर्बलता बढ़ती है। परीक्षा किए बिना कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। कोई ऐसा भी कहता है कि विश्वास से वस्तु मिलती है और तर्क से वह दूर ही रहती है। इस विषय में आपका विचार क्या है?

योगिराज—वत्स, दोनों ही बातों में कुछ कुछ सत्यता है। ज्ञान होने से पूर्व के विश्वास को अन्धविश्वास कहते हैं। वास्तविक विश्वास ज्ञान के पश्चात् ही उत्पन्न होता है। विश्वास था प्रह्लाद को, ध्रुव को और वे सर्वत्र, घोर विपत्ति के बीच भी भगवान् के मंगल-सुखद हाथ के स्पर्श का अनुभव करते थे। अज्ञानी कभी भी भगवत्प्रपन्न नहीं हो पाता और ज्ञानी भगवत्प्रपन्न होकर सर्वत्र ही उस आश्रयदाता के अभय-हस्त का दर्शन करता है। वस्तुत: ज्ञान का लक्षण यही है। वह सर्वव्यापक मंगलमय विराट् सत्ता की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर पाता है, इसी से स्व अनुभाव को त्याग कर आत्मसमर्पण कर देता है, विचार वितर्क नहीं करता और ऐसा करने का प्रयोजन भी अनुभव नहीं करता। वह समझ लेता है कि उसके भीतर बाहर एक अद्वितीय शक्ति की क्रीड़ा चल रही है। अत: वह केवल नयन भर कर उसकी प्रेममयी लीला का अविरत दर्शन कर धन्य होता है। यही वास्तविक विश्वास है। यह बड़ी ऊँची अवस्था है। इस अवस्था में कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु संशय भञ्जन न होने तक वास्तविक विश्वास नहीं आता। मन का संकल्प विकल्प ही संशय है। ज्ञानोदय के पश्चात् मन की विकल्प-वृत्ति नष्ट हो जाती है। तब केवल विशुद्ध संकल्प ही शेष रहता है। वस्तुत: तब मन भी नहीं रहता क्योंकि वह संकल्प विकल्पात्मक होता है। उस समय मन, प्रज्ञा या बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है। बुद्धि (की वृत्ति) निश्चयात्मक होती है; यह संकल्प का शुद्ध रूप है। इस अवस्था में संशय भी नहीं रहता, भ्रम भी नहीं रहता। इस संकल्पमय अवस्था के दो प्रकार हैं—ज्ञानमय और इच्छामय। जिस अवस्था में संशय नहीं रहता वही विश्वास की सही अवस्था है। ऐसे विश्वास को ही ध्यान में रखकर कहा गया है—"विश्वास से वस्तु मिलती है और तर्क से वह दूर ही रहती है।"

जिज्ञासु—'फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्' ऐसा शास्त्रवचन है। जिसकी सिद्धि निकट है उसके चित्त में संशय नहीं होता, उसके मन में सफलता की दृढ़ धारणा रहती है। तभी सफलता भी मिलती है।

योगिराज—यह सत्य है। दृढ़ प्रतीति का नाम है विश्वास। यह कभी व्यर्थ नहीं होता। वाक् सिद्धि, संकल्पसिद्धि—सब इस विश्वास के ही रूपान्तर हैं। सत्य में प्रतिष्ठित न होने तक विश्वास पैदा नहीं होता और विश्वास बिना वस्तु मिलती नहीं। अतएव सिद्धि का मूल है—सत्य प्रतिष्ठा।

जिज्ञासु—तब विश्वासघात क्यों? विश्वास करके जो धोखा खाता है, निष्फल होता है, उसका क्या कारण है?

योगिराज—जिसे प्रकृत विश्वास हो जाता है, वह कभी धोखा नहीं खाता। अन्धविश्वास ही धोखा का कारण बनता है। जब तक ज्ञानोदय नहीं होता तब तक अन्धविश्वास ही रहता है। ज्ञानी का विश्वास कभी अन्धा नहीं होता, वह कभी भी विश्वास करके धोखा नहीं खाता। उसकी प्रतीति मिथ्या नहीं होती। यहाँ तक कि सहसा मन में कोई बात आ जाने पर वह भी सत्य हो जाती है। जैसे, चूने का पानी देखकर सहसा यदि दूध का भान हो जाय—यह नहीं कि उसने इस तरह की कोई इच्छा की हो—तथापि यह अकस्मात् हुआ भान भी सत्य की ऐसी महिमा है कि सत्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर असत्य प्रतीति भी सत्यप्रतीति बन जाती है।

जिज्ञासु—यहाँ एक बात पूछना चाहता हूँ। जो योगी सत्य में स्थित है, उसकी इच्छा अमोघ है—उसे सफल होना ही है। अतएव यदि उपर्युक्त सफेद जल को दूध हो जाने की इच्छा करें तो वह दूध हो जायेगा। किन्तु यदि मूल में संकल्प न हो, केवल प्रतीति हो, तब तो प्रतीति के सत्य होने की बात नहीं रही। एक बात और भी है कि उन्होंने जल को दूध समझ लिया सत्यनिष्ठ पुरुष को ऐसा मिथ्या दर्शन हुआ ही क्यों? भले ही अन्य लोग उस जल को दूध समझने की भूल कर सकते थे। योगी की इस प्रतीति में मिथ्या का लेश तो रह ही गया।

योगिराज—तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न किया। मैं तुम्हें भली भाँति समझाता हूँ। जो योगी या ज्ञानी हैं, वे कभी मिथ्या नहीं देखते। जैसे बादल की सामर्थ्य नहीं कि वह सूर्य तक पहुँचे, वैसे ही ज्ञानी तक असत्य पहुँच ही नहीं सकता। ज्ञानी एकमात्र सत्य वस्तु ही देखते हैं। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है—ज्ञानी सर्वत्र सर्वदा उसी का दर्शन करते हैं। वे कहीं भी मिथ्या वस्तु नहीं देखते। हम जिसे मिथ्या कहते हैं अथवा जो हमारे अज्ञान के कारण मिथ्या प्रतीत होता है, वही ज्ञानी के प्रज्ञानेत्र में उस अद्वितीय सत्ता की प्रतिमा मात्र है। इसलिए जब योगी (योगयुक्त होकर) सर्वत्र आत्मदर्शन में मग्न रहता है, तब यदि संस्कार का उदय हो जाय तो वह घनीभूत होकर उसी समय आकार धारण कर लेता है। यह संस्कार का उदय स्वभाव से ही हो जाता है। प्रकारान्तर से

कहा जा सकता है कि स्वभाव के वश, जब आत्म चैतन्य में निहित संस्कारविशेष उद्‌बुद्ध हो जाता है, तभी सृष्टि उत्पन्न होती है। आत्मा का इसके होने या न होने में कोई हाथ नहीं है। इसे स्वाभाविक सृष्टि कहते हैं और इसका मूल इच्छा नहीं है। ज्ञानी या योगी जब युञ्जान अवस्था में होते हैं (यह भी एक योगावस्था ही है), तब उनकी उपाधि शुद्ध होती है यह उपाधि इच्छानुसार आकार ग्रहण कर सकती है। इच्छा का उदय होते ही तदनुसार सृष्टि का उदय स्वयमेव हो जाता है। यह सृष्टि इच्छामूलक (सृष्टि) कही जाती है।

युक्त ज्ञानी की सृष्टि अबोध पूर्वक-स्वाभाविक है। युञ्जान ज्ञानी की सृष्टि बोधपूर्वक—इच्छापूर्वक है। युक्त ज्ञानी को स्रष्टा न कहने से भी कोई विशेष हानि नहीं क्योंकि वहाँ स्वभाव ही मूल है। युञ्जान ज्ञानी की सृष्टि अभावमूलक है और यह स्रष्टा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह योगी है। योग न होने से, स्वभाव के साथ सम्बन्ध न करने पर सृष्टि न कर पाते। चैतन्य की दो अवस्थायें हैं शुद्ध और औपाधिक अवस्था में विशुद्ध (विकल्प रहित) संकल्प है, शुद्ध बोध है इच्छा शक्ति है—यह है ईश्वर स्वरूप। इसलिए वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं, एक ही हैं। केवल समझने के लिए अलग-अलग किया गया है।

कुछ लोगों का कथन है कि चैतन्य की निष्क्रिय और निर्गुण अवस्था है ब्रह्म और सक्रिय तथा सगुण अवस्था है प्रकृति। इसलिए ईश्वर और प्रकृति पर्याय हैं। दोनों महाशक्ति होकर भावातीत हो जाते हैं।

जिज्ञासु—हमारे प्रश्न का उत्तर तो आपने दिया नहीं। सृष्टि तत्त्व के प्रसंग में यह सब बाद में पूछूँगा।

योगिराज—तुम्हारा प्रश्न था कि ज्ञानी को मिथ्या दर्शन क्यों होता है? वस्तुतः इस प्रश्न में कोई सार नहीं है। क्योंकि ज्ञानी को मिथ्या दर्शन होता ही नहीं। तुम जल देखते हो फिर कुछ देर बाद देखते हो कि वह दूध हो गया। यदि तुम जल को दूध देखते, मन में भी दूध समझते, विश्वास करते तब भी वह मिथ्या ही होता। क्योंकि तुम्हारे विचार में जल और दूध की सत्ता पृथक्-पृथक् है। वे भिन्न पदार्थ हैं। ज्ञानी सब जगह और सदैव एक मात्र आत्म सत्ता को ही देखते हैं, इसलिए उनके लिए कभी भी मिथ्या दर्शन की सम्भावना ही नहीं। उनके लिए जो जल है, वही दूध भी है अर्थात् दोनों ही आत्म वस्तु हैं। यदि ऐसा न होता तो वे ज्ञानी न कहे जाते। ज्ञान नेत्र खुल जाने पर जैसे संशय नहीं रहता, वैसे ही भ्रान्ति दर्शन भी नहीं। वस्तुतः ज्ञानी के लिए पृथग्भूत सृष्टि ही नहीं। बुद्‌बुदों की जल में ही उत्पत्ति, स्थिति और लय भी है, इसलिए बुद्‌बुदा जलमय ही है। जो ज्ञान चक्षु से अद्वैत जल सत्ता ही देखते हैं, उनके लिए सृष्टि, स्थिति और लय—सभी एक हैं। ब्रह्माकाश में सभी वस्तुओं की ब्रह्मात्मक भाव में ही नित्य स्थिति है। ज्ञानी जब युक्तावस्था में डूबे रहते हैं, उस स्थिति में वे

कुछ भी नहीं देखते। इसे ही 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं। इस स्थिति से निकलने पर वे सर्वदर्शी और सर्वज्ञ हो जाते हैं—ईश्वर समान। किन्तु इस अवस्था में भी बोध रहता है, क्योंकि जीव की सर्वज्ञ अवस्था ब्रह्म रूप में प्रतिभात होती है। ज्ञानचक्षु खुलने पर ईश्वर साम्य होता है, शिवत्व जागता है। यह शिव ही है—आद्या शक्ति। उसके ऊपर भी अवस्था है, जिसमें शिवत्व का भी लय हो जाता है। यह शक्ति की अन्तर्लीना अवस्था है। इस अवस्था में किसी भी तत्त्व की पृथक् सत्ता दिखाई नहीं देती। एकमात्र तत्त्वातीत वस्तु रह जाती है, जिसे स्वभाव या परमार्थ कहा जाता है। यही है महाशक्ति या परम शिव।

स्वभाव की प्रेरणा से युक्त ज्ञानी के भी संस्कार जागृत हो जाते हैं। ध्यान रहे कि 'युक्त-ज्ञानी', 'आत्म स्वरूप' और 'चैतन्य' एक ही हैं। संस्कार जागने से ही सृष्टि का उदय होता है। वस्तुत: संस्कार की बात भी ठीक नहीं है। 'सृष्टि बीज' शब्द बहुत परिस्फुट है। इस बीज के जागने से ही सृष्टि होती है। चैतन्य का प्रकृति-रूप ग्रहण करना या ऐश्वर्य का विकास ही बीजजागरण है। ईश्वर इसी बीज द्वारा सृष्टि की रचना करते हैं। उसके मूल में अभाव है, इसीलिए इच्छा है, ज्ञान है, चेतना तथा संज्ञा है। इच्छा आदि का कारण यही बीज है। यह बीज-समष्टि (Collection) ही ज्ञेय जगत् है। यह ज्ञेय जगत् और ज्ञाता, देखने में एक जैसे लगने पर भी, इनमें भेद है। अन्यथा ज्ञेय और ज्ञाता; ये दो नाम न होते। यह भेदाभेद है। ईश्वर साम्यावस्था की विशेषता यही है।

जब विकल्प का उदय होता है, संशय जागता है, तब अभेदांश नष्ट हो जाता है, केवल भेद ही रह जाता है। अर्थात् ईश्वर के पद-भ्रष्ट होने पर बद्ध या खण्डित जीव भाव का उदय होता है। ईश्वर भाव में भी जीव-भाव है, परन्तु वह जीव भाव शुद्ध है और अखण्डावस्था में है, इसीलिए अभेद में भी भेद भाव दिखाई पड़ता है। ईश्वर भाव में जीवभाव और ईश्वरभाव, दोनों हैं।

खण्ड जीव भाव में वृत्ति संशय प्रधान होती है। वक्र गति इसकी विशेषता है और कम्पनायुक्त न्यूनाधिक वायु इसका प्राण है जो इडा पिंगला में होकर संचार करता है। इस संचार को ही श्वसन क्रिया कहते हैं। श्वास के सम होने पर विश्वास की उत्पत्ति होती है।

श्वास के साम्य से या इडा पिंगला के सम होते ही वक्रता दूर होती है, स्थूलता कट जाती है; संकल्प और ज्ञान विशुद्ध होते हैं और जीवभाव निर्मल होकर ईश्वरत्व का विकास होता है। स्वभाव के साथ योगस्थापन होता है, जिसमें अभाव का उदय होने के साथ ही जीवभाव की निवृत्ति हो जाती है।

वस्तुत: यही निर्भरता की अवस्था है। विश्वास क्या सामान्य वस्तु है? जो वस्तुत: विश्वासी हैं, उनकी कोई चेष्टा ही नहीं रह जाती। अभाव के जागते ही

स्वभाव उसे भर देता है। इस अवस्था के प्राप्त न होने तक क्या भक्ति सम्भव है? तुमने केवल उन्मादिनी भक्ति ही देखी है, इसीलिए ज्ञान से डरते हो। ज्ञान के बिना भक्ति का स्रोत सूख जाता है। वास्तव में, तुम जिस ज्ञान को जानते हो; वह शुष्क ज्ञान मात्र है, उसमें कुछ भी सार नहीं है किन्तु वास्तविक ज्ञान सरस है, नीरस कथमपि नहीं।

जिज्ञासु—आपका कथन है—''श्वास विगत होने के पश्चात् ही विश्वास का जन्म होता है, इससे पूर्व नहीं।'' तब जो विश्वासवान् हैं, ज्ञानी हैं और भक्त भी हैं, क्या उन्हें श्वास नहीं?

योगिराज—इसमें भला क्या सन्देह? श्वास से ही संशय का उदय होता है, विकल्प आविर्भूत होता है। जगद्रूप इन्द्रजाल रचित होता है। किन्तु जब श्वास-प्रश्वास नहीं रहता और वायु सुषुम्ना में प्रवाहित होती है, तब कर्तृत्व का अभिमान और अहंकार नहीं रहता। संशय का नाश होता है और ज्ञान तथा भक्ति का उन्मेष होता है। इसे ही कहते हैं—विश्वास; शक्ति के हाथ का यन्त्र बन जाना, स्वभाव में चलना, गुरु शक्ति के अधीन होना और यही है—निर्भरता, शरणापत्ति तथा आत्मनिवेदन। ऐसी स्थिति में वायु (श्वास) सुषुम्ना नाड़ी के मध्य सम चलती है—रेचक और पूरक, अर्थात् बाह्य वायु का आदान प्रदान निरुद्ध हो जाता है। अजपा रहस्य के विमर्शावसर पर इस विषय में कुछ विस्तारपूर्वक बताऊँगा।

बाह्य वायु के साथ सम्बन्ध होते ही संशय और विकल्प उत्पन्न होते हैं। अतएव स्थूल, बाह्य वायु का (श्वास द्वारा) आकर्षण न करने से संशयोत्पत्ति होती ही नहीं। तथापि सूक्ष्म वायु सुषुम्ना के अन्दर चलती रहती है। किन्तु चूँकि वह क्रीड़ा अन्तर में स्वभावत: ही सरल पथ से होती है, अत: वह ज्ञान प्रकाशक है, आवश्यक है और बाधक नहीं होती। विश्वास के दृढ़मूल होने पर अन्त:श्वास की गति भी स्थगित हो जाती है—यही प्राप्ति की अवस्था है। तब संकल्प भी नहीं रहता। विश्वास और निर्विकल्प दशा प्राय: एक ही है। यह अत्युच्चावस्था है।

जिज्ञासु—आपसे अनेक बार सुना है—''सहसा किसी का भी विश्वास मत करो, ऐसा करने से ठगे जाओगे।'' क्या यह यथार्थ मत है?

योगिराज—यह कथन निश्चय ही सत्य है जिसे ज्ञानोदय न हुआ हो, जिसका विश्वास अन्ध है, वह तो मायिक व्यापार में मोहित होगा ही। वह तो स्वयमेव स्वयं को ठगता है। अत: उसे यदि दूसरा कोई ठगे, तो इसमें आश्चर्य क्या? अत: सर्वथा सावधान होकर रहना चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए। वस्तुत: ज्ञान न होने तक चित्त मलिन रहता है। वञ्चना के बीज चित्त में ही निहित

होते हैं अतः संसार में वह सर्वत्र धोखा खाता है अज्ञानी को सभी ठगते हैं। उसका अपना मन, अपनी इन्द्रियाँ भी उसे सत्पथ पर नहीं ले जाते। सभी उसके साथ वैरभाव रखते हैं। किन्तु मन, इन्द्रियाँ आदि ज्ञानी को नहीं ठग पाते। ज्ञानी, इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी अनुभव करता है, वह सब कुछ ब्रह्ममय होता है। मन द्वारा उसे जो बोध होता है, वह भी ब्रह्मात्मक है, इसलिए उसे सर्वथा ब्रह्म सत्ता का ही अनुभव होता है। उसमें मिथ्या का आविर्भाव नहीं होता। इन्द्रियादि के, प्रवृत्ति या निवृत्ति, किसी भी अवस्था में होने पर भी ज्ञानी का ब्रह्म दर्शन खण्डित नहीं होता।

अतएव साधारणतया बिना सोचे समझे किसी बात को मान लेना उचित नहीं। विचार में भ्रान्ति की सम्भावना होने पर भी, विचार करना आवश्यक है। सद्विचार कुतर्क नहीं है। कुतर्क को विचार नहीं कहते। आजकल अन्धविश्वास बहु-प्रचलित है। यह भी कुतर्क की भाँति सर्वथा त्याज्य है। अन्धविश्वास ने कितने ही लोगों का सर्वनाश किया है। अतः जिस किसी का विश्वास मत करो। बिना परीक्षण, विश्वास मत करो। तुम्हारे पास सत्यानुसन्धान के जितने भी साधन या उपाय हैं, सब का प्रयोग करने के पश्चात् ही, यथार्थ का ज्ञान हो जाने पर ही, विश्वास करो। 'सन्तः परीक्ष्यान्तरद् भजन्ते ' 'कौवा कान ले गया'—यह सुनते ही सहसा कौवे के पीछे मत भागो, पहले टटोल कर देख लो कि तुम्हारा कान है अथवा नहीं? यदि नहीं, तो सोचो कि उस स्थान पर कौवा आ भी सकता है या नहीं? यदि ऐसा सम्भव है तब, पता लगाओ कि किसी ने तुम्हारी ओर कौवे को आते-जाते देखा है? यदि 'देखा है'—ऐसा किसी ने कहा, तब पता लगाओ कि वह विश्वसनीय है या नहीं? और यह भी विचार करो कि ऐसा कहने में द्वेषादि तो कारण नहीं। क्योंकि केवल सुनी हुई बात का कोई विशेष मूल्य नहीं। अतः इन सब विचारों के पश्चात् ही उस बात पर विश्वास करो। इतना करने के बाद भी यदि तुम्हें पूर्ण विश्वास नहीं होता तब शंका का समाधान नहीं होगा। किन्तु व्यावहारिक जगत् में इतना ही सम्भव है। इसके बाद भी यह विश्वास मिथ्या हो सकता है। तथापि लौकिक दृष्टि से तुम्हें खेद करने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि पूर्णतः परीक्षा करने के पश्चात् ही विश्वास किया। इतने पर भी विश्वास न करने से व्यवहार कठिन हो जायेगा। यद्यपि यह विश्वास, प्रकृत विश्वास नहीं—क्योंकि यह ज्ञानोदय के पूर्व किया गया है तथापि इसे अन्धविश्वास भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें पर्याप्त विचार हुआ है और मूलतः प्रत्यक्षाश्रित है। अन्धविश्वास से मन निस्तेज हो जाता है। युक्ति और विचार से पराङ्मुख होना कायरता का लक्षण है—वास्तविक हैं उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

जिज्ञासु—जो असम्भव हो, उसका विश्वास करना क्या अन्धविश्वास नहीं? अनेक लोग निःसंकोच बहुधा असम्भव विषय भी मान लेते हैं। क्या यह अन्ध-विश्वास का निदर्शन नहीं।

योगिराज—क्या सम्भव है और क्या असम्भव?—इसका भी कोई मानदण्ड है क्या? 'सर्व सर्वात्मकम्'—सभी वस्तुओं में सभी वस्तु है। सब सर्वमय है। केवल यही नहीं, आत्मा में विश्व भी है और विश्व में आत्मा है ही। जो देखना जानता है, वही देख पाता है। जो शक्तिशाली और तत्त्वज्ञ हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि कुछ भी असम्भव नहीं। ज्ञान पर से आवरण हट जाने पर अचिन्त्य शक्ति की महिमा उपलब्ध की जा सकेगी। तब तुम देखोगे कि इस समय जिसे सोच भी नहीं सकते, वह भी असम्भव हो सकता है। इसी अघटन घटना पटीयसी शक्ति के प्रभाव से वह भी संघटित हो सकता है, अनेक स्थलों पर हो भी चुका है। अतएव,

'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केन योजयेत्'

अर्थात् अचिन्त्य भाव के सम्बन्ध में व्यर्थ तर्क मत करो। जो सक्षम हैं, ब्रह्मविद् हैं, योगी हैं, जो प्रकृति के रहस्य को जानने वाले हैं; जो मायाधीश के अनुग्रह से माया का अतिक्रम कर चुके हैं और माया के सञ्चालन की सामर्थ्य अर्जित कर चुके हैं; वे क्या नहीं कर सकते? जो योगी, ईश्वर के समान योगैश्वर्य के अधिकारी बन चुके हैं, वे असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं अर्थात् वे प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं कि वस्तुतः असम्भव कुछ भी नहीं। जिसकी जितनी क्रिया शक्ति है, वह उसी के अनुसार धारण कर पाता है, उससे अधिक नहीं। एक जिसे नहीं कर सकता, उससे अधिक शक्तिशाली दूसरा उसको कर लेता है और तीसरा उससे अधिक भी कर लेता है। शक्ति से आवरण जितना ही कम हो जाता है, सम्भावना की मात्रा उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। जब शक्ति अनावृत और मुक्त हो जाती है, तब सब कुछ सम्भव हो जाता है। विज्ञानविद् योगी महाशक्ति की कृपा से कुछ भी असम्भव नहीं समझते।

वस्तुतः जगत् में कुछ भी होना आश्चर्यमय नहीं है और आश्चर्यमय भी है। जो सच्चे योगी हैं, उन्हें किसी भी बात से आश्चर्य नहीं होता क्योंकि उन्होंने ऐसी स्थिति उपलब्ध कर ली है, जहाँ यावतीय विरुद्ध भावों का सर्वथा समन्वय हो गया है और जहाँ से सभी भावों का उदय हो सकता है। वे जानते हैं कि सब कुछ होना सम्भव है। जब सब कुछ भाव रूप है और परम सत्ता अखण्ड भाव से विश्व में व्याप्त है, तब असम्भव भला है क्या? देश, काल और निमित्त योगी की दृष्टि को बाधा नहीं पहुँचा सकते। जहाँ जिस भाव की अधिकता है, उत्कृष्टता है, वहाँ उसी भाव की सत्ता प्रकट रूप में दिखलाई पड़ती है, अन्य भाव दबे रहते हैं। किन्तु दबे रहने पर भी उन भावों की सत्ता रहती है; प्रतिबन्धता के कारण वे व्यक्त नहीं हो पाते। विज्ञान द्वारा या प्रबल शक्ति से उस प्रतिबन्ध को हटा देने पर कोई भी भाव, जहाँ चाहें वहाँ प्रकट किया जा सकता है। इसे मैं हजारों लाखों प्रकार से प्रत्यक्ष दिखा चुका हूँ। जो भाव प्रबल होता है, वह अन्य भावों को दबाकर स्वयं प्रकट दिखाई देता है। सांसारिक लोग उसी प्रकट भाव को एक विशिष्ट वस्तु के रूप में देखते हैं। किन्तु ज्ञानी जन को ज्ञान दृष्टि से वे दबे हुए भाव भी दिखाई पड़ते हैं। वे इच्छा मात्र से किसी भी अव्यक्त भाव को व्यक्त कर सकते हैं। यह जो अव्यक्त

भाव की बात कर रहा हूँ, वही मूल बात है। इसीलिए ज्ञानी किसी बात से आश्चर्य चकित नहीं होते। वे प्रकृति के चातुर्य को पकड़ लेते हैं और धोखा नहीं खाते। जिस कौशल से, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश संचालित होता है, वे उसे जानते हैं। इसीलिए वे किसी भी वर्म्यविशेष से मुग्ध न होकर सदैव स्वरूपस्थ रहते हैं। इन्द्रजाल से मुग्ध हो जाना अथवा आत्मस्वरूप का दर्शन न कर पाना ही आत्म-विस्मृति का प्रधान निदर्शन है। ज्ञानी-योगी इसीलिये उदासीन, समदृष्टि, निर्लेप और निरंजन हैं। यह हुआ एक पक्ष।

दूसरा पक्ष यह है कि जो ज्ञानी या योगी हैं, वे देखते हैं कि इस जगत् में जो कुछ भी है, आश्चर्यमय है। एक धूलिकण में वे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड की सत्ता का अनुभव करते हैं। हम जो कुछ देखते हैं, यदि उससे अधिक से हमारा परिचय है, तब हमें कोई विस्मय नहीं होता। ज्ञानियों की दृष्टि अपूर्व है—वे सर्वत्र उसी महाशक्ति का विलास देखकर विस्मित होते रहते हैं. वे सूक्ष्मतम परमाणु में उस महान् परम सत्ता के महत्त्व को देख पाते हैं—एक बूँद वीर्य से यह सुन्दर, अपूर्व चमत्कारशाली देह उद्भूत होती है; एक नन्हें बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है; एक चिनगारी से दावानल की सृष्टि होती है। एक छोटे से फूल या फल में जो सृष्टि कौशल दिखाई पड़ता है, सूक्ष्म (तत्त्व) दर्शी और धीर-प्रकृति वाले उसे देखकर स्तम्भित हो जाते हैं। इस जगत् की छोटी-सी घटना से महाप्रलय की सूचना मिल जाती है। महापुरुष के क्षणमात्र के दृष्टिपात से चिरकालव्यापी सत्य स्थापित होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जिसे आज घोर विपत्ति सोचते हो, बाद में वही परम मंगलमय होगा। ज्ञान चक्षु से जो भी देखोगे, सोचोगे; वह सब कुछ अद्भुत दिखाई देगा। विस्मय का कहीं भी अन्त नहीं है। अचिन्त्य महाशक्ति की लीला का दर्शन करके धन्य होओगे, कृतकृत्य होओगे और हृदय में परम भाव का उदय होगा। विश्व की यह नाट्यक्रीड़ा, ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को भी नहीं दिखाई पड़ती।

अतएव जगत् में कुछ भी आश्चर्यमय नहीं है और सब कुछ परम आश्चर्यमय है। जो कठोरतम है, वही सरलतम और सहजतम है. जो दूरतम है वही निकटतम भी—अपनी गोद में ही है—इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा? एक ही क्षण में वर्तमान में सारा भूत और भविष्य विद्यमान है, बिन्दु में सिन्धु है। जो छोटा है, वह बड़ा और जो बड़ा है वह छोटा सा प्रतीत होता है। जिसके कारण ऐसा है, उसी के अन्दर प्रविष्ट होने से ज्ञात होता है कि कुछ भी असम्भव नहीं। पता लगता है कि जो 'अणोरणीयान्' है वही 'महतोमहीयान्' भी है। वस्तुतः वह न तो अणु है और न महत् ही।

जिज्ञासु—तब तो अन्धविश्वास की बात को ही भूल कहना पड़ेगा। क्योंकि जब असम्भव कुछ है ही नहीं, तो सोच-विचार की क्या आवश्यकता? सभी विश्वासयोग्य हैं, अविश्वसनीय तो कुछ है ही नहीं।

योगिराज—जो निश्चित धारणा कर सके कि सब कुछ सम्भव है, जो अनेकानेक अचिन्त्य घटनाओं को देख चुका हो और देख रहा है, जो प्राकृतिक शक्ति की विचित्रता और महिमा को जानता है उसके लिए इसका विश्वास करना अन्धविश्वास नहीं अपितु विश्वास न करना मूर्खता है। वायुयान से आकाश में उड़ा जा सकता है। आज कल लोग इसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यदि कोई इसे न मानना चाहे, तो उसे अनेकशः दिखाना और समझाना पड़ेगा। इतने पर भी यदि उसे विश्वास न हो तो वह उसकी मूर्खता है। निश्चय ही वह पागल है। जिसने कभी भी वायुयान न देखा हो और न देखने की सम्भावना हो, जिसे कोई ऐसा ज्ञानी पुरुष भी न मिले कि जो उसे यह समझा सके अपितु जिसे ऐसी प्रतीति हो कि आकाश में वायुयान के उड़ने की बात मिथ्या और कोरी गप है, उसके लिए जिस किसी से वायुयान उड़ने की बात पर विश्वास कर लेना अवश्य ही अन्धविश्वास कहा जा सकता है। वायुयान के आकाश में उड़ने की बात सत्य होने पर भी उपर्युक्त अवस्था में विश्वास कर लेना, युक्ति युक्त न होकर विचारहीनता का द्योतक है। अन्धविश्वास से बहुत हानि होती है। किसी से कुछ भी सुनने पर तत्काल उस पर विचार करो, उसे समझने की चेष्टा करो। समझने में भी भूल हो सकती है इस आशंका को हटाना चाहिए। बार-बार अलग-अलग स्थितियों में उसे अनुभव करके देखो। सम्भव हो तो दूसरों की तद्विषयक अनुभूति से अपने अनुभव का मिलान करो। व्यावहारिक मानदण्ड द्वारा जो कुछ देखा या समझा है उससे उसकी सत्यता असत्यता का निर्णय करो। उसकी परीक्षा अपने निजी जीवन में करो—तब कहीं विश्वास करने की बात आयेगी। किन्तु जिस प्रकार अन्धविश्वास बुरा है, उसी प्रकार किसी भी बात को असम्भव कहकर उपहास करना और भी बुरा है। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि आज तक सम्भव और असम्भव की विभाजक रेखा का निर्विवाद निर्णय कोई नहीं कर सका है। जिसे एक समय में असम्भव समझा जाता था, वही कालान्तर में सम्भव और सामान्य बन गया। यह बात समझ लेने पर मनुष्य का अहंकार घटने लगता है और विनम्रता आती है। किसी बात को सुनते ही उसे मान लेना सर्वथा अनुचित है और इससे भी अनुचित है—बिना विचार और अनुसन्धान किए किसी बात को असम्भव कहकर छोड़ देना। जो सम्भव और सत्य है, उसका उपहास करने से वह झूठी और असम्भव नहीं हो जाती। उससे केवल अपनी अदूरदर्शिता का परिचय मिलता है।

जिज्ञासु—अब मेरा बहुत सा संशय दूर हो चुका है। एक प्रश्न और है क्या मनुष्य का ईश्वर और पत्थर को चैतन्य समझना ठीक है?

योगिराज—जिसमें प्रकृत विश्वास दृढ़ हो गया उसकी तो बात ही छोड़ दो क्योंकि उसके लिए तो सभी सम्भव है। विश्वास के बल पर क्या नहीं हो सकता? विश्वास के प्रभाव से मनुष्य में ईश्वरत्व का विकास हो सकता है

अर्थात् मनुष्य में निहित अव्यक्त ऐश्वर्य उपलब्ध हो सकता है। पत्थर भी चेतन है क्योंकि चेतना सभी वस्तुओं में है। केवल आधार की मलिनता के कारण वह पत्थर में स्पष्ट भाव से नहीं लक्षित होती अतः पत्थर जड़ प्रतीत होता है। जो दृढ़ विश्वासी हैं, उनके मन में ऐसा संकल्प उठते ही कि पत्थर चेतन है, उस पत्थर का आधार निर्मल होने लगता है और उसमें का अव्यक्त चेतन प्रकट हो जाता है। तब वह पत्थर चेतनवत् व्यवहार करने लगता है—चलता है, बोलता है और प्रश्नों के उत्तर भी देता है। जो सत्यसन्ध और विश्वासी हैं, जैसे योगी, ज्ञानी और भक्त, उनके लिए असम्भव कुछ नहीं।

सामान्य जन को साधारण अवस्था में मनुष्य या मूर्ति में ईश्वर का बोध नहीं होता। शास्त्र में भावना करने का उपदेश अवश्य है किन्तु उसका भी रहस्य है। उपादान संग्रह करने तक केवल भावना से कुछ नहीं होता। इस गुलाब के फूल को, मैं भावना के बल से इसी समय इच्छानुरूप अति कठिन पत्थर के टुकड़े में या अन्य किसी पदार्थ में या जीव में परिवर्तित कर सकता हूँ। किन्तु तुम लोग ऐसा नहीं कर सकते। क्योंकि तुम लोगों में भावना-सिद्धि नहीं हुई है। तुम अभीतक उपादान संग्रह नहीं कर सकते। सत्त्व शुद्धि पूर्वक आत्मज्ञान का विकास न कर पाने तक संकल्प कभी नहीं सिद्ध होगा, विकल्प नहीं छूटेगा और दृढ़ एकाग्रता नहीं होगी। भावना ही तो कल्पना है। जीव की कल्पना से व्यावहारिक सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं होती, ईश्वर की कल्पना द्वारा हो सकती है। ईश्वर की कल्पना सच्ची होती है—उसी से वे सृष्टि का निर्माण कर पाते हैं। जीव जब तक ईश्वरत्व का लाभ नहीं कर लेगा, तब तक वह यह नहीं कर सकेगा। मनुष्य मात्र में ईश्वर भाव, शिलामात्र में देवभाव, इत्यादि ज्ञानी उपासक के लक्षण हैं। प्राण-प्रतिष्ठा, भूत शुद्धि, चित्त शुद्धि, न्यासादि जिनका नहीं होता, उनके लिए यह सम्भव नहीं होता। ज्ञानी और अज्ञानी की भावनाओं में बहुत अन्तर होता है। सचराचर की उपासना के विषय में जो समझा जा सकता है, वह अज्ञानी की उपासना होती है। वस्तुतः ऐसी भावना, प्रतिभासित सत्ता से ऊँची कोई चीज नहीं प्रकट कर सकती।

ज्ञानी की भावना ही प्रकृत उपासना है। उसमें व्यावहारिक सत्ता भी प्रकट होती है। परमार्थिक सत्ता तो है नित्य सिद्ध, अद्वितीय, ब्रह्मसत्ता या आत्मस्वरूप— वह बोध-भूमि की नींव (Foundation) की तरह है। विकल्प छूट जाने पर, अन्ततः संकल्प भी छूट जाने पर, प्रतिभास और व्यावहारिक अधिष्ठानभूत, सर्वत्र व्यापक अखण्ड चित् सत्तारूपिणी परमानन्दमयी एवम् आनन्ददातिगा महाशक्ति प्रकट होती है।

*

अष्टम अध्याय

स्वरूपोपलब्धि के पथ पर—'पूर्वस्मृति'

जिज्ञासु—जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में लोग अनेक तरह की बातें करते हैं। ऋषियों और आचार्यों के वैमत्य को देखकर हम जैसे सामान्य लोगों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में आपने पहले जो कुछ भी कहा है, वह सब मैंने सुन लिया है किन्तु किन्हीं विषयों में कुछ पूछना शेष है।

कोई कहता है कि जीव ब्रह्मस्वरूप और चिन्मय है किन्तु अनादि माया के प्रभाव से विस्मृति के कारण स्वयं को ब्रह्मरूप नहीं जानता। अभेद ज्ञान होने पर जब माया की निवृत्ति होगी; तब स्वयं को पहचान सकेगा। तत्पश्चात् सारी वृत्तियों के दब जाने पर ब्रह्मरूप में स्थित होगा।

किन्तु अन्य लोग कहते हैं कि जीव पुरुषोत्तम परमात्मा की परा-प्रकृति है, जिससे समस्त जगत् की सत्ता है।

कोई यह भी कहता है कि चित् शक्तिरूप जीव एवम् अचित् शक्तिरूप गुणमयी प्रकृति, दोनों ईश्वर के अंगस्वरूप और नित्य हैं। प्रकृति के आवेश वश जीव का बन्धन होता है और उसके कट जाने पर जीव की नित्य सत्ता पुनः प्रकट हो जाती है।

कोई ऐसा भी कहता है कि परमेश्वर की तटस्थ शक्ति को ही जीव कहते हैं। ईश्वर की स्वरूप शक्ति उससे अभिन्न है परन्तु उसकी बाह्य शक्ति और माया उससे भिन्न हैं। तद्रूप उसकी तटस्थ शक्ति और रूप उससे अभिन्न होने पर भी प्रकारान्तर से भिन्न है।

इस प्रकार और भी अनेक मत मतान्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

इन सबको छोड़, जीव की नित्यता एवं सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार के मत सुनाई पड़ते हैं।

मेरा प्रश्न यह है कि गुरु बनाने के पश्चात् साधना पथ प्राप्त होने पर जब जीव क्रमशः अग्रसर होने लगता है, तब वह अपने स्वरूप के सम्बन्ध में क्या उपलब्धि कर पाता है।

योगिराज—वत्स, कर्मक्षेत्र में उतरकर वीर के समान धैर्यपूर्वक एकनिष्ठ साधना करते जाओ। नियत अवसर आने पर स्वयमेव सम्पूर्ण तत्त्वों का अधिगम हो जायगा। निजी अनुभव न होने तक शास्त्रों के विभिन्न मत सुनकर सत्य का

निर्णय नहीं हो पाता। शास्त्रकारों ने अपने अपने ढंग से एक ही भाव के पृथक् पृथक् सिद्धान्त स्थापित किए हैं, जिनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है। तथापि पूर्ण सत्य का रूप मात्र ग्रन्थ पाठ द्वारा नहीं जाना जा सकता। जीव नित्य है एवं भगवदाश्रित, चिन्मय तत्त्व विशेष है—यह बात तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। किन्तु प्रकारान्तर से जीव भाव को अनित्य और माया कल्पित भी कहा जा सकता है। इसलिए शास्त्राधारित भाषणमात्र से वास्तविक सत्यासत्य का निरूपण नहीं हो सकता। कर्म करते करते ज्ञान का विकास होने पर, सभी भेद स्वयं ही अनावृत हो जायेंगे। इसलिए आलस्य त्यागकर निष्ठापूर्वक ज्ञानलाभ की चेष्टा करो तब स्वयं ही सब समझ सकोगे। ज्ञानोदय होने पर जब जीव का आवरण क्रमशः कटने लगता है तब उसकी पूर्वावस्था का स्मरण जागृत हो जाता है। वह उस समय स्वयं को और जगत् को पहचानने लगता है। कौन वस्तु नित्य और कौन अनित्य—यह प्रत्यक्ष देख पाता है।

जिज्ञासु—आत्म बोध के आवरण के कटने का कोई क्रम है?

योगिराज—हाँ, है। सर्वप्रथम, पूर्व जन्मों की स्मृति जागती है। उनके कर्म और संस्कार प्रत्यक्ष सामने दिखाई देते हैं। जीव, कब कहाँ था, कौन कर्म कब किया था, उसके फलस्वरूप कहाँ जन्म लिया था, किस काल के किस कर्म से कब क्या सुख और दुःख भोगा था—सब स्मरण होता है। किसके साथ कब और क्या सम्बन्ध था—यह सब उसके ध्यान में आता है। देखो, ज्ञान, कर्म, अनुभूति, सुख दुःख भोग, कुछ भी लुप्त नहीं होता। लिङ्ग शरीर में ये सभी संस्काररूप में रहते हैं। स्थूल शरीर परिवर्तित होता रहता है किन्तु लिङ्ग शरीर का विकास हुआ है। जन्म जन्मान्तर से, वह एक ही लिङ्ग देह, कर्मानुरूप पृथक् पृथक् स्थूल ढाँचों में ढलकर भिन्न शरीर धारण करता है। वासना, संस्कारादि लिङ्ग देह का आश्रय लेकर रहते हैं। जब लिङ्ग में ज्ञान का आभास होता है तब ज्ञान के प्रकाश में लिङ्गस्थ संस्कार समूह चलचित्र की तरह सजीव होकर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। बोध, पूर्व स्मृति के रूप में जागता है और फिर वह आकार धारण करता है। जैसे एक सूत्र में सहस्रों मणियाँ गुँथी रहती हैं, उसी प्रकार एक ही लिङ्ग शरीर में सहस्रों जन्मों के संस्कार निबद्ध रहते हैं।

जिज्ञासु—सामान्य जन के पूर्व जन्मों के संस्कार साधारणतया क्यों नहीं जागते? कुछ मनुष्यों के विषय में यह अवश्य सुना गया है कि उसे पूर्व जन्म की बातों का स्मरण हुआ है किन्तु अधिकांशतया अन्य लोगों को पूर्व जन्म की स्मृति नहीं आती। जब साधना द्वारा स्मृति निश्चय ही जाग्रत होती है, तब इसमें भी क्या सन्देह कि 'जन्म जन्मान्तर तत्त्व' सत्यमूलक है। यदि ऐसा है तो कुछ धर्म (सम्प्रदाय) इसे क्यों नहीं मानते?

योगिराज—वत्स, लिङ्ग में संस्कार रहने पर भी, जब तक उन्हें प्रत्यक्ष

करने की क्षमता अर्जित न हो, तब तक वे प्रत्यक्ष नहीं होते। परन्तु तुम पूछ सकते हो कि स्मरण होने में बाधा क्या है? कह सकते हो कि इस जन्म की बहुत पुरानी घटना भी कभी कभी याद आ जाती है। जगाने वाला उपयुक्त कारण पाने पर वह स्वयमेव जाग उठती है। यह ठीक है कि कोई संस्कार इतने अधिक दबे होते हैं कि उन्हें उभाड़ना कठिन होता है, तथापि वर्तमान जन्म की बातें मनुष्य को याद आती रहती हैं--इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार पूर्व जन्म की स्मृति जागने में बाधा क्या? सब कुछ याद न आने पर भी बहुत कुछ तो याद आयेगा ही। इसका रहस्य मैं समझा देता हूँ।

देखो, भले ही लिङ्ग देह एक ही है, तथापि प्रत्येक जन्म में स्थूल शरीर से इतना ओत प्रोत हो जाता है कि वह एक प्रकार से स्थूल का ही अंश हो जाता है। स्थूल के आश्रय के बिना लिङ्ग शरीर कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं है। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी स्थूल का आभास उसमें लगा ही रहता है--इसी को कर्माशय कहते हैं। चित्त शुद्धि न होने तक स्थूल से लिङ्ग को पृथक् नहीं किया जा सकता। वृत्ति के अनुसार, मन, बुद्धि, अहंकार इन सबकी संज्ञा 'लिङ्ग' ही है। स्थूल बिना इनकी वृत्तियाँ भी नहीं होतीं। यहाँ तक कि स्थूल के बिना इन्द्रियाँ भी कार्य नहीं कर सकतीं, स्थूल शरीर में भी भिन्नता पाई जाती है। भूलोक में जिस प्रकार की स्थूल देह प्राप्त होती है, उससे भुव: और स्व: लोक के शरीर भिन्न हैं। किन्तु अनेक प्रकार की देह पाई जाने पर भी स्थूल शरीर की जो सामान्य विशेषता है, वह सब में है। ऊर्ध्व ब्रह्म लोक से लेकर अध: पाताल लोक तक सभी स्थूल देह पाँच तत्त्वों (महाभूतों) से ही निर्मित हैं। लिङ्ग शरीर चाहे जिस लोक में रहे, स्थूल के आश्रय बिना, क्रियाशील नहीं हो सकता। ज्ञानाज्ञान, ऐश्वर्यानैश्वर्य आदि लिङ्ग स्थित भाव उसमें तभी प्रकट होते हैं, जब लिङ्ग शरीर, स्थूल शरीर से संयुक्त हो जाता है। आकार के बिना लिङ्ग निष्क्रिय और असत्कल्प है अर्थात् उसमें ज्ञानादि कुछ भी नहीं भासित होता। स्थूल आकार में प्रकट होने के लिए उसे पंचभूतों का आश्रय लेना पड़ता है।

अब जब लिङ्ग स्थूल देह या आकार धारण करके कार्य करता है तब स्थूल देह की छाया लिङ्ग पर पड़ती है और वह उसी भाव में भावित होता है। स्थूल देह के परिवर्तन (मृत्यु) के साथ ही साथ लिङ्ग की यह मौलिक भावना भी पृथक् हो जाती है क्योंकि लिङ्ग अज्ञान के कारण स्वयं को स्थूल देह के साथ संयुक्त कर लेता है। अतएव जब तक अज्ञान रहता है, तब तक लिङ्ग सदा एकरस होने पर भी आकार-भेद के कारण अपने में भेद की कल्पना कर लेता है। जल और वायु (द्रव एवं गैस) का कोई आकार न होने पर भी पात्रों में भरने पर, पात्रों के आकार-भेद के अनुरूप ही उनका आकार हो जाता है। इसी प्रकार लिङ्ग-विशुद्ध लिङ्ग, आत्मा चैतन्य की तरह निराकार होने पर भी स्थूल सम्बन्ध से स्थूल के ही आकार

को धारण कर लेता है। इस आकार की भी एक विशेषता है। यह तुमने सुन रखा है कि लिङ्ग एक है। परन्तु जब तुम स्वयम् इसका प्रत्यक्ष अनुभव करोगे, तब स्पष्टत: तुम देख सकोगे कि इस लिङ्ग पर जिन जिन आकारों की छाप पड़ी है (अर्थात् जिन जिन स्थूल देहों में वह संयुक्त रह चुका है), वे सभी दिखाई पड़ेंगे। जैसे जल में सहस्रदल कमल, वैसे ही निर्लिप्त भाव से निराकार लिङ्ग में भी हजारों आकार दिखाई देते हैं। ऐसा बोध होता है कि एक ही लिङ्ग में अनेकानेक आकार प्रतिबिम्बित हैं जैसे कि एक ही सूत्र में ग्रथित असंख्य मणियाँ अथवा एक ही शक्ति से व्याप्त अनेक ब्रह्माण्ड हों। स्थूल देह से यह लिङ्ग देह इस प्रकार संयुक्त हो जाता है, जैसे दोनों एक ही हों। इस अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि जितनी देह हैं उतने ही लिङ्ग भी हैं। लिङ्ग को देह से अलग कर पाते ही लिङ्ग की अभिन्नता ज्ञात होती है और साथ ही सहस्रों देह का आभास भी मिलता है—

'तत्रैकस्थं जगत्कृस्नं प्रविभक्तमनेकधा'

इस विश्वरूप-दर्शन के अनुसार एक ही लिङ्ग में अपनी समस्त धरा—चौरासी करोड़ योनियों के कोटि-कोटि जीवों के असंख्य आकारों का सम्पूर्ण वैचित्र्य अनुभूत होता है। ये सभी आकार मेरे ही हैं—यह बात सर्वप्रथम धुँधली सी और बाद में एकदम स्पष्ट समझ में आ जाती है। फिर आकारों के मिट जाने पर विशुद्ध आत्मज्ञान का उदय होता है।

जब तक अज्ञान रहता है तब तक ऐसा लगता है जैसे प्रत्येक स्थूल के साथ एक-एक लिङ्ग मिला है। ऐसा न होने के कारण ही एक का लिङ्ग दूसरे की देह में प्रकाशित नहीं होता। संस्कार के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारा आत्मबोध स्थूल देह में ही प्रकाशित होता है, इसीलिए यह आत्मबोध सदैव खण्डित जान पड़ता है। जिस प्रकार जुगनू की पुच्छ ज्योति एक बार चमकती है और कभी निवृत्त हो जाती है। वह सदैव प्रकाशमान नहीं रहती और रह भी नहीं सकती। स्थूल वायु की क्रीडा श्वास प्रश्वास के कारण ऐसा होता है। इसको विक्षिप्तावस्था कहते हैं। मरण के साथ ही साधारण जीव का आत्मबोध विगत हो जाता है। उसी समय जागरण समाप्त होकर महानिद्रा प्रारम्भ हो जाती है। तत्पश्चात् ये अवस्थायें आती हैं—स्वप्नवत्, मूर्च्छितवत् और मूढ़वत्। पुन: मातृगर्भ में आगमन के साथ ही स्थूल वायु का प्रभाव न रहने से ज्ञान जाग्रत हो जाता है। जीव मातृ गर्भ में लिङ्ग की अभिन्नता का अनुभव करता है। पूर्व जन्म के वृत्तान्तों की स्मृति आ-आकर उसे व्याकुल कर देती हैं। गर्भ में उसे देह का आभास नहीं रहता। जन्म होते ही बाह्य वायु के स्पर्श मात्र से ही पूर्व स्मृति विलुप्त हो जाती है और विक्षिप्त भाव का उदय होता है, एकाग्रता भङ्ग हो जाती है। किंचित् आत्मबोध विच्छिन्न भाव से उद्‌बुद्ध होता है। इस प्रकार अनेक जन्म व्यतीत होते हैं।

अब तुम अपने प्रश्न का उत्तर सुनो—

साधारण मनुष्य मृत्यु काल में ज्ञान खो देता है। वैसे तो ज्ञान का उदय न होने से मनुष्य सदैव अज्ञान में रहता है। तब भी जितने दिन तक वह विक्षिप्त भाव में रहता है, उतने दिन तक उसका श्वास प्रश्वास चलता है और बाह्य वायु की क्रिया रहती है; तब तक खण्डित और देहावच्छिन्न आत्म ज्ञान भी रहता है। यह है अज्ञान मूलक विक्षेप। मृत्यु काल में बाह्य वायु से सम्बन्ध टूट जाता है, प्राणापान की क्रिया स्थगित हो जाती है और अज्ञान मूलक लय आकर जीव को घेर लेता है। यह आवरण ही मृत्यु है, तब जीव का चैतन्य तमोगुण से आवृत्त हो जाता है। किन्तु जो ज्ञानी हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती क्योंकि उन्हें अविच्छिन्न आत्मज्ञान प्राप्त रहता है। इसलिए वे व्याकुल नहीं होते और ज्ञान नहीं खो देते। मृत्यु क्या है? देहावसान होना—लिङ्ग और स्थूल का पृथक् हो जाना। ज्ञानी अवसान की इस क्रिया को देख पाता है। अज्ञानी की मृत्यु एक प्रकार से मोहावस्था है किन्तु ज्ञानी जन स्वेच्छापूर्वक देहत्याग करते हैं। अर्थात् देह त्याग-काल में उनका ज्ञान बना रहता है और उनका देहत्याग भी उनकी इच्छा के बिना नहीं होता। इसके विपरीत अज्ञानियों के दूसरा जन्म ग्रहण करने पर, नवीन देहाकृति के साथ लिङ्ग के युक्त हो जाने से उन्हें पूर्व जन्मों की स्मृति नहीं रहती। निद्रा के पूर्व स्मृति नहीं जाती क्योंकि स्थूल देह के साथ युक्त रहने से भी लिङ्ग का मौलिक आकार अखण्ड ही रहता है। यद्यपि मृत्यु भी निद्रा के सदृश है तथापि स्थूल देह त्याग और नवीन देह ग्रहण होने पर लिङ्ग को नवीन देह में पूर्ववर्ती देहों के कर्मों की स्मृति नहीं रहती।

जो ज्ञानी हैं, जिन्होंने किसी विशेष कर्म भोग के लिए अथवा किसी अन्य कारण से स्वेच्छया जन्म लिया है, उनकी पूर्वस्मृति जन्म काल से ही बनी रहती है। तब भी स्थूल देह में अविद्या का प्रभाव इतना अधिक होता है कि ज्ञान प्रबलता न रहने पर शीघ्र ही स्मृति नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। जो ऊर्ध्व लोक से नीचे आकर जन्म-ग्रहण करते हैं—अवतीर्ण होते हैं, वे विशिष्ट ज्ञानी होने से पूर्वस्मृति रख पाते हैं। किन्तु यह बात और है कि वे स्थूल लीला का कौतुक देखने के लिए स्वेच्छापूर्वक ज्ञान को छिपाकर रखते हुए जन्म ग्रहण करें।

जिज्ञासु—जब साधना द्वारा जीव की चित्त शुद्धि हो जाती है, जब उसे लिङ्ग का एकत्व और शुद्ध रूप प्रत्यक्ष हो जाता है, जब उसे ज्ञान का आभास हो जाता है, जब वह स्वयं को पहचान लेता है, तब उसमें पूर्व जन्मों की स्मृति जाग उठती है। प्रत्येक जीव की अलग एक विशिष्ट धारा है। साधक तब अपनी ही धारा का स्मरण करता है। युग युगान्तर में, उसने किस किस लोक में कौन कौन जन्म लिए, क्यों लिए थे, उनमें क्या किया था, किस-किस से मिला था—यह सब उसे स्मरण आता है, केवल स्मरण ही नहीं होता, वे सब दृश्य

(चलचित्र की भाँति परदे पर) उसके समक्ष स्पष्ट रूप में आते हैं। सकल जन्म, समग्र व्यवहार, सम्पूर्ण परिचय, कर्म सूत्र में ग्रथित है। पूर्वस्मृति का उदय न होने तक कर्म रहस्य समझ में नहीं आता। मेरी समझ से तो ऐसा ही है।

योगिराज—'गहना कर्मणो गतिः'—ज्ञानी के अतिरिक्त कर्मत्व का रहस्य अन्य नहीं जान सकते। जो कुछ भी—सुख-दुःख, राग-द्वेष, सम्बन्ध परिचय, आकर्षण-विकर्षण—हो रहा है; इसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो बिना हेतु का हो। जब पीछे घूम कर ध्यान से देखोगे तब ज्ञात होगा कि अनेक प्राचीन घटनायें, भावानुसार कारण कार्य शृंखला से संयुक्त हैं। यदि किसी व्यक्ति को देखते ही तुम्हारे मन में, अकारण ही प्रीति या द्वेष का उदय हो, तो यह मत समझो कि सचमुच ऐसा अकारण ही हुआ। इसका प्राचीन इतिहास ढूँढने पर सब कारण समझ में आ जायेगा।

आज यदि किसी ने तुम्हारा अपकार किया है तो इसका भी कारण है। इस वर्ष के हानि लाभ का हिसाब (Account) जिस प्रकार अगले वर्ष के बही खाते में ले जाया जाता है, उसी प्रकार एक जन्म का हिसाब आगामी जन्म के हिसाब में ले लिया जाता है। इस प्रकार सहस्रों जन्मों का हिसाब ताने बाने की तरह पिरोया हुआ है। किसी के द्वारा किसी जन्म में किया गया कर्म, किस जन्म में और किस लोक में फलीभूत होगा, इसका क्या ठिकाना? चित्रगुप्त के बही खाते पढ़ना बहुत कठिन है।

जिज्ञासु—क्या आपका अभिप्राय है कि नवीन कर्म कुछ भी नहीं? यदि इस जन्म के प्रत्येक कर्म का कारण पूर्व जन्मों के कर्म ही हैं तब तो कहना पड़ेगा कि नवीन-कर्म कुछ है ही नहीं।

योगिराज—नहीं, नवीन कर्म तो निश्चय है ही। किन्तु कौन नवीन कर्म है और कौन प्राचीन कर्मों के फलस्वरूप है—इसका पता लगाना दुष्कर है। नूतन और क्रियमाण कर्म ही कालान्तर में प्राक्तन कर्म (प्रारब्ध) बनते हैं।

जिज्ञासु—जब पूर्वस्मृति जाग उठती है, तब इस जगत् के अनेक स्थान पूर्वपरिचित प्रतीत होते हैं। बहुत लोगों से जो परिचय और सम्बन्ध है, वह भी समझ में आता है। समस्त विश्व एक विराट् परिवार जैसा लगता है। ज्ञान द्वारा जो आत्मभाव का विस्तार होता है, जगत् अपना लगने लगता है—यह धारणा स्पष्ट होने लगती है।

योगिराज—यह अवस्था भी विशुद्ध ज्ञान की नहीं। यह तो ज्ञान का आभास मात्र है। जब ज्ञान का स्तर और ऊपर उठता है, तब समष्टि लिङ्ग के साथ व्यष्टि लिङ्ग का तादात्म्य अनुभव होता है। प्रत्येक जीव का पृथक् पृथक् लिङ्ग है। स्थूल देह में अभिमान रहने तक उस लिङ्गगत एकता का बोध नहीं जागता। वस्तुतः उस अवस्था में यही सोचना पड़ेगा कि लिङ्ग अनेक हैं। फिर

आत्मज्ञान जागने पर लिङ्ग और स्थूल के पार्थक्य का विवेक होता है, तब लिङ्ग, स्थूल से पृथक् दिखाई देता है तथा लिङ्ग की एकता और शुद्धता का बोध होता है। इसी अवस्था में पूर्व जन्मों की स्मृतियाँ जागृत होती हैं। निश्चय ही अभिनिवेश (ध्यान) यदि आकार की ओर न हो तो स्मृति भी नहीं जाग सकती। किन्तु जागने की योग्यता अवश्य आ जाती है। जब इस ज्ञान की विशुद्धि अधिक होती है तब देखा जाता है कि जिस लिङ्ग को जीव एक समझता था, वैसे तो कोटि-कोटि लिङ्ग हैं। अनेक लिङ्ग अपनी अपनी धारा में बहे जा रहे हैं। ये सब व्यष्टि लिङ्ग हैं। फिर देखने में आता है कि ये सभी व्यष्टि लिङ्ग, एक विराट् व्यापक समष्टि लिङ्ग के अंश या पृथक्-पृथक् आभास मात्र हैं। मूलतः समष्टि लिङ्ग ही एकमात्र लिङ्ग है। ऐसी स्थिति में समष्टि लिङ्ग का अभिमान होने पर समस्त स्थूल जगत् अपना ही रूप प्रतीत होता है। जितने भी जीव हैं, सभी निज रूप प्रतीत होते हैं। नाना जीव एक ही जीव के अभिन्न अंग मात्र। वह एक जीव **'मैं'** हूँ। जीव के साथ जीव का कर्मरत संघर्ष था, अब वह देखने में नहीं आता। जब बहुत से जीव ही नहीं रहे, तो फिर कर्म कहाँ? राग-द्वेष किससे हो? जो कुछ भी हो रहा है, सब आत्मलीला ज्ञात होती है। सुख में आनन्द, दुःख में भी आनन्द; पाप नहीं—पुण्य नहीं; सर्वत्र ही एक स्वाधीन लीला की आनन्द तरङ्ग नानाविध क्रीडा करती दिखाई पड़ती है। एक ही जीव अनेक होकर परस्पर खेल रहा है। यह जीव ही ईश्वर की जीव शक्ति और ईश्वर इसी जीव का निजी ऐश्वर्य। यही समष्टि लिङ्ग की अवस्था है। इसके बाद कारण देह धारण कर जीव में अभिमान जागता है। यही ईश्वर भाव है। वहाँ बहु नहीं है। इसलिए ईश्वर एक और उसकी जीव शक्ति भी एक। दोनों नित्य भेदाभेद सम्बन्ध से जड़ित हैं। दोनों ही नित्य संयुक्त, नित्य मिथुन और नित्य लीला-मग्न। जीव शक्ति के एक होने पर भी उसके आभास अनन्त। यही है अनन्त जीव-संघ। प्रत्येक आभास के अनन्त स्थूल देह। यही है व्यष्टि जीव का जन्म-वैचित्र्य।

इसलिए जीव ईश्वर अवस्था में पहुँचने पर देख पाता है कि वह स्वयं ही सब कुछ बना है। स्वयं ही अनेक वेश धारण कर लीला कर रहा है।

जिज्ञासु—'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायै'—ईश्वर यही कहकर खेलता है। यही सृष्टि है। जिसे लोग सृष्टि कहते हैं, वह है ईश्वर की आत्म लीला। किन्तु वह क्यों खेलता है? कौन खेलाता है?

योगिराज—शास्त्र कहते हैं कि वह खेलता है, अपने स्वभाव से। स्वभाव ही सब कुछ करता-कराता है।

जिज्ञासु—योग शास्त्र में है कि संस्कार के उदय होने पर पूर्व जन्म की स्मृति जागती है। किन्तु क्या संस्कार दृश्य है?

योगिराज—हाँ, दृश्य तो है ही। क्या कोई वस्तु अतीन्द्रिय होने मात्र से अदृश्य होती है? अतीन्द्रिय में भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध होती है। प्रज्ञा के आलोक में सब कुछ दृश्य होता है। जब चित्त और लिङ्ग शरीर आमने-सामने आते हैं तब लिङ्ग देह में संस्कार भी दिखाई पड़ते हैं। तब संस्कारानुसार, पूर्व जन्म और कर्म, दोनों स्पष्टत: दृष्टिगत होते हैं।

जिज्ञासु—क्या जीव के पूर्व परिचय का तात्पर्य यही पूर्व-जन्म की स्मृति है?

योगिराज—नहीं, वह क्यों? पहले तो ज्ञान जागृत होने पर जब लिङ्ग शोधन होता है तब स्मृति का उदय है। यह प्रथम अवस्था है। लिङ्ग के विशुद्ध होने पर यह अच्छी तरह समझ में आता है कि लिङ्ग का देह-ग्रहण ही जीव का जन्म है। वस्तुत: यह एक ही बार होता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि जन्म भी एक के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता। लिङ्ग-देह-ग्रहण से लिङ्ग-देह त्याग तक का समय जीव का जीवन अर्थात् आयु है। देह ग्रहण ही जन्म और देह-त्याग ही मृत्यु। लिङ्ग जन्म और लिङ्ग मृत्यु भी एक ही बार होती है। इसीलिए अनेक धर्म सम्प्रदायों में एकाधिक जन्मों की मान्यता नहीं है। हम लोग साधारणत: जिसे जन्म कहते हैं, अर्थात् लिङ्ग के साथ स्थूल का सम्बन्ध; वह लिङ्ग के शुद्ध होने पर पुन: (जन्म) होगा—ऐसा नहीं लगता। लिङ्ग के प्रत्यक्ष होने पर उसमें अभिमान आ जाता है और तब लिङ्ग ही आत्मा के रूप में प्रतिभासित होने लगता है। उस समय स्थूल देह भी आत्मा के रूप में प्रतिभासित होने लगती है। इसीलिए सहस्रों बार स्थूल से सम्बन्ध होने पर भी उसे लिङ्ग का जन्म नहीं कहा जाता। जैसे एक वस्त्र धारण करने से जन्म नहीं होता और उसे उतार देने से मृत्यु नहीं होती उसी प्रकार लिङ्ग द्वारा स्थूल का ग्रहण त्याग भी जन्म मृत्यु नहीं। हाँ, सभी जीवों का लिङ्ग जन्म एक ही बार होता है और लिङ्ग मृत्यु भी एक ही बार।

इसके बाद और भी लिङ्ग दृष्टिगोचर होते हैं तदनन्तर समष्टि-लिङ्ग के दर्शन होते हैं और उसे आश्रय कर अभिमान होता है (कि मैं ही समष्टि हूँ)। तब ज्ञात होता है कि सभी लिङ्ग इस महालिङ्ग के अंश हैं। इस अवस्था में जीव, स्वयं को विश्वव्यापक समझता है। इसी को जीव का स्वरूप कह सकते हो। एक प्रकार से जो नित्य ईश्वर, दूसरे प्रकार से वही नित्य जीव, परन्तु वस्तुत: है वह विशुद्ध चैतन्य मात्र।

*

नवम अध्याय

स्वरूप-सिद्धि—ज्ञान, विज्ञान और विभूति

जिज्ञासु—कर्म से ज्ञान का विकास होता है—यह बात आप बहुधा कहते हैं किन्तु प्राय: जिसे ऐश्वर्य या योग विभूति कहते हैं, क्या वह भी कर्म से उत्पन्न होती है ? बहुत लोग कहते हैं कि विभूति, ज्ञान में बाधक है अत: वह निकृष्ट है। किन्तु कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जीव का मुख्य उद्देश्य है—आत्म ज्ञान और मुक्ति। विभूति प्रकट हो या न हो, उससे ज्ञान या मुक्ति में बाधा नहीं पड़ती।

योगिराज—वत्स, वस्तुत: जिसे योग-विभूति कहते हैं, वह योग में प्रतिष्ठित न होने तक प्रकाशित ही नहीं होती। लौह में दाहक शक्ति तभी आयेगी जब वह अग्नि में या उसमें अग्नि प्रतिष्ठित हो। तब उस शक्ति को उसकी विभूति कह सकते हैं। विभूति परमात्मा की स्वाभाविक शक्ति का एक रूप है। आवरण हटने के साथ जब जीव को अपनी शक्ति का कुछ भान होता है और वह परमात्मा से योग-युक्त होता है, तभी उसमें शक्ति का विकास प्रारम्भ होता है। इच्छा मात्र से विभूति नहीं मिलती, उसके लिए अथक प्रयत्न करना पड़ेगा। इसे माँगना भी नहीं पड़ता, यह चित्त शुद्धि और ज्ञानोदय के साथ-साथ ही स्वयमेव आती है। जिस प्रकार व्याधि निवारण के पश्चात् शरीर में स्वयमेव बल आने लगता है और जैसे बलवृद्धि ही स्वास्थ्य का लक्षण है, उसी प्रकार अविद्या के दूर होते ही आत्मशक्ति का स्फुरण होता है, जो अविद्या निवृत्ति का लक्षण है।

जिज्ञासु—महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि व्युत्थान दशा में जो सिद्धि है, वही, निरोध-दशा में पहुँच कर बाधा बन जाती है। यदि सिद्धि आत्मा का स्वाभाविक धर्म होता तो उसमें अवरोध आने का प्रश्न ही नहीं था। पतञ्जलि और तदनुयायी योगी-सम्प्रदाय के मत से सारी विभूतियाँ जो निर्मल आत्मज्ञान होने से पूर्व उदित होती हैं, वे ज्ञान और कैवल्य में प्रतिबन्धक हैं।

योगिराज—वत्स, आत्मा यदि स्वभाव से ही सर्व शक्ति सम्पन्न न होता तो उसमें शक्ति का विकास बाधा बन सकता था। जो सम्बन्ध अग्नि का दहनशक्ति से है, दीपक का आलोक शक्ति से है, वैसा ही सम्बन्ध आत्मा का आत्मशक्ति से भी है। आत्मा सर्व शक्ति का आधार है। निखिल शक्ति का प्रकाश आत्मा से ही निकलता है और आत्मा में ही लय हो जाता है। देवलोक,

गन्धर्वलोक, नरलोक एवम् अन्य लोकों में भी जो शक्ति दृष्टिगत होती है, उसे आत्मा की ही शक्ति जानो। आत्मा की शक्ति अनन्त है। आधार भेद से, अभिमान और प्रकाश की भिन्नता से, यह आत्म-शक्ति ही भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती है। शक्ति का परिच्छिन्न प्रकाश ही जड़ का निदर्शन है। जीवात्मा में जब तक शक्ति कम होती है, तभी तक उसमें बन्धन और जड़त्व का भाव दृष्टिगत होता है और अहङ्कार भी तभी तक रहता है। किन्तु जब अहङ्कार और जड़ता छूट जाती है तब विशुद्ध आत्मबोध के साथ ही आत्मा की पूर्णशक्ति क्रमश: निर्बाध प्रकट होती है। इस ज्ञान लाभ या शक्ति ज्ञान की तीन अवस्थायें हैं। समझने की सुविधा के लिए क्रमश: मैं इनके तीन नाम देता हूँ—सिद्धि, महासिद्धि और अतिसिद्धि।

१. सिद्धि अवस्था में शक्ति द्वैतभाव में उपलब्ध होती है। यह ज्ञेय, भोग्य और दृश्य रूप से आत्मा में प्रकट होती है।

२. आत्मा और शक्ति की एकता का साधन दृढ़ हो जाने पर महासिद्धि सिद्धि की दूसरी अवस्था आती है। तब अनन्त शक्ति के अन्दर कोई अन्य शक्ति बाह्य स्फुरण नहीं करती। शक्तिपुञ्ज तब आत्मा में अन्तर्लीन भाव से विद्यमान रहता है। आत्मा से पृथक् विश्वरूप में उसकी सत्ता (पृथक् या दृश्य रूप में) नहीं रहती। तब एकमात्र आत्मा स्वयं में ही पूर्ण भाव से विराजती है—इसी को मैं महासिद्धि कहता हूँ। तुम चाहो तो इसे कैवल्य या अद्वैतस्थिति या अन्य कोई नाम दे सकते हो किन्तु इसके बाद की भी अवस्था है।

३. इस अद्वैत अवस्था से इच्छानुसार शक्ति का बाह्य प्रदर्शन अथवा द्वैत का उदय, अतिसिद्धि का लक्षण है।

एक साधारण दृष्टान्त द्वारा मैं इस विषय को और भी स्पष्ट कर दूँ। विचार करो कि तुम्हारे भोजन का अन्न जब चावल आदि के रूप में था तब वह उसकी अपक्व या असिद्ध अवस्था थी। अग्नि-सन्धानादि द्वारा पकाने पर उसका रूप परिवर्तन हो गया—यह हुई सिद्धावस्था। यहाँ कच्ची सामग्री, पका भोजन और भोक्ता, सभी भिन्न हैं। इसके बाद जब तुम वह भोजन ग्रहण कर लेते हो तब अन्न की पृथक् सत्ता और भी नहीं रही। वह तुम्हारे शरीर के अन्तर्गत ही शरीर के साथ एकाकार हो गई। महासिद्धि की अवस्था भी कुछ ऐसी ही है। बहुत समय बाद यदि तुम अपनी देह से वह अन्न—दाल चावल आदि बाहर कर सको तो उसे अतिसिद्धि का उदाहरण समझ सकते हो।

वत्स, व्युत्थान और निरोध की अवस्थाओं को समरूप से आयत्त करने पर अतिसिद्धि की अवस्था आती है। योगी किसी भी अवस्था में रह सकते हैं। वे द्वैत अथवा अद्वैत किसी भी अवस्था से बँधे नहीं हैं। किन्तु वे सभी अवस्थाओं के द्रष्टा हैं और किसी भी अवस्था की उपलब्धि कर सकते हैं।

मैंने जिस प्रकार से सिद्धि, महासिद्धि और अतिसिद्धि की अवस्थाओं का वर्णन किया है, उससे समझ गए होंगे कि एक ही अवस्था क्रमशः परिपक्व होते-होते चरमावस्था तक पहुँचती है। जो सिद्ध हैं किन्तु महासिद्ध नहीं हुए, वे द्वैतावस्था में हैं। इसमें उपास्य और उपासक का भेद बना रहता है। लौकिक और असिद्ध साधक की अवस्था से इसकी तुलना करके भ्रम में मत पड़ो। जो असिद्ध हैं, उनमें साध्य या उपास्य वस्तु का विकास नहीं हुआ है। किन्तु मैं जिस सिद्धावस्था की बात कर रहा हूँ, उसमें उपास्य अथवा ध्येय वस्तु को सिद्ध साधक प्रकट देखता है। साधक की दृष्टि पर उस समय कोई आवरण नहीं रहता। किन्तु उपास्य वस्तु दिखाई देने पर भी उपासक से भिन्न है। तब उपास्य और उपासक का भेद स्पष्ट ही दिखाई देता है। साधारणतः यह अवस्था शास्त्र में इष्ट देवता के साक्षात्कार की अवस्था कही गई है। इससे ऊपर की अवस्था में यह भेद नहीं रहता। उपास्य और उपासक परस्पर मिलकर एक अभिन्न सत्ता बन जाते हैं। तब जो स्वयं प्रकाश सत्ता बनती है, वह न उपास्य कही जाती है और न ही उपासक। यही है महासिद्धि की अवस्था। कोई सोच सकते हैं कि यही अद्वैतावस्था ही सर्वोच्च अवस्था है, उससे ऊँची अन्य कोई अवस्था नहीं है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है।

जब इच्छा के स्फुरण मात्र से ही इस अद्वैतावस्था की पूर्वकथित अवस्था में पहुँचा जा सके और फिर उसे स्थगित कर अद्वैतावस्था में आया जा सके, तो उसे योग की 'अतिसिद्धि' अवस्था कहेंगे। यह, व्युत्थान और निरोध से अतीत, द्वैताद्वैत से परे और सक्रिय निष्क्रिय से रहित है। अतिसिद्ध योगी सभी अवस्थाओं और भावों में असंग रूप से विद्यमान रहते हैं। अपने में इस अवस्था का आना ही अतिसिद्धि का लक्षण है। अतिसिद्ध योगी क्रिया करते हुए भी निष्क्रिय हैं और नित्य निष्क्रिय होते हुए भी कर्मपरायण। उन्हें कोई भी बन्धन नहीं। अतः उन्हें मुक्त कहना भी समीचीन नहीं। ईश्वर के सम्पर्क से जब सृष्टि का उदय होता है, तब क्या तुम समझते हो ईश्वर बन्धन में पड़ गया? क्या तुम सोचते हो कि ईश्वर सत्ता से जो प्रवाहरूप निःसृत है, उससे ईश्वर बन्धन में पड़ता है? ऐसा सोचना निर्मूल है। जब वे किसी शक्ति का स्फुरण करते हैं, तब वह शक्ति ईश्वर से किञ्चित पृथक् दिखाई पड़ती है, किन्तु वस्तुतः वह पृथक् नहीं होती। तद्रूप जब उसे पुनः वापस खींच कर स्वयं में मिला लेते हैं, तब वह उनके साथ मिल जाती है। भेद के समय भेद भी जैसे असत्, अभेदावस्था में अभेद भी वैसे ही असत् अथच दोनों ही सत्य।

अब तुम अपने प्रश्न का समाधान समझ सकोगे। जब तक सिद्धि देखने में आत्मा से अलग प्रतीत होती है तब तक (मुक्तावस्था के सापेक्ष) बाधा में पड़ी ज्ञात होती है। भेद दृष्टि के लिए सिद्धि दशा में, आसक्ति, प्रलोभन, और अहंकार के अत्यन्त सूक्ष्म भाव से जीव में रहने की आशंका है। वस्तुतः द्वैतभाव

(आसक्ति, प्रलोभन और अहंकार) के रहने तक अभय पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। तुमने सिद्धि को जो बाधा समझ रखा है, इस अवस्था में वह सचमुच बाधा ही है, क्योंकि उस सकल शक्ति के आत्मशक्ति में न परिवर्तित हो जाने तक, अभेद ज्ञान और तन्मूलक उपसम प्राप्ति में सिद्धि प्रतिबन्धक है। किन्तु जब वह सकल शक्ति आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मशक्ति में परिणत हो जाती है, उसका पृथक् सत्ता बोध नहीं रहता, वह आत्मा का स्वाभाविक स्फुरण ज्ञात हो; केवल यही नहीं—जब वह शक्ति आत्मस्वरूप में अशेषत: विलीन होकर अदृश्य हो जाय और तत्पश्चात् महाशक्ति की कृपा से पूर्व वर्णित अतिशक्ति की अवस्था उदय होने पर योगी की इच्छानुसार पुन: प्रकट हो—तब इस अवस्था में सिद्धि बाधा नहीं होती। वस्तुत: द्वैताद्वैत विकल्प से मुक्त न होने तक स्वतन्त्र रूप से निर्विकल्प सिद्धि नहीं प्राप्त होती।

जिज्ञासु— आपने जो अतिसिद्धि अवस्था का वर्णन किया, क्या वह सिद्धि का पूर्णरूप है? अथवा इससे भी कोई श्रेष्टावस्था है?

योगिराज— वत्स, यह सिद्धि का पूर्णरूप तो है किन्तु पूर्णतर अथवा पूर्णतम रूप नहीं। क्योंकि अतिसिद्धावस्था में भी इच्छा शक्ति रहती है। इच्छा रहने से 'अभाव' रहेगा ही क्योंकि 'अभाव' के अभाव में इच्छा का उदय हो ही नहीं सकता। किन्तु उस अवस्था का 'अभाव' साधारण 'अभाव' की तरह नहीं है। साधारण अभाव से इस अभाव का भेद यह है कि योगकाल में स्वभाव के उदित होने के साथ ही यह भी निवृत्त हो जाता है। इस अभाव-निवृत्ति का ही शास्त्रों में 'परमानन्द का आस्वादन' के रूप में वर्णन किया गया है। यह अभाव बोध ही विरह और उसकी निवृत्ति ही मिलन है। स्वभाव सम्बद्ध यह विरह और मिलन, चक्र-भ्रमण के समान नित्य लीला रूप में विराजमान है।

इच्छा के उदय बिना आनन्द का आस्वादन नहीं हो सकता। जो प्यासा नहीं है, वह जल का स्वाद क्या जानेगा? केवल जल की मधुरता से उसका ठीक अनुभव नहीं होता। इसके लिए प्यासा होना आवश्यक है। इसी तरह स्वभाव रूप अमृत भण्डार रहने से भी, जब तक आकांक्षा न हो एवम् उसके साथ संयोग न हो जाय, तब तक अमृत का स्वाद नहीं मिलता। आकांक्षा न होने पर, अमृतकुण्ड में आकण्ठ मग्न हो जाने पर भी उसका स्वाद नहीं मिलता। मैंने अतिसिद्धि अवस्था के विषय में कई बातें तुम्हें बताई हैं। वे महाशक्ति के चरण स्पर्श जनित परमानन्द की उपलब्धि अवस्था मात्र हैं। इच्छा शक्ति का विकास इसी स्थान से होता है। इस अवस्था में जैसे ही अभाव जागता है, तत्काल निवृत्त भी हो जाता है। योग और स्वभाव के संग की ही ये महिमा है। तुम पूछ सकते हो कि अभाव जब होते ही निवृत्त हो जाता है, तब उसे जागने की आवश्यकता ही क्या है? मैं इसका उत्तर तुम्हें दे चुका हूँ। इसका एकमात्र प्रयोजन है आनन्द

का आस्वादन। माता सन्तान को उसी कौशल से अपनी माधुरी का उपभोग कराती है। इच्छा शक्ति के सम्बन्ध में यहाँ विशेष विवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, वह बाद में भी दिया जा सकता है।

जिज्ञासु—मैं समझता हूँ कि यह अतिसिद्धि की अवस्था ही इच्छा शक्ति की सक्रिय अवस्था है। इस आनन्दमय अवस्था के बाद की अवस्था का क्या रूप है?—यह जानने की इच्छा है।

योगिराज—जहाँ आनन्द का स्फुरण भी न हो, उस अवस्था को आनन्दमय कहते भी नहीं बनता। वह आनन्द और निरानन्द, दोनों के ही परे है। जगन्माता की गोद में बैठकर आनन्द विभोर हो, तत्पश्चात आनन्द के भी कट जाने पर द्वन्द्वातीत एवं मोहातीत अवस्था होती है। मैं नहीं जानता कि तुम इस अवस्था को क्या कहोगे किन्तु मैं वाणी द्वारा इसे समझाने में असमर्थ हूँ। इसका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

जिज्ञासु—बाबा, आप बहुत ऊपर चले गए। हमें तो नीचे की भूमि की बहुत सी बातें पूछनी हैं। आप तनिक नीचे उतर कर कृपया हमें उपदेश दें। अच्छा, आपने सिद्धि का जो वर्णन किया क्या वह एक है या अनेक? सिद्धियाँ कितनी हैं? पृथक्-पृथक् सिद्धि को आयत्त करने के पृथक्-पृथक् उपाय हैं क्या?

योगिराज—निःसन्देह रूप से सिद्धि एक और अखण्ड है। किन्तु विभक्त होकर वह विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है। मैंने जिसे सिद्धि, महासिद्धि और अतिसिद्धि कहा है उसे ही क्रमशः क्रियासिद्धि, ज्ञानसिद्धि और इच्छासिद्धि कह सकते हो। पातञ्जल योग दर्शन के विभूतिपाद में जिन खण्ड सिद्धियों का उल्लेख है, वे क्रियासिद्धि के ही अन्तर्गत हैं। कुछ को वैज्ञानिक सिद्धि भी कहा जा सकता है। अपने उपादान को विशुद्ध करके स्वायत्त करने पर उससे बहुत से कार्य कराये जा सकते हैं। क्या बताऊँ, पातञ्जल योग में जिन कई सिद्धियों का उल्लेख है, उनकी अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक सिद्धियाँ इच्छा मात्र से प्रकाशित की जा सकती हैं। जिसका उपादान विशुद्ध हो गया उसके लिए कुछ भी दुष्कर और असम्भव नहीं। जिस प्रकार वर्णों, सन्धियों और विग्रहों के सम्यग् ज्ञाता को शब्द विन्यास और भाषा विश्लेषण में कठिनाई नहीं होती, उसी प्रकार जो विशुद्ध तत्त्वरूपा शक्ति के रहस्य को सम्यक् समझते हैं, उनके लिए इस स्थूल जगत् में असम्भव कार्य कुछ भी नहीं है। भूतजय, इन्द्रियजय और विविध संयमों से जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह शुद्ध तत्त्व में अधिष्ठित योगी के लिए अति सामान्य वस्तु है। अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व इन अष्ट सिद्धियों के अतिरिक्त आकाशगमन, परकायाप्रवेश, परचित्तज्ञान, दूरदृष्टि, दूरश्रुति, एवम् अन्य भी अनेक सिद्धियों का योग शास्त्र में वर्णन है। प्रत्येक सिद्धि के लिए स्वतन्त्र उपाय हैं किन्तु सत्त्वसिद्धि होने पर पृथक् भाव से किसी भी सिद्धि के लिए चेष्टा नहीं करनी

पड़ती। योगी के योग मार्ग में उन्नत हो अवस्था विशेष आने पर, सभी सिद्धियाँ स्वयमेव उदित होती हैं। जो लोभ से सिद्धि की प्रार्थना करता है, वह कभी भी वास्तविक योगसिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता।

जिज्ञासु—स्थूल देह से आकाश गमन कैसे सम्भव होता है ? देह जब तक मध्याकर्षण के नियम के अधीन है, तब तक शून्य में उठकर, शून्यपथ में आवागमन कैसे सम्भव हो सकता है ? और फिर योगी को उड़ने की आवश्यकता ही क्या ?

योगिराज—देह के उपादान बदलकर, नया कलेवर उत्पन्न होने पर, वह देह आकाश की तरह निर्मल होती है और उसमें संकुचन और प्रसारण हो सकता है। शून्य में उठने के लिए, स्थूल संस्कारों को त्याग कर शनैः शनैः उठना पड़ता है। मध्याकर्षण का प्रभाव जितनी ऊँचाई तक है, वहाँ तक ज्ञान रहता है। किन्तु और अधिक ऊपर उठने पर ज्ञान और अन्यान्य वृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। जब तक देह साधना द्वारा निर्मल न हो गई हो, तब तक वह ऊर्ध्वगमन नहीं कर सकती। ऊपर उठते उठते, देह की मांस और अस्थियाँ एकाकार हो पीछे पिण्डीभूत हो जाती हैं। तब सारा शरीर कोमल होकर तरल (Fluid) हो जाता है। इस स्थिति में, निर्मल स्थूल देह से आकाश मण्डल और ग्रह नक्षत्र आदि सर्वत्र आवागमन हो सकता है। जहाँ जाना हो, वहाँ के परमाणुओं को आकृष्ट कर स्थूल देह का उपादान तैयार करना पड़ता है। जैसे जल में मछली तैरती है, उसी तरह योगी भी स्थूल देह से विशाल वायुमण्डल में उड़ते उड़ते अभीष्ट स्थान में तीव्रतापूर्वक पहुँच जाता है। आकाश में उड़ते हुए केवल निर्दिष्ट स्थान का एकाग्रभाव से स्मरण करना पड़ता है, तब स्वभाव के नियमानुसार देह ठीक उसी सीध में बढ़ती है; पथ या दिशा को जानने की आवश्यकता भी नहीं। उड़ते समय पृथ्वी की कोई याद मन में उठने पर, मध्याकर्षण के कारण तत्क्षण हठात् नीचे गिर जाने की सम्भावना रहती है। प्रथम अभ्यास काल में इस प्रकार का भय बहुत रहता है। ऐसे ही एक बार मैं घुसकुरा में एक बादाम के वृक्ष पर गिर पड़ा था। शरीर में थोड़ी चोट भी लगी थी। एक बार एक घर की छत पर भी गिर पड़ा था। वह एकदम प्रारम्भ की बात है। स्थूल देह से शून्यमार्ग द्वारा, पृथ्वी के किसी स्थान पर जाने के समय कुछ अधिक ही ऊपर होकर जाना चाहिए। कोई बाधा नहीं होगी। आकाश में उड़ने में कई बाधायें हैं। यद्यपि शरीर ऊँचे पर्वत शिखरों को लाँघ कर चला जाता है किन्तु सूक्ष्म वायुमण्डल में जो गम्भीर आवर्त (भँवर) हैं, उनमें फँसने का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं प्राकृतिक आकर्षण इतना अधिक है कि उसमें मार्ग भूलकर भटक जाने का भय रहता है। तीव्र भाव से आवेशपूर्वक, विशेष संयम के साथ इन सभी संकट स्थलों को पार करना पड़ता है। अनेक बार मेघ की सी घटा में अपने को छिपाकर उड़ना पड़ता

है—ऐसी दशा में योगी को कोई भी उड़ते हुए नहीं देख पाता। किन्तु स्वेच्छया योगी, लोगों को दिखाते हुए भी उड़ सकते हैं। यदि अँधेरी रात में योगी बहुत ऊँचाई से वेगपूर्वक उड़ रहा है, तो पृथ्वी से देखने पर लगेगा कि कोई उज्ज्वल नक्षत्र आकाश मण्डल को भेदते हुए चला जा रहा है।

जिज्ञासु—क्या आकाशगमन-काल में योगी को बाह्य ज्ञान रहता है?

योगिराज—वैसे तो प्रायः नहीं रहता किन्तु उपयुक्त उपाय करने पर रह भी सकता है। यद्यपि बाह्य ज्ञान रखने से तीव्र वेग से उड़ना सम्भव नहीं और अधःपतन का भय भी बना रहता है। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि देह सिद्ध करके उसे गम्य स्थान के उपयोगी उपादान से निर्माण करना पड़ता है। अभी इस पृथ्वी पर देह की जैसी संरचना देख रहे हो, उस समय वह ऐसी नहीं रहती। अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और कोई विशेष चिन्ता या भाव उदय होते ही उस देह के विक्षिप्त या भ्रष्ट होने का भय है। चित्त की पूर्ण एकाग्रता के बिना आकाशगमन सम्भव नहीं। चन्द्रलोक, सूर्यलोक और अन्यान्य लोक, जहाँ भी जाने की इच्छा हो, वहीं के उपादानों से देह का निर्माण करना पड़ता है। जिस देह से चन्द्रलोक में जाय उसी से सूर्यलोक में नहीं जा सकते। जाने की चेष्टा करने से उसका ध्वंस अनिवार्य है। स्वर्ग, नरक एवं लोकान्तर के शरीरों में सर्वथा पार्थक्य है। सर्वत्र ही परमाणु और उनकी संरचना विधि भिन्न भिन्न है।

और भी बात है। मध्याकर्षण से विपरीत शक्ति का विकास करके, उसके द्वारा मध्याकर्षण को दबाकर ही आकाशगमन हो सकता है, अन्यथा नहीं। मध्याकर्षण से ही जीव के नीच भाव उत्पन्न होते हैं। जहाँ तक मध्याकर्षण का प्रभाव है अर्थात् स्थूल वायुमण्डल तक, पार्थिव वासना और कामनादि की छाया जीव को घेरे रहती है। मृत्यु के पश्चात् भी जीव इन्हीं सब वासनाओं से चिपटा रहता है। इसलिए मध्याकर्षण द्वारा वह नीचे आकृष्ट हो वासनारूप योनियों में जन्म लेने पर बाध्य होता है। स्थूल वायु की सीमा पार करके निर्मलाकाश में उड़ने की सामर्थ्य न होने तक मृत्यु को जीतकर जन्मातीत शुद्ध दशा प्राप्त करने की आशा नहीं। स्थूल वायु चक्र से ऊपर अति मधुर, अति स्निग्ध, अति लघु अति सूक्ष्म सुशीतल आनन्दमय वायु की तरंगें क्रीडा कर रही हैं। योगी उन्हीं वायु तरंगों पर उठते जाते हैं। तब विभिन्न जागतिक पदार्थों की स्मृति नहीं रहती और स्मृति रखने की चेष्टा भी उचित नहीं। यद्यपि चेष्टा करने पर स्मृति रखी जा सकती है तथापि नाभिधौती में अभ्यस्त न होने तक स्वयं को सदैव चैतन्य (Alert) रखकर प्रबल शक्तियों के बीच उड़ना सम्भव नहीं।

जिज्ञासु—बाबा! बुद्धदेव, मूसा, क्राइस्ट, शंकराचार्य आदि सिद्ध महात्मागण सभी शून्य पथ में संचरण कर सकते थे, फिर इस खेचरी सिद्धि की क्या आवश्यकता? यह न होने से क्या योग पथ में उन्नति नहीं होती।

योगिराज—योग मार्ग में उन्नति करने पर शून्य गमन की क्षमता का विकास होता है। यह वायु और आकाश तत्त्व की सिद्धि है। एक-एक करके योगी को इन सभी तत्त्वों को स्वायत्त करना पड़ता है। उसके बाद ही आवरणरहित चिदाकाश में उसका रहना घूमना सम्भव हो सकता है। वत्स, योगी बनने के लिए कठिन साधना अनिवार्य है।

जिज्ञासु—षट् चक्र भेदकर सहस्रार में प्रवेश कर, सहस्रदल कमल की कर्णिका (मकरन्द) में स्थित सुधावर्षी चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योति में अवगाहन कर चिदानन्दस्वरूप की रसधारा को पान करना ही चक्रभेद परायण योगी का लक्ष्य है। आकाशगमन आदि सिद्धिलाभ न करके भी तो लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

योगिराज—वत्स, नाभि का सहस्रार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। नाभिक्रिया में परिपक्व न होने तक, सहस्रार की प्रबल तेजोराशि के मध्य जीव के मूर्च्छित हो जाने का भय रहता है। आकाशगमन की क्षमता, नाभि के सिद्ध हो जाने का लक्षण है। कुण्डलिनी को चेतन करने के लिए नाभि चक्र में जो ब्रह्मग्रन्थि पड़ी है, पहले उसे खोलना होगा और तब विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि खोलनी पड़ेगी।

जिज्ञासु—इच्छा शक्ति और अन्यान्य योगैश्वर्य के सम्बन्ध में एक-एक करके बहुत कुछ समझना शेष है। देव तत्त्व, नाड़ी चक्र का स्वरूप, सृष्टि रहस्य, विज्ञान—अनेक विषयों का अनुशीलन भी शेष है।

योगिराज—योग और सूर्य विज्ञान आदि विभिन्न विज्ञानों का अनुशीलन करने का यह समय नहीं है। ये सभी तत्त्व अत्यन्त गोपनीय हैं। तथापि अवसर रहने पर बाद में कुछ कहने की इच्छा है। वर्तमान प्रसंग में साधना तत्त्व का विमर्श करने के उपलक्ष्य में प्रासंगिक भाव से योग के सम्बन्ध में दो-एक बातें बताईं हैं, उतना ही अभी पर्याप्त है। जगदम्बा की इच्छा होने पर इन सब विषयों का सविस्तार विमर्श बाद में करूँगा। मैं कह चुका हूँ कि श्रवणमात्र से इन सम्पूर्ण गुह्य तत्त्वों के सम्बन्ध में समीचीन ज्ञान नहीं होता। अविराम परिश्रम करके इन्हें उपलब्ध करना पड़ता है। ग्रन्थादि में योग, ज्ञान, कर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में जितना कुछ लिखित मिलता है, वह अत्यन्त अल्प है। उससे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं। षट्चक्रों के चित्र और विवरण आजकल यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं। किन्तु जिन्होंने यह सब लिखा है, वे अनभिज्ञ व्यवसायी मात्र हैं। चक्रादि के स्वरूप और क्रीडा के विषय में उन्हें स्वल्प भी ज्ञान है—ऐसा नहीं लगता। किन्तु काल-प्रभाव वश इन भ्रान्त शिक्षाओं के कारण मनुष्य सरल और स्वाभाविक साधना-मार्ग को छोड़ असन्मार्ग पर चल पड़ा है।

प्रत्येक चक्र प्रत्यक्ष प्रदर्शित किया जा सकता है—उसके वर्ण, दल, बीज, शक्ति, क्रीडा—सभी प्रत्यक्ष दिखाये जा सकते हैं। जो चक्र भेद कर, मातृका मण्डली की अधिष्ठात्री के रूप में सहस्रार में रहती हैं, वे साक्षात् शिवस्वरूपिणी

हैं। शक्ति उनके अधीन है। महाशक्ति की कृपा बिना यह सम्भव नहीं कि जीव एक-एक करके चक्र के बाद चक्र को पार कर सके। तब तक अथाह चैतन्य समुद्र में निमग्न होकर परमानन्द का आस्वादन भी असम्भव है। जब तक देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि अवयवों को योगरूप मन्थन क्रिया द्वारा मथकर अभिन्न, अखण्ड, अभेद्य पिण्डरूप में परिणत न कर ले तब तक साधना के उच्च शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न वामन नर के द्वारा चन्द्रस्पर्श की चेष्टा की तरह निरर्थक है। योगी का स्थूल शरीर, लिङ्ग शरीर और कारण शरीर चिन्मय सिद्ध स्वरूप में बदल जाता है। इसलिए योगी की स्थूल देह साधारण लोगों की स्थूल देह से बहुत भिन्न और विलक्षण होती है। योगी की लिङ्ग देह और कारण देह में भी इसी प्रकार की विशिष्टता है। वस्तुत: जिसे तुम स्थूल, लिङ्ग और कारण देह कहते हो, योगी के लिए वे तीनों अभिन्न हैं इसीलिए योगदेह से, प्रयोजनानुसार, स्थूल अथवा लिङ्ग अथवा कारण—किसी भी अवस्था का कार्य हो सकता है। जैसे भगवान् **'कुर्वन्नपि न करोति'**—समस्त कार्य करते हुए भी निष्क्रिय रहते हैं, वैसे ही योगी भी स्थूल देहादि से सभी कार्य करते हुए इन सब देहों के बन्धन में नहीं पड़ते। इच्छा मात्र से योगी दीवाल आदि को भेदकर पार कर सकते हैं। सामान्य स्थूल देहों की तरह, उनकी देह के लिए दीवार कोई बाधा नहीं। स्थूल आवरण का परित्याग कर वे लिङ्ग देह से विश्वब्रह्माण्ड में निर्बाध कहीं भी भ्रमण कर सकते हैं। ध्यातव्य है कि योगी का लिङ्ग शरीर, वास्तविक लिङ्ग शरीर नहीं—वह तो एक आभास मात्र है। वास्तव में जो योगी हैं, वे सर्वव्यापक परमात्मा के साथ योगयुक्त रहते हैं। यही कारण है कि वे कहीं भी क्षण भर में प्रकट हो सकते हैं।

*

दशम अध्याय

आत्मसमर्पण—संन्यास

जिज्ञासु—बाबा, ज्ञान, विज्ञान और विभूति के विषय में विस्तृत वर्णन पीछे सुनूँगा। इस समय चाहता हूँ कि मेरे कुछ और प्रश्नों का समाधान हो जाय तो विराम लूँ। सुना है कि त्याग और संन्यास के बिना मुक्ति नहीं प्राप्त होती। यदि आत्मज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है तो संन्यास की क्या आवश्यकता? क्योंकि चित्त शुद्धि और गुरुकृपा से आत्मज्ञान हो ही जाता है। उसके लिए एकमात्र संन्यासी का ही अधिकार नहीं है।

योगिराज—वत्स, संन्यास किसे कहते हैं? सम्यक् त्याग का ही नाम संन्यास है। किसका त्याग? क्यों त्याग? त्याग का फल क्या है? ये विचारणीय प्रश्न हैं। देखो, जो वस्तु तुम्हारी है ही नहीं, उसका त्याग भला तुम क्या करोगे? तुम्हारा अपना है ही क्या?—यह तनिक विचारो। जो तुम्हारा अपना है, उस पर तुम्हारा स्वामित्व और अधिकार है। इस संसार की किसी भी वस्तु पर तुम्हारा वैसा अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि जो तुम्हारी देह है, जिसके साथ तुम जुड़े हुए हो, जिसे तुम भ्रान्तिवश अपना 'स्वरूप' समझते हो, वह भी तुम्हारी अपनी नहीं। तुम्हारी स्वाधीन इच्छानुसार वह नहीं चलती। वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलती है। तुम्हारी इच्छा अभी इतनी विशुद्ध और शक्ति सम्पन्न नहीं हुई है कि उसे प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अपने मनोनुकूल चला सके। तुम्हारी देह भी वस्तुतः तुम्हारी अपनी नहीं है। इच्छा मात्र से देह का ग्रहण और त्याग, तुम्हारे वश की बात नहीं है। स्वेच्छया तुम अपनी देह को छोटा, बड़ा, हल्का या अदृश्य नहीं कर सकते, देह को स्वाधीन कर मृत्यु पर जय नहीं पा सकते। अतः इस देह पर स्वामित्व का अहङ्कार करना भी तुम्हें शोभा नहीं देता। यही बात मन के सम्बन्ध में भी है। जगत् की अन्य सभी वस्तुओं के साथ तुम्हारा सम्बन्ध भी देह, मन और इन्द्रियों द्वारा ही है। यदि तुम देह के भी स्वामी नहीं हो, तो भला किस प्रकार अन्य जागतिक पदार्थों को अपना कह सकते हो? वस्तुतः तुम्हारा कुछ है ही नहीं तो फिर त्याग किसका करोगे?

जिज्ञासु—तब क्या सब कुछ अपना करना होगा? जगत् की वस्तुओं देह, मन, प्राण, इन्द्रिय सभी को जीतकर अपना बनाना पड़ेगा। क्या सब वस्तुओं पर स्वामित्व लाभ करना होगा? यदि ऐसा तो फिर त्याग क्यों करें? और यदि अन्ततः त्यागना ही है तो इनका अर्जन ही क्यों करें? क्या यह एक व्यर्थ श्रम नहीं?

योगिराज—नहीं, यह व्यर्थ श्रम नहीं है। त्याग के बिना भोग का अधिकार होता ही नहीं और भोग का अधिकार न होने तक त्याग का भी

अधिकार नहीं होता। जो अमृत के पिपासु हैं, उन्हें त्याग करना ही होगा— 'त्यागेनैकेमे देवा अमृतत्त्वमानशु:'। त्याग ही अमरत्व लाभ का एकमात्र पथ है। त्यागरूप योग के बिना अमृत या सुधा की प्राप्ति दुर्लभ है। त्यागात्मक सोपान पर आरूढ़ होकर ही दिव्यभूमि पर पहुँचा जाता है। उस दिव्यावस्था में त्याग और भोग का समन्वय हो जाता है।

त्याग करने के लिए ही अर्जन आवश्यक है। अर्जन करके सब अपना बनाना होगा—विश्व को आत्मस्वरूप में परिणत करना होगा। तब कुछ भी पराया नहीं होगा। पहले तो, तुम देखोगे सभी तुम्हारी स्वकीय विभूति है। यह सम्पूर्ण जगत् ही तुम्हारी अपनी शक्ति का विकास—आत्मविभूति। दूसरी स्थिति में समझोगे कि 'सभी तुम हो'—तुमने ही सब रूप धारण कर रखा है। अर्जन की चरमावस्था में सर्वत्र स्वयं को ही देखा और पाया जाता है। सभी निजरूप हैं—यह बोध जागृत होता है। 'स्वरूप' छोड़कर अन्य कुछ रहता ही नहीं।

इस अवस्था में पहुँचने पर अपने भीतर एक असीम अनन्त वस्तु का आभास होता है। पुन: सापेक्ष दृष्टि से यही अपने से पृथक् प्रतीत होता है। इसके बाद 'अहं ब्रह्मास्मि' (निज) को इसी असीम वस्तु में लीन कर देना पड़ता है। यही त्याग है, आत्म निवेदन है। इसका फल है परमानन्द लाभ या अमृतत्त्व प्राप्ति, जिसे दिव्यभाव कहते हैं। यही असीम वस्तु अन्तर्यामी रूप से अपनी आत्मा में प्रकट होती है। इस परमानन्द का आस्वादन या अमृतपान ही वस्तुत: महाशक्तिमयी जगदम्बा का स्तन-दुग्ध-पान या परमैश्वर्यलाभ है। माँ की गोद में शिशु की भाँति आत्मनिवेदनपूर्वक सब कुछ विसर्जन करना पड़ेगा। निवेदन करने से पूर्व नैवेद्य का संग्रह करना पड़ेगा। जिसे तुम योग-विभूति कहते हो, वास्तविक पक्ष में यही नैवेद्य संग्रह है। जिसमें ऐश्वर्य या विभूति का उदय नहीं हुआ (संगृहीत होने की तो बात ही छोड़ दो), वह बेचारा क्या त्याग करेगा? वह तो कंगाल, दीन हीन और मार्ग भिक्षुक-उसे त्याग का क्या अधिकार? सम्पूर्ण जगत् को अपना कर लो, अपना विस्तार करो, आत्मशक्ति का विकास करो, उस शक्ति द्वारा 'निज पर' के भाव को सर्वथा समाप्त कर दो, सर्वत्र आत्मभाव का प्रकाश करो, फिर असीम तत्त्वातीत अनन्त चैतन्यमय सत्ता सागर में उस आत्मभाव को स्थिर करो, तभी अमर हो पाओगे। बाबू, बबूल के पत्ते खाकर (कंगाल रह कर) क्या अमर हुआ जाता है?

जिज्ञासु—परमानन्द के आस्वादन को ही आपने श्रेष्ठ प्राप्य पुरुषार्थ कहा था?

योगिराज—उसमें सन्देह क्या? वही तो मुक्ति है। तापत्रय की ज्वाला से संतप्त जीव दु:ख पर दु:ख भोगता फिरता है, किसी तरह भी तृप्त नहीं होता। वास्तविक शान्ति और स्थिति उसे कहीं नहीं मिलती। उस अमृतरस का पान न करने

तक उसे तृप्ति नहीं। वही परमानन्द रस जब वह पीयेगा, तब जाकर कहीं उसकी सारी दौड़ धूप समाप्त होगी। सब अन्वेषण समाप्त होगा और चंचलता मिटेगी। माता की गोद का शिशु पुन: माता की गोद में चढ़ स्तनपान कर तृप्त होगा।

यह अमृतपान ही माँ का प्रसाद है। ठाकुर को भोग लगाने के बाद ही प्रसाद लिया जाता है। यज्ञ करने के बाद ही यज्ञावशिष्ट अमृत भोजन किया जाता है। यही वह प्रसाद है, अमृत है।

जिज्ञासु—संन्यास या त्याग बिना मुक्ति नहीं यह तो समीचीन ही प्रतीत होता है। यह भी सुना है कि ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' इन दोनों बातों में कौन ठीक है?

योगिराज—तुम्हें तो यह सब पहले ही बता चुका हूँ। क्या बिना ज्ञान के त्याग होता है? विधिवत् संन्यास ही वास्तविक संन्यास है। तब जो कहा है कि संन्यास के बिना ज्ञान नहीं होता—यह बात केवल विविदिषा संन्यास के लिए लागू होती है। यह वास्तविक संन्यास नहीं है। विविदिषा संन्यास में कर्मलेश रहता है। वह कर्म ही ज्ञान को जागृत कर विधिवत् संन्यास का उत्पादन करता है।

जिज्ञासु—कर्म या योग से भी ज्ञानोदय होता है। तत्पश्चात् संन्यास आता है। सोचो, यदि ज्ञानोदय होने पर भी ऐश्वर्य और विभूति का विकास नहीं हुआ, तो क्या होगा? तब त्याग किस वस्तु का होगा? ऐसी अवस्था भी तो सम्भव है।

योगिराज—वत्स, ज्ञानोदय होने पर ऐसा नहीं हो सकता कि ऐश्वर्य का उदय न हो। ईश्वर भाव ही तो ऐश्वर्य है। वह आत्म-स्वरूप से पृथक् नहीं है। ज्ञानोदय होने पर, आत्मा का आवरण छूट जाने से, आत्मा का स्वभाव स्वत: ही जाग उठता है। ज्ञानोदय पर ऐश्वर्य तो प्रकाशित होगा ही—फूल खिलते ही उसमें मकरन्द का विकास हो जाता है। यही है अर्जन। इसके बाद आता है ऐश्वर्य का विसर्जन और निवेदन—इसे ही कहते हैं त्याग। इसका फल है परमात्मभाव में प्रतिष्ठा। आत्मभाव न जागृत होने तक परमात्म भाव में प्रवेश नहीं होता। आत्मा के स्वभाव को जगाकर फिर उसे स्थिर करना पड़ता है उसका निरोध करना पड़ता है। इस निरोध की पूर्णता होने पर अमृतत्त्व लाभ होता है।

आत्मा के स्वभाव का जागना और कुण्डलिनी का जागना-एक ही बात है। इसलिए कुण्डलिनी को जगाकर फिर उसे अनन्त में करना पड़ता है—परम शिव के लिङ्ग में विलीन या उससे युक्त करना पड़ता है। यही है जीव के अमृत लाभ का उपाय। परमशिव और मुक्त कुण्डलिनी या पराशक्ति के मिलन से जो नित्य सुधा स्राव या आनन्द-स्फुरण होता है, जीव—मुक्त जीव, उसी का पान करता है, उसी का स्वाद लेता है।

*

एकादश अध्याय

नित्य लीला

जिज्ञासु—बाबा, इस संसार का सारा खेल इन्द्रजाल की तरह है। महापुरुषों और ऋषियों ने बार-बार यही कहा है। तथापि हम इसे क्यों नहीं समझ पाते? क्यों हम असत्य को असत्य कहकर और जानकर भी उसे सत्य मानकर, उसके साथ ऐसा व्यवहार भी करते हैं, जैसे वह सत्य ही हो। उस इन्द्रजाल का जादूगर कौन है? और कौन उस जादू को देखता है।

योगिराज—देखो वत्स, ईश्वर ही इस विराट् इन्द्रजाल का प्रदर्शक और बद्ध जीव ही द्रष्टा है। जीव के नेत्रों पर जब तक मिथ्यावरण पड़ा है, तब तक वह सत्य वस्तु का दर्शन नहीं कर सकता। मायावी ईश्वर-माया द्वारा बद्ध जीव को विमोहित करके सत्य स्वरूप का दर्शन नहीं होने देता और नाना प्रकार के विचित्र भावों का प्रदर्शन करता है। आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है। किन्तु जीव मोहवश होकर उसे नहीं देख पाता, अति समीप होकर भी उसकी उपलब्धि नहीं कर पाता। इसका कारण अविद्या के साथ उसका सम्बन्ध है। ईश्वर क्या है? यह तो जानते ही हो। विशुद्ध चैतन्य वस्तु के शुद्ध सत्त्वगुण से प्रकाशमान होने पर, जो उज्ज्वल तेज चमकता है, वह तेज ही ईश्वर है। ईश्वर शुद्ध और शक्तियुक्त है—इसे कहना ही क्या? ज्ञान-इच्छा आदि शक्तियाँ, इस ईश्वरीय शक्ति के बाह्य प्रकाश हैं। अव्याहत ज्ञान, अप्रतिहत इच्छा आदि ईश्वर की ही विशेषताएँ हैं। ईश्वर के स्वभाव की प्रेरणा से संकल्प का उदय होता है। इसके सत्य प्रतिष्ठा होने के कारण, विकल्प, इस संकल्प को रोक नहीं पाता और वह बाह्य जगत् में प्रकाशित होता है। इसी को सृष्टि कहते हैं। ईश्वर का संकल्प ही सृष्टि का मूल कारण है। यह जो 'बाह्यरूप में प्रकाशित होना' कहा-यह भी अज्ञानी की दृष्टि है। ज्ञानी की दृष्टि में तो परावस्था में सृष्टि है ही नहीं। एकमात्र आत्मसत्ता का निस्तरङ्ग भाव से प्रतिभान होता है। परावस्था में आत्मसत्ता की शक्ति आत्मा से संयुक्त रूप में प्रकट होती है। अज्ञानी की दृष्टि में आत्म सत्ता का पर और अपर अवस्था का कोई भी भाव प्रकट नहीं होता। चैतन्य का दर्शन नहीं होता। केवल जड़ प्रकृति और उसके विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुत: जड़ नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। चित्-शक्ति ही अज्ञान के कारण जड़ रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए सृष्टि और दृश्य पदार्थ, ईश्वर से अभिन्न होने पर भी, अज्ञानी जीव को पृथक् और जड़ दिखाई देते हैं। पृथक् भाव में देखना भी बाह्य दर्शन है।

ज्ञानोदय होने पर यह बाह्य दृष्टि नहीं रहती, अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। तब जड़ता और भेद-बोध का लोप आरम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम विशुद्ध सत्त्व के शुद्ध भाव का स्फुरण मात्र और ईश्वरीय संकल्प का आत्मा में प्रकाश दिखाई पड़ता है। यही है विश्वरूप दर्शन। यह विशुद्ध सत्त्व की तरंगित अवस्था है—इसमें आत्मदर्शन के साथ ही जगद्दर्शन भी होता है। वस्तुतः तब जगत् और आत्मा एक ही दिखाई पड़ते हैं—तथापि स्वल्प भेदाभास रहता ही है, अन्यथा जगत् का ज्ञान ही न रहता। किन्तु इस अवस्था में बाह्यभाव नहीं रहता और जड़त्व-बोध लुप्त हो जाता है, जिससे कि यह जगत् चेतन प्रतीत होता हैं—दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान। वस्तुतः विश्व है भी यही। भगवान् ने अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर यह विश्वरूप ही दिखाया था जो सविशेष आत्मा का ही दर्शन था। यह विश्वरूप, स्थूल दृश्य के समान, इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि यह इन्द्रियों से परे है। विशोधित मन या प्रज्ञा (ज्ञान) द्वारा इसका दर्शन सम्भव है। इसके बाद क्रमशः चित्तरूपी दर्पण विशुद्ध होने लगता है और चित्तशुद्धि के पश्चात् विश्वनगर का चित्र जो दर्पण में प्रतिम्बित हो रहा है, मिट जाता है। विकल्प तो पहले भी न था शुद्ध संकल्प तब स्तिमित (शान्त) भाव धारण करता है और तब आत्मा अन्तर्लीन शक्तिभाव में प्रकाशमान होता है। यही निर्विशेष आत्मदर्शन है। इस स्थिति में चित्त आत्मा की तरह शुद्ध होकर अदृश्य या अव्यक्त हो जाता है उसमें स्फुरण नहीं रह जाता।

स्थूलता से मुक्ति मिलते ही यदि संस्कार न जाग जायँ तो विश्वरूप दर्शन अवश्यम्भावी है। यदि संस्कार जाग पड़े, तो जड़ भाव रहने के कारण जगत् का मिथ्या और विकल्पमय दर्शन होता है।

जिज्ञासु—इस विश्वरूप इन्द्रजाल दृश्य का द्रष्टा कौन है? कौन इससे मोहित होता है और क्यों? इस इन्द्रजाल से बचने का उपाय क्या है?

योगिराज—देखो वत्स, मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि इसका द्रष्टा बद्ध जीव है। विशुद्ध चैतन्य जब मलिन सत्त्वगुण, रजोगुण के सम्बन्ध से खण्डित और आवृत भाव में प्रकट होता है तब उसे बद्ध जीव कहते हैं। रजोगुण और तमोगुण के सम्बन्ध से ही बन्धन होता है। जीव की स्वरूपोपाधि है विशुद्ध सत्त्वांश। इसी लिए जीव को ईश्वर का अंश कहा गया है। जीव, जीव-भाव में स्वरूपोपाधि लेकर रहने से ही मुक्ति पा लेता है।

जीव नित्य वस्तु है और ईश्वर भी। अंश भी नित्य और अंशी भी नित्य। 'अंश' का अर्थ 'खण्ड' या 'भाग' नहीं अपितु 'आभास' समझो। इस तरह जीव मात्र ही ईश्वर का आभास है। जीव जब आत्मज्ञान लाभ करके अपने 'स्वरूप' से परिचित होता है, तब उसके अन्दर ऐश्वर्य का प्रकाश होता है—वह ईशत्व और शिव भाव का लाभ करता है। इसके बाद की भी एक अवस्था है। क्योंकि

ऐश्वर्य लाभ करने मात्र से ही स्वभाव सिद्धि नहीं होती। ऐश्वर्य जानने पर उसका निरोध करने पर ही अमरत्व की प्राप्ति होती है—जो सबका लक्ष्य है।

मुक्त जीव और ईश्वर में भेद न होने पर भी भेदाभेद सम्बन्ध है। मुक्ति के समय भेद और अभेद दोनों ही प्रकट होते हैं। किन्तु बद्ध जीव है मलिन दैन्य भाव में आबद्ध। वैसे तो ईश्वर और जीवात्मा अभिन्न हैं। ईश्वर के संकल्प से, जिस शुद्ध सात्त्विक सृष्टि का स्फुरण होता है, उसे मुक्त जीव, आत्मा से पृथक नहीं देखता। परन्तु उसी सृष्टि को बद्धजीव ईश्वर के संकल्पात्म भाव से स्फुरित नहीं देखता। उसे तो वह प्रतिभाममय न ज्ञात होकर व्यावहारिक सत्ताविशिष्ट सी ही ज्ञात होती है। बद्ध जीव, उस शुद्ध संकल्पमय सृष्टि को स्वत: भिन्न, अचेतन और सभी जीवों को भी मूलत: परस्पर भिन्न समझता है। इसका कारण है अज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान न होने से वह नहीं समझ पाता कि यह सम्पूर्ण सृष्टि (उसके अनेक प्रकार के जड़ और चेतन तत्त्व) उस एक आत्मशक्ति से ही उद्‌भूत भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसलिए वह सचमुच ऐसा समझता है कि उस आत्मसत्ता से अतिरिक्त उसकी एक पृथक् सत्ता है। इस समय वह सृष्टि-दृष्टिवादी है।

आत्मज्ञान का प्रथम विकास होते ही दृष्टि समकालिक सृष्टि होती है; सिद्ध संकल्प अवस्था का उदय होता है—तब वह दृष्टि सृष्टिवादी हो जाता है। तत्पश्चाद्वर्ती अवस्था में सृष्टि ही नहीं रहती। यह है विशुद्ध आत्मज्ञान की अवस्था।

बद्ध जीव संकल्प को—आभ्यन्तर भाव को, बाह्य रूप से, जड़ रूप से पदार्थरूप से अनुभव करता है। इसीलिए वह जगत् को सत्य समझता है। जिसके स्फुरण से जगत् का विकास है, उसे वह जानता ही नहीं। जब तक संकल्प के साथ विकल्प मिश्रित है, तब तक ऐसा ही होगा। विकल्प उठता है चंचलता के कारण, वायु के प्रभाव से, रजोगुण की प्रबलता से। किन्तु मूल में तमोगुण न रहने से, आत्म-विस्मृति रूप आवरण न रहने से विकल्प का उदय नहीं होता। आत्मज्ञान के उदय होते ही तमस् की निवृत्ति होती है—रजोगुण स्थित होकर सत्त्वगुण में विलीन हो जाता है और विशुद्ध सत्त्व प्रकट होता है। तब जीव और अधिक इन्द्रजाल के धोखे में नहीं आता।

जिज्ञासु—यह सुनकर मेरी समझ में आया कि बद्धजीव ही इन्द्रजाल का द्रष्टा है। किन्तु वह अज्ञान के वशीभूत होने से इन्द्रजाल को मिथ्या नहीं समझ पाता। वह उसे सत्य मानकर उसके पीछे भागता है। उसके मोहित होने का कारण यह है कि उसकी दृष्टि अविद्या से आच्छन्न है। अतएव अविद्या के निवारक ज्ञान के अतिरिक्त इस इन्द्रजाल को नष्ट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान न होने तक जगत् सत्य ही प्रतीत होगा।

योगिराज—तुमने ठीक ही कहा। ज्ञानी के अतिरिक्त भला प्रकृति के चातुर्य को पकड़ने वाला है कौन? प्रकृति, ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य किसी के भी समक्ष अपने रहस्य को नहीं प्रकट करती है। जो ज्ञानी है, वह कभी भी प्रकृति द्वारा मोहित नहीं होता। क्योंकि वह सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव करता है—आत्मभाव का बोध करता है। निरन्तर दीप प्रज्ज्वलित रखने से जिस प्रकार अन्धकार समीप नहीं आता उसी प्रकार निरन्तर आत्मज्ञान का दीपक जलते रहने से अनात्मभाव का उदय नहीं होता। जगत् में पदार्थ जड़ दिखाई देते हैं, इसका कारण अनात्मभाव ही है। यदि आत्मज्ञान दबा न होता, तो अनात्मभाव जागता ही न। इसलिए स्थितप्रज्ञ योगी सर्वत्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य देखते ही नहीं। आत्मशक्ति के उन्मेषकाल में, जिसका भान होता है, वह जगत् भी चैतन्यात्मक ब्रह्ममय है। इस प्रकार ज्ञानवान् योगी के लिए प्रकृति की कोई भी चाल नहीं छिपी रहती। ज्ञानी जानते हैं कि प्रकृति एक ही वस्तु को वासनायुक्त अज्ञानी के नेत्रों में विविध प्रकार के विचित्र रंगों की छवियों में प्रस्तुत करती है। अज्ञानी इस एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न रूपों को विभिन्न वस्तुएँ समझकर उनके प्रति आकृष्ट होता है और उन्हें प्राप्त कर तृप्त होने की चेष्टा करता है।

इसके विपरीत अन्तर्द्रष्टा ज्ञानी देख पाते हैं कि जो कुछ भी ज्ञातव्य है, द्रष्टव्य है—सब उसकी अपनी आत्मा ही है, जो नित्य सिद्ध और नित्य प्राप्त वस्तु है। इसलिए ज्ञानी है निर्विकार, आप्तकाम, अचंचल और धीर। उन्हें न वासना है, न कामना है, न स्पृहा है और न ही विचलन। प्रकृति या ईश्वर ही इन्द्रजाल दिखाते हैं। जो अविद्याग्रस्त हैं, वे यह देखकर बाह्य बोध से मोहित हो जाते हैं। ज्ञान के अंजन को आँख में लगाकर अज्ञान के अँधेरे को दूर करो, तब देखोगे कि कहीं भी इन्द्रजाल नहीं है—सर्वत्र ईश्वर शक्ति की लीला चल रही है। इन्द्रजाल एक वञ्चना मात्र है-मिथ्या को सत्यरूप में दिखाना। वस्तुतः यह ईश्वर का कार्य नहीं है; क्योंकि वह सत्य वस्तु है, उसमें धोखा नहीं।

बद्धजीव के अन्तर में वञ्चना का बीज रहता है, इसी से वह ठगा जाता है। भ्रान्तिवश अन्धकार में रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है, वैसे ही अज्ञान के प्रभाव से जीव, आत्मशक्ति के विकास को जड़, द्वैत और अनात्मभूत समझ लेता है। इसलिये अज्ञानी को बताना पड़ेगा कि तुम जो देखते हो वह असत्य है, जगत् मिथ्या है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। इसलिए कहा कि ईश्वर इन्द्रजाल का प्रदर्शक है। किन्तु जो ज्ञानी हैं, जिन्हें ब्रह्मदर्शन हो गया है, उनके लिये कहीं भी इन्द्रजाल नहीं—माया भी नहीं, वे जगत् को सत्य देखते हैं। अज्ञानावस्था में जिसे जगत् समझ बैठा था, आत्मशक्ति की ही लीला थी। जगत् ब्रह्ममय, चित् शक्ति और ज्ञानी की आत्मशक्ति है—जड़ शक्ति नहीं। इसलिये ज्ञानी समस्त जगत् को परमात्मा का लीलारूप ही देखते हैं—मिथ्या नहीं देखते।

ज्ञानी कभी भ्रांत नहीं होते, वे सत्य का दर्शन भी सद्भाव से ही करते हैं। वास्तविक ज्ञानी कभी भी जगत् को मिथ्या नहीं देखते।

वस्तुत: संसार में चलने वाली नित्यलीला एक ही है, उसी को बद्ध-अज्ञानी जीव बाह्य-भाव से जड़ रूप में देखता है। यही है भ्रांति-दर्शन। मुक्त जीव ज्ञानी उसी को अन्तर्भाव से चित्-शक्ति के विलास रूप में देखता है।

एक अनादि महाशक्ति, ईश्वर और जीव भाव से, अपने साथ स्वयं ही अद्वैत और द्वैत की मधुर लीला करती है। जो योगी, ज्ञानी और भक्त हैं, वे इस लीला का दर्शन और आस्वादन कर पाते हैं। बद्धजीव, मायाच्छन्न होने से महामाया की लीला का आनन्द नहीं ले पाता। क्योंकि वह जड़ता के आवरण में बँधा रहता है।

सृष्टि और संहार, लीला-अभिनय के ये दो पक्ष हैं। तुम ज्ञानचक्षु खोलकर दोनों के मध्य से प्रवेश करो—देखोगे, सब उसी की आत्मलीला है। फिर बिन्दु में प्रवेश करने पर देखोगे कि व्यक्त लीला समाप्त हो गई केवल एक स्व-प्रकाश चिरस्थायी वस्तु ही स्वयं भासमान है। ये सब विषय कहकर नहीं समझाये जा सकते। साधना से जो यह सब स्वयम् उपलब्ध करेगा, वही इन भेदों को समझ सकेगा।

जिज्ञासु—पूज्यपाद भृगुरामस्वामी ने आपसे कहा था—''जो यह क्रीड़ा-कौतुक दिखा रहे हैं, वे जानते नहीं; जो जानते हैं वही जानते हैं।'' क्या इसका यह आशय नहीं कि जो विश्वलीला के सूत्रधार हैं, वे स्वयम् उसे नहीं जानते। ज्ञान बिना जिस लीला का दर्शन नहीं होता, उस लीला का अभिनय क्या अज्ञान से हो सकता है? इस प्रसंग में एक बात पूछना चाहता हूँ।

योगिराज—हाँ, दादा गुरुदेव ने ठीक ही कहा है। मैं बता चुका हूँ कि स्वभाव ही जीव-ईश्वर भाव से इस लीला का अभिनय कर रहा है। यह विश्वलीला इच्छा शक्ति से प्रेरित नहीं है अपितु स्वभाव से स्वयम् इच्छा-शक्ति भी इस लीला और सृष्टि के अन्तर्गत है। जिस अवस्था में इच्छा शक्ति या ज्ञानशक्ति का स्फुरण होता है, उससे पूर्व अवस्था से ही लीला प्रारम्भ हो जाती है। ज्ञान और इच्छा, स्वभाव से स्फुरित होते हैं। इसलिये स्वभाव ज्ञान से अतीत है। (ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता)। इसी से पूज्यपाद भृगुरामस्वामी ने कहा था—''जो यह क्रीडा-कौतुक दिखा रहे हैं, वे जानते नहीं।'' वस्तुतः हम लोग जिसे ज्ञान या अज्ञान कहते हैं, वह वहाँ है नहीं। लीला की स्फूर्ति, स्वभाव से होती अवश्य है, परन्तु इस लीला का दर्शक है कौन? इस लीला को वे ही देखते हैं, जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है। वे साक्षी भाव से देखते हैं अर्थात् योगी, ज्ञानी और भक्त-ये ही विश्वलीला के दर्शक और उपभोक्ता हैं। ईश्वर और ईश्वर-

साम्य-प्राप्त जीव (मुक्त जीव) ही इस लीला के दर्शक हैं। जीव की बद्धावस्था में, अज्ञानावरण के कारण लीला का दर्शन नहीं होता।

स्वभाव ही यह खेल खेलता है और जीवेश्वर भाव से वही इसे देखते हैं। स्वभाव-सुधा समुद्र—वह, वही है। उसकी बात वही जाने। जो इसका पान करता है, वही इसका माधुर्य जानता है। अपने माधुर्य को स्वयं ही पाने के लिए, अपने को जीव और ईश्वर-भागों में बाँटना होगा। वे एक होकर भी नित्य, जीव और ईश्वर रूप में खेल खेलते हैं। जड़-जगत् तो इस खेल का उपकरण मात्र है।

आओ, आज हम इस स्वभावरूपिणी जगदम्बा को प्रणाम कर, कुछ क्षणों के लिए विश्राम करें। समयान्तर से पुनः इस प्रसङ्ग पर बातें करेंगे।

*

उपसंहार

हम लोगों ने यह संक्षिप्त तत्त्वकथा संक्षिप्त भाव से समाप्त की। इन सब विषयों का आलोचन चाहे कितने विस्तार से क्यों न किया जाय, सारी बातों का अन्तर्भाव करना कठिन है। मानव हृदय में अनन्त जिज्ञासायें हैं और जिज्ञासा के विषय भी असंख्य हैं। मानव की जीवनावधि स्वल्प होने के कारण सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का समाधान एक जीवन में नहीं हो सकता। कभी-कभी एक ही प्रश्न का समाधान करते-करते मनुष्य के अनेक जन्म व्यतीत हो जाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार विषयालोचन से वास्तविक ज्ञान का विकास नहीं हो पाता-यह तथ्य शास्त्रों और महापुरुषों के उपदेशों से स्पष्ट है।

किन्तु मानवमात्र में उत्सुकता की प्रबलता के कारण विषयों को जानने की उत्कट इच्छा रहती है। इसी उत्सुकता के निवारण के लिये अनेकशः शंका-समाधान के ग्रंथ निर्मित हो जाते हैं। साधना-जीवन के आरम्भ से उसकी परिसमाप्ति अर्थात् सिद्धि-लाभ तक अध्यात्मपथ का एक क्रमिक चित्र आग्रहशील अध्येता की दृष्टि के समक्ष उपस्थित करना ही वर्तमान तत्त्व-कथा-प्रसङ्ग का मुख्य प्रयोजन है। हमने संक्षिप्त भाव से ही इस प्रयोजन की पूर्णता का प्रयत्न किया। जो वास्तविक जिज्ञासु हैं, उनके अन्तर की गहराई को ध्यान में रखकर, बहिर्वृत्ति का निरोध करते हुए, व्याकुलभाव से प्रश्न करने पर, जगद्गुरु उनके सरल हृदय के सब प्रकार के संशयों को निवृत्त कर देंगे। इसलिए हम सभी श्रद्धापूर्ण हृदय से, शिष्यभावापन्न होकर, उस ईश्वर-गुरु के चरणों की शरण ग्रहण करें—यही उनसे हमारी आन्तरिक प्रार्थना है—''शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।''

यही हमारा मूलमन्त्र हो। हमारे प्रपन्न होने पर, वे जैसा भी उचित समझेंगे, स्वयमेव करेंगे। इस विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना, कुछ भी नहीं करना है॥ इति शम्॥

*

म.म.पं. गोपीनाथ कविराज
की
अध्यात्मपरक कृतियाँ

मनीषी की लोकयात्रा : डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह
(महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का जीवन दर्शन)

भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में) * तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि * सनातन साधना की गुप्तधारा
ज्ञानगंज * दीक्षा
साधु दर्शन और सत्प्रसंग (भाग-१,२) * साधु दर्शन और सत्प्रसंग (भाग-३)
श्रीसाधना * योग-तन्त्र-साधना
परातन्त्र साधना पथ * कविराज प्रतिभा
स्वसंवेदन * काशी की सारस्वत साधना
भारतीय साधना की धारा * विशुद्धानन्द प्रसंग तत्व कथा
श्रीकृष्ण प्रसंग * अखण्ड महायोग
अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान

कविराजजी के गुरु तथा अन्य योगी-संत

योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन
पुराण पुरुष योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी
योगिराज तैलंग स्वामी

मूल्य : एक सौ तीस रुपये

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी